

चन्द

हसीनोंके ख़ुतूत

एक

उग्र कहानी

प्रकाशक

सुलभ ग्रन्थप्रचारक मण्डल

३६, शंकरघोष लेन, कलकत्ता

[…मबार] [मूल्य बारहआने

लेखक—
पाण्डेय बेचन
शर्मा, 'उग्र'

प्रकाशक—
सुलभ ग्रन्थ
प्रचारक मंडल

बड़ा बाज़ार में—
(मिलनेका पता)
कलकत्ता पुस्तक-भण्डार
१७१ ए, हरिसन रोड
कलकत्ता

मुद्रक—
नवजादिक
लाल श्रीवास्तव

प्रेस—
बालकृष्ण प्रेस
३६, शंकरघोष लेन

चन्द हसीनोंके खुतूत

(उग्र कहानी)

C. M. V. Sharma
Nalgonda

{१}

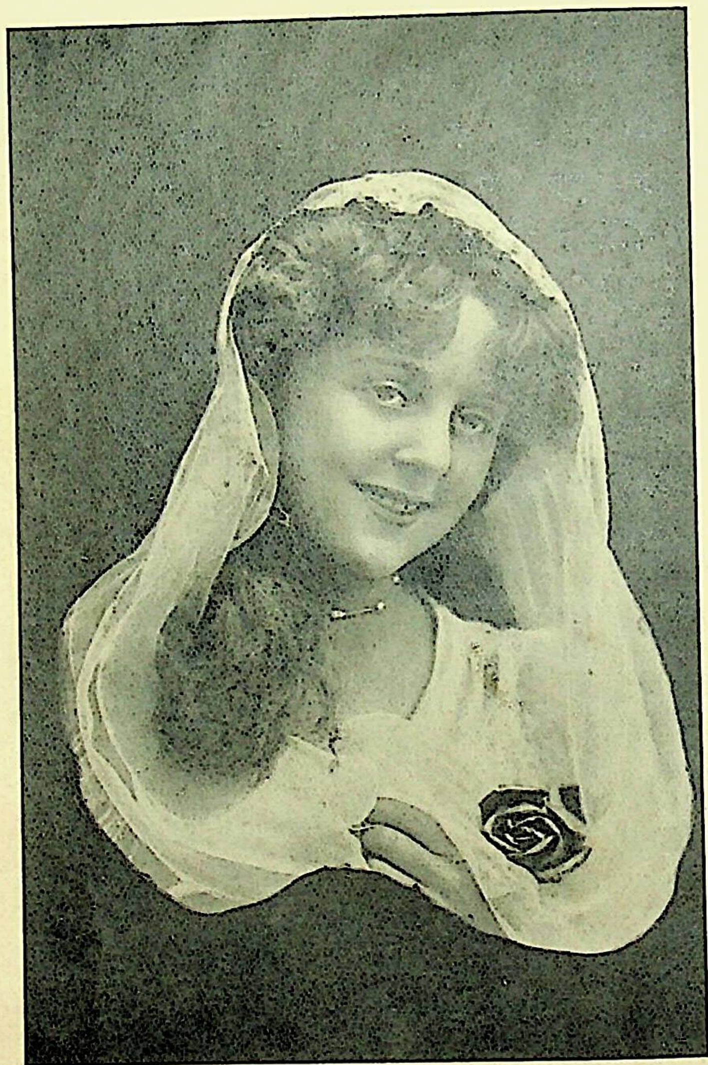
(पता—)

मिसेज़ अली हुसेन

माफ़त—ख़ानबहादुर मुहम्मद हुसेन,

हज़रतगंज, लखनऊ ।

चन्द हसीनों के ख़ुतूत



मिस नर्गिस

गर्ल्स-कालेज होस्टल,
कलकत्ता।

मेरी प्यारी बीबी; २८—११—२५

हज़ार बार प्यार।

मैं जानती हूँ तुम 'बीबी' कहनेसे चिढ़ती हो। मुझसे 'भाभी' कहलाना चाहती हो। कितनी बार, जबसे मेरे ग़रीब भाईके गले पड़ी हो (माफ़ करना!), तुमने मेरे मुँहको दोनों हाथोंमें लेकर, 'बीबी' कहनेके लिये, मेरे गालों पर तमाचे मारे हैं। इसीसे तो मैंने अपनी आदत नहीं छोड़ी। बीबीके तमाचे बड़े मीठे होते हैं। मेरी बातोंका एतबार न हो तो, भैयासे (अपने 'उनसे') पूछ देखो। एक बात और, अगर ख़तमें 'बीबी' लिखनेके कारण तुम्हारे हाथ मेरे गालोंसे मिलनेके लिये बेहद बे-क़रार हों, तो

उन्हें अपने 'उन्हीं' के गालोंसे मिला देना। गुस्सेको पी मत जाना। नुक़सान करता है (हा हा हा हा !)

तुम मनमें मुझे कोसती होगी कि, दो महीने तक मैंने तुम्हें एक भी ख़त—क़सम खानेको भी—नहीं लिखा। इसका एक बहुत बड़ा—तुम्हारे चोटीसे एड़ीतक लटकते हुये बालोंसे भी बड़ा—सबब है। सुनोगी ? तुम्हारे सुनने न सुननेकी पर्वा कौन करता है ? मैं तुम्हें अपना 'राज़े-दिल' ज़रूर सुनाऊंगी। तुमने भी 'अपने दिलकी' सुनानेके वक्त मेरे सुनने न सुननेकी पर्वा नहीं की थी। याद है ?

बीबी, दिलकी बातें तुम्हारे रू-ब-रू कहनी होतीं तो, जी से चाहनेपर भी, मारे हयाके मैं कुछ न कह पाती। ख़त लिख रही हूं, इससे हिम्मत बढ़ी हुई है। ज़्यादा तूल न देकर मैं साफ़ साफ़ क़बूल किये लेती हूँ कि "आजकल बे-क़रार हम भी हैं।" मेरी बे-क़रारी उसी मुहब्बतकी बेक़रारी है जिसका चर्चा तुम्हारे मुँहसे सुनकर मैं मन ही मन सोचने

लग जाती थी कि—"क्या कोई ज़माना हमारी ज़िन्दगीमें ऐसा भी आता है जिसमें हम किसी अपने ऐसे 'इन्सान' के लिये बे-क़रार हो उठते हैं?" उस वक्त मुझे तुम्हारी बातें पहेलीसी (मगर दिल-चस्प) मालूम होती थीं। आज मैं उसी दिलचस्प पहेली—मुहब्बत—के फेरमें पड़ी सी मालूम पड़ती हूँ। आज मेरे दिलमें—"एक आग सी लगी है, क्या जानिये कि क्या है?"

पिछले अक्तूबर माहकी बात है। उस दिन हमारे होस्टलकी देखरेख करनेवाली (सुपेंटेण्डेण्ट) मिसेज़ किडने, होस्टलकी लड़कियोंसे कहा कि—"आज कलकत्ता कालेजके तालिबइल्मों और फ़ोर्ट विलियमके गोरोंसे फुटबाल "मैच" होगा। तुममेंसे जो देखना चाहे वह ठीक तीन बजे तयार रहे।" उस दिन १२—१५ दूसरी लड़कियोंके साथ मैं भी "मैच" देखनेके लिये गयी। मैदानमें हज़ारों तमाश-बीन इकट्ठे थे। गोरे भी, गोरियाँ भी, काले भी (और, अगर तुम बुरा न मानों तो हमारी जैसी

"कालियाँ" भी)। ठीक वक़पर खेल शुरू होनेकी सीटी "रेफ़री" या खेलमें फैसला देनेवाले पञ्चने दी। दोनों ओरके खेलाड़ी मैदानमें उतरे। एक ओर मोटे-मोटे बूट और खेलके पोशाक पहने चट्टे, गोरे, सुफ़ेद या कोढ़के रङ्गके 'सोलजर्स' और दूसरी ओर साँवले, मटमैले, बादामी, और कोई-कोई नीम-गोरे कलकत्ता कालेजके 'स्टूडेण्ड' थे। कालेजके खेलाड़ी नंगे-पाँव थे। ख़ैर।

खेल शुरू हुआ। दोनों ओरके खिलाड़ी जी-जानसे अपने ख़िलाफ़ खेलनेवालोंको हरानेकी धुनमें लग गये। तमाशाई कभी एक गेंद लेकर बढ़ते हुए, खेलाड़ीको बढ़ावा देने लगे कभी दूसरेको। मगर— उफ़! क़सम खुदाकी, फौजी गोरे ग़ज़बकी फुर्तीसे खेल रहे थे। देखते देखते उन्होंने कालेजवालोंपर तीन गोल किये! आधा वक़ (हाफ़ टाइम) ख़त्म हो गया। चारों ओर लोग चर्चा करने लगे—

"वाह, वाह! अख़िर अंग्रेज ही ठहरे। क्या आफ़तकी तरह खेलते हैं।"

दो आदमी हमारी कुर्सियोंके सामनेसे इस तरह बातें करते निकल गये—

"क्या कालेज वाले हार जायंगे?"

"अभीसे ही घबराने लगे?" दूसरेने कहा—अभी आधा वक्त बाकी है। कालेजकी "टीम" में कुछ लड़के ऐसे भी हैं जो 'हाफ़ टाइम' के बाद जी लगाकर खेलते हैं। ख़ासकर मुरारीकृष्ण तो पिछले काँटे ग़ज़बका खेलता है।"

उसी वक्त कालेजका एक खेलाड़ी उन दोनोंको हमसे थोड़ी दूरपर रोककर बातें करने लगा।

"ये लड़कियाँ गर्ल्स् कालेजकी हैं?"

उनमें से एकने उत्तर दिया—"मालूम तो ऐसा ही होता है। क्यों? किसी पर 'आही गया, दिलही तो है' का मज़मून हो रहा है, क्या भाई याकूब?"

मैं मिसेज़ किडके बग़लमें बैठी थी, मेरी ओर बुरी तरहसे इशारा कर उस 'याकूब' के बच्चेने कहा—

"ज़रा उस 'बुत' को देखो!"

तीनोंने दूरसे—तिरछी नज़रोंसे—मेरी ओर

देखा। मैंने अपनी आँखें फेर लीं। वे सब भी, और भी क्या जाने क्या-क्या बकते, आगे बढ़ गये। खेल फिरसे शुरू हुआ। इसबार खेल शुरू होनेसे पहले कालेज-टीमके केप्टनने पुकारा—

"मिस्टर मुरारी कृष्ण… ।"

'फारवर्ड' खेलने वाले एक गोरे, सुन्दर और लम्बे नवयुवकने केप्टनकी ओर देखकर कहा—

"वेग योर पार्डन…"

"बी केयर फ़ुल," केप्टनने उक्त नवयुवकको बढ़ावा देते हुए कहा—"ट्राइ योर अटमोस्ट, डोण्ट लूज़।"

इसबार तमाशबीनोंका मजमा दीवानोंकी तरह चिल्ला-चिल्लाकर मुरारीकृष्णको बढ़ावा देने लगा। खेल शुरू होनेके पाँच मिनटके भीतर मुरारीने गोरों-पर एक गोल किया। चारों ओरसे तालियोंकी भर-मार हो गयी। इसके बाद बीस मिनटोंके भीतर, दूसरे खेलाड़ियोंकी मामूली मददसे, मुरारीने पाँच गोल किये। फिर, हज़ार नाक रगड़ कर भी गोरे

कालिजवालोंको न हरा सके। मैच 'ओवर' (ख़त्म) हो गया।

चारों ओर से लोग मुरारी पर टूट पड़े। अंग्रेज़ "रेफ़री" ने—जो फ़ौजी और खेलका बड़ा शौकीन मालूम पड़ता था—मुरारीको गोदमें उठा लिया—"वेल डन, माई यंग प्लेयर!" अख़बारके भूतोंने दनादन मुरारीकी तस्वीरें लेनी शुरू कर दीं। कुर्सीसे उठती हुई मिसेज़ किडने हमसे कहा—"न हुआ, कलकत्ता लण्डन न हुआ। नहीं तो, आज मुरारीकी इज़्ज़त देखने लायक होती।"

उस दिन मैंने देखा कि, अपने प्रशंसकोंके बीचमें सीधा, ख़ूबसूरत और ख़ुश खड़ा हुआ मुरारी, एक बार नहीं हज़ार बार देखनेकी चीज़ है। कितना भोला चेहरा, कैसा हँसमुख जवान, कैसा सुन्दर!

मिसेज़ किड (हमारी सुप्रेण्टेण्डेण्ट या वार्डेन) ने कहा—चलो देर हो रही है। उनके पीछे हम सबकी-सब अपनी मोटरकी ओर चल पड़ीं। मैं सबके पीछे चल रही थी। थोड़ी दूर चलनेपर,

खड़कके किनारे 'लान' पर खड़ा वही 'याकूब' दिखाई पड़ा। मुझे देखकर वह (मुझे सुनानेके लिये) गाने लगा—

"हमने देखी है किसी शोख़ की मस्ती भरी आंख,
मिलती जुलती है छलकते हुए पैमाने से।"

शेर बुरा नहीं था। मगर कहने वालेका मुँह और उसके मुँह पर के भाव इतने बुरे थे कि अगर मेरा बस चलता तो मैं......।

मोटर अभी थोड़ी दूर पर थी। इतनेमें मेरी नज़र अपने जूतेके फ़ीते पर गयी, जो खुल गया था। मैं रुक कर उसे बाँधनेके फेरमें, अपने गरोहके पीछे छूट गयी। इससे कुछ फ़ायदा ही हुआ। फ़ीता बाँधकर चलनेके पूर्व मैंने पीछे मुड़कर देखा, कालेज़के बंगाली प्रिन्सपलके साथसाथ (शायद उन्हें मोटर तक पहुं-चानेके लिये) कई लड़के आ रहे थे जिनमें मुरारी भी था। याकूब भी उसी गरोहमें शामिल होकर मेरी ओर बढ़ा आरहा था।

इसमें कोई शक नहीं, याकूबको देखकर मैं

नफ़रतसे दो क़दम आगे बढ़गयी। मगर, इसमें भी कोई शक नहीं कि, मुरारीको यादकर मेरी चाल—आपही आप—धीमी पड़ गयी। मैं फ़िज़ूल ही, अपने दूसरे पैरके जूतेका फ़ीता, खोलकर बाँधने लगी। सबके सब मेरे पास आ गये। बल्कि प्रिन्स-पल साहब तो चार-पाँच क़दम आगे भी बढ़ गये।

मुझे फ़ीता ठीक कर सर उठाते देख, याक़ूबने मुस्करा कर दरियाफ़्त किया—

"कुछ खो गया है ?"

किसी दूसरे लड़केने—ख़ुदा उससे समझे !—किसी तीसरे लड़केसे धीरेसे (मगर मेरे सुन लेनेके लिये काफ़ी ज़ोरसे) कहा—

"दिल खो गया है !"

मैंने सुनी-अनसुनी कर 'एटिकेट' के ख़यालसे याक़ूबसे कहा—"नथिंग, थैंक्यू," और फिर मुरारी की ओर देखकर (मनमें कुछ झेंपते-झपते) कहा—

"कांग्रेचुलेशन्स, आप क़ाबिल तारीफ़ खेलाड़ी हैं।" मेरी बधाई और बातें सुनकर सब लड़के

ताज्जुबमें आ गये। इसके बाद किसीने कुछ कहा भी या नहीं, मुझे याद नहीं। मैं बड़ी तेज़ीसे अपनी मोटरकी ओर बढ़ी। रास्तेमें मन पछताने लगा। बेशर्म कहीं की। औरत होकर इतनी बे-हयाई? मर्दों से इस तरह बातें करना! इतनी हिम्मत!!

मगर मैं क्या करूँ बीबी! अब समझमें आ रहा है कि, इन्सानकी एक हालत ऐसी भी होती है जिसमें वह अपने आपेमें नहीं रह सकता। और; वह हालत, मैं समझती हूं, मुहब्बत है। अब मेरी वह शोख़ी काफ़ूर हो गयी जो, तुम्हारे आगे इतरा कर कहती थी कि—"अरे हटो! यह सब ख़याली पुलाव है। दुनियामें मुहब्बत नामकी कोई चीज़ नहीं।" उस वक्त तुम मेरा मुहँ चूम कर और एक ठंढी साँस खींचकर कहा करती थीं—मुझे एक एक हर्फ़ याद है—"मुहब्बत क्या है इसका पता अभी नहीं चार बरस बाद लगेगा, मेरी जान। उस वक्त तुम देखोगी कि मुहब्बत ख़याली-पुलाव होने पर भी कैसी क़ीमती और खरीद लेने लायक़ चीज़

होती है।" बिलकुल ठीक कहा था। तस्लीम करती हूं। मानती हूं।

सुनती हो, इस वक्त तुम्हारी 'नर्गिस' को होश नहीं है। वह आखें बन्दकर एक बुत-परस्तकी परस्तिश करती है। क़ाफ़िरको पूजती है।

सुनती हो, जिसने कभी दिलसे 'खुदा' को नहीं याद्द किया वह 'मुरारी' को जपा करती है। जिसके पैर कभी 'खुदाके घर' की ओर नहीं उठे उसके पैर मुरारीके घरकी ओर चलनेमें इतने खुश होते हैं गोया, बहिश्तकी तरफ़ जा रहे हैं। सुनती हो—

किसीके काकुलो-रुख़ के निसार हम भी हैं,
शिकार गर्दिशे लैलो-निहार हम भी हैं।

बाक़ी बातें, कभी फिर।

तुम्हें मेरे सरकी क़सम इन बातोंको किसीसे कहना मत। नहीं तो फिर; अपनी नर्गिसका मुहँ न देख सकोगी।

तुम्हारी,

नर्गिस



(पता—)

श्रीगोविन्दहरि शर्म्मा,

लाठी-महाल, कानपुर।

Cawnpore

२

कलकत्ता-कालेज-होस्टल
कलकत्ता
१६-११-२५

प्रियतम,

दो बरस बाद तुम्हें पत्र लिख रहा हूं। दो बरस बाद 'प्रियतम' की याद आनेसे मेरे अँधेरे हृदय-मन्दिरमें अनन्त प्रभा-पूर्ण स्मृतियाँ जागरित हो उठी हैं। हमारा 'सुन्दर व्यतीत' ओ हो हो !!

तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ न। आज तुम ज़रूर सपनेमें दर्शन दोगे। ज़रूर मिलना। वैसे ही जसे अक्सर हम प्रयागमें मिला करते थे। वैसीही सुन्दर सन्ध्या हो, वैसे ही मैं पढ़कर लौटूं, वैसेही 'किसीसे' मिलने को जल्दीमें हाथ मुहं धोकर तैयार रहूं, वैसेही प्रेमसे उमड़ते तुम आओ, वैसेही एक दूसरे-

को देखकर मारे प्रसन्नताके, हम दोनों एक बार सब कुछ भूलकर खिल उठें, वैसेही कहो—"मूली, जल्दी करो!" मैं मुह फुलाकर बिगड़ूँ—"जाइये, जो 'मूली' हो उससे जल्दी करनेके लिये कहिये।" वैसेही—

तुम—मूली!

मैं—(एक साँसमें) तुम मूली, तुम गाजर, तुम बैंगन, तुम लौआ।

तुम—अच्छा श्रीमान् बाबू मुरारीकृष्णजी साहब, 'फोनोग्राफ-ए-हिन्द,' दामे अकबाल हू। अब सन्तुष्ट? ज़रा जल्दी कीजिये। शाम यहीं कर दोगे तो हम लोग खेलेंगे क्या!

वैसेही—"शोर न करो जी," कहकर मैं तुम्हारे ऊपर तकिया फेकूँ, तुम मुझपर अपना कोट, टोपी, कमीज़ (उतार उतारकर) फेंको। वैसेही, मैं कहूं—"हैण्डस् अप!" तुम कहो—"हैण्डस् अप!" मैं तुम्हारे (गोरे, भरे और खूबसूरत) गालपर चट्टसे एक चित्ताकर्षक-चाँटा लगा दूँ। वैसे ही तुम मुझसे लिपट पड़ो, मुझे वशमें कर लो, जमीनपर चित्तकर

दो, छातीपर सवार हो जाओ—"दुष्ट !" मैं नीचेसे ठठाकर कहूं—"दुष्टका प्रियतम !" तुम कहो—"चल !" मैं कहूं —"छोड़ भी !"

वैसा ही सपना आज दिखाओ, प्रियतम ! कैसे अच्छे थे वे दिन !!

मैंने तुम्हारे पास अन्तिम पत्र गया कांग्रेसके वक्त भेजा था। उन दिनों तुम वहाँ, गया काँग्रेसकी स्वागतकारिणी समितिके महामन्त्रीके आग्रहसे, स्वयंसेवकोंका संघटन कर रहे थे। इसके बाद क्या हुआ (तुम कैसे थे, कहाँ थे ?) मुझे मालूम नहीं। पारसाल किसीने कहा था कि तुम 'कानपूर-राष्ट्रीय-संघ' के मंत्री हो ! ईश्वर करे, प्रियतम, तुम कानपूरके सर्वश्रेष्ठ नेता हो जाओ ! मगर हम ग़रीबोंको (कांग्रेस भी ग़रीबोंकी मदद ही करती है) भूलना मत ! तुम्हें याद है ? हम तुम्हारे "प्यारे" हैं। हम, "काहू देसमें रहेंगे तौहू रावरे कहावेंगे।"

ज़रा जल्दी करता हूं। बहुत बड़ी दास्तान

तुम्हारे सामने पेश करनी है। आज कल कलकत्तेमे बड़ी विपत्तिमें पड़ा हूँ। तुम हमेशाके मेरे संकट हारी हो। तुम्हारी जानकारीमें मेरे पास विपत्ति आही नहीं सकती। तुम मेरे जीवनकी ढाल हो। तुम्हारी आखोंके आगे मेरा हृदय हमेशा ही पार-दर्शी रहा है। तुम क्या नहीं जानते? मेरी मित्रताके पवित्र-गौरव, तुम क्या नहीं कर सकते? अबतक—आवश्यकता पड़नेपर—संसारमें और किसीसे नहीं; केवल तुम्हींसे प्यारी सलाह लेता था। और तुम्हारी सलाहें देवताके आशीर्वादकी तरह मंगल कारिणी होती आयी हैं। इस बार भी, तुम्हीं सलाह दो, तुम्हीं बचाओ! प्रियतम,—"डगमग डोले मोरि नैया......!"

छोटीसी कहानी है। एक दिन गोरोंसे फुटबाल 'मैच' खेलकर लौट रहा था कि रास्तेमें एक परम रूपवती बालिकासे भेंट हुई। वह सोनेकी ढेरकी तरह तेजोमयी, और हीरेकी मालाकी तरह 'चम-चम' थी। तुम्हारी-सी आँखें, तुम्हारा-सा सुन्दर

मुख, तुम्हारी-सी मधुर मुस्कराहट, तुम्हारी तरह नाक, तुम्हारे-से ओठ (उसे तुम देखो तो 'बहन ! बहन !' पुकार उठो !) तुम्हारे हृदयकी क़सम ! तुम्हारी मुस्कराहटकी शपथ ! !

वह एकाएक बिजलीकी तरह मेरी आखोंके आगे कौंध गयी। मैं—सच कहता हूं—चकपका उठा। मेरे एक साथीने पूछा—

"कहांकी जान पहचान है, हज़रत ?"

"छुपे रुस्तम निकले...।"

"अरे भाई इनके हुनर ही ऐसे हैं। खुदाने मुझे वैसा 'प्लेयर' नहीं बनाया जैसा तुम्हें दोस्त ! नहीं तो ऐसी चीज़ ! 'य' न थी हमारी क़िस्मत...... ।"

मैंने दोस्तोंसे दरियाफ्त किया तो मालूम हुआ कि वह 'श्रीमती' स्थानीय गर्ल्स-कालेजकी एक 'स्टूडेण्टा' हैं। जो हो, मुझे उस बालिकाके दर्शनोंसे बड़ा सुख मिला। एक ही दृष्टिमें मुझे उसकी नज़रोंमें वह चीज़ दिखायी पड़ गयी (सम्भव है मैं भूल करता होऊं) जो, इस लोकमें जल्द मिलनेकी नहीं (मगर

यह बात मुझे दो महीने बाद मालूम हुई)। उस दिन बात वहीं रह गयी।

गर्ल्स-कालेजके होस्टलकी ओरसे हम लोग दिनमें दो बार आया-जाया करते थे। इससे पहले मैंने कभी, होस्टलकी इमारतकी ओर आंखें उठाकर देखा भी नहीं था। मगर उक्त घटनाके बाद, उस ओरसे आते-जाते, होस्टलके पास आँखें 'किसी' को ढूंढ़ने लगीं। निरुद्देश्य रूपसे—मगर बड़े प्रेमसे, दिल लगाकर। आख़िर, हफ्तों बाद, एक दिन आँखोंकी अभिलाषा पूरी हुई। मैं बाइसिकिलपर चढ़ा (भीड़ हटानेके लिये अविराम-स्वरसे घंटी घनघनाता हुआ) गर्ल्स-कालेज होस्टलका फाटक 'क्रास' कर रहा था, कि उनका दल दिखायी पड़ा। वे लोग भी कहीं जा रही थीं। टैक्सियां खड़ी थीं।

मुझे देखकर 'उनकी' आँखें हँस पड़ीं, ओठ मुस्करा पड़े!

'उन्हें' देखकर मेरी आँखें लोट-पोट हो गयीं, और हृदय क्या जाने क्या हो गया।

"अच्छे हैं ???" उनके सुन्दर मुख, उनकी सरस आँखोंने पूछा।

"धन्यवाद !" मेरे रोम-रोमने कहा। मैं क्षण-भरके लिये बाइसिकिलसे नीचे उतर उनकी ओर बढ़ा।

"मुझे (उस दिनकी) आपकी कृपा याद है... ।"

"मैं, एडेन गार्डन जा रही हूं।" भावसे भ्रूकुटि-विलास करती हुई उन्होंने कहा—"हम प्रायः रोज़ही उधर जाती हैं।"

इससे अधिक कहने-सुननेकी, उस दिन, न तो हममें हिम्मत थी और न समय। वे लोग टैक्सियों पर बैठीं और अपने रस्ते लगीं। मैं भी, आसमानपर पाँव रखता हुआ, अपने रास्ते चला।

उस दिन 'एडेन-गार्डेन' में चारों ओर भगवान् सुधाकरकी किरणें ज्योत्सनासे लिपटकर नाच रही थीं। बिजलीकी अनन्त छोटी-छोटी बत्तियोंकी माला उनके गलेकी मणि-मालाकी तरह मालूम पड़ती थीं। मैं शुरू शामसे ही वहां गया था। वहीं, 'किसी' की तलाशमें। मगर, शाम क्या दिया जल जानेपर भी

'कोई' दिखाई न पड़ा। मैं मुर्दा-दिल-सा होकर इधर उधर टहलने और गुनगुनाने लगा—

ऐ काश मेरे दर पर एक बार व' आ जाता,
ठहराव सा हो जाता यों दिल न जला जाता।
तबतक ही खैरियत है जबतक नहीं आता वह,
इस रस्ते निकलता तो हमसे न रहा जाता।

उसी समय "ज़रा ज़ोरसे···!" कहती हुई वह आयीं।

"आज आप अकेली आयीं हैं?"

"सभी हैं।"

"कहाँ?"

"जहाँ जिसका 'जी' है।"

"तो आपका 'जी'...।" (संकोचके मारे मैं यह न कह सका कि···आपका 'जी' यहीं है? मगर आँखोंने कह दिया। उनके हृदयने सुन भी लिया।

"आप लोग," मैंने पूछा—"सबसे मिल-जुल और बोल-चाल सकती हैं?"

"जी नहीं," उन्होंने उत्तर दिया—"हम सबसे

मिल-बोल न सकें इसीलिये तो मिसेज़ किड हमेशा हमारे पीछे पड़ी रहती हैं।"

"आज भी हैं ?"

"हाँ उधर ही कहीं अपने किसी गोरे साथीसे बातें कर रही हैं। मैं तो आपको देखकर इधर चली आयी। मैंने मिसेज़ किडको यूँही बहका दिया है कि आप मेरे जान पहचानी हैं। अच्छा अब, मैं जाती हूं।"

"क्यों ??"

"हा हा हा !" उन्होने कहा—'यह 'क्यों' की एक ही रही। मानों हम लोग पुराने…।"

बात काटकर मैंने कहा—"हमलोग पुराने परिचित न होते तो आप, मिसेज़ किडसे कहतीं कैसे ?

मुस्कराकर उन्होंने आँख नीची कर लीं। प्रायः दो मिनटतक हम दोनों एक दूसरेके सामने खड़े, एक दूसरेको चुपचाप देखते रहे। बल्कि, पढ़ते रहे। इसके बाद वह बोलीं—

"आपके नामका एक रुका है।"

"आपके पास ?"

"जी हाँ, ग़लतीसे भेजनेवालेने मेरे ही पास भेज दिया। यह लीजिये।"

एक लिफाफा हाथमें देकर, मेरे रोकने पर भी वह न रुकीं, चली गयीं। लिफ़ाफ़ा सुगन्धसे लदा मालूम पड़ता था। उसके ऊपरकी लिखावट ज़नानी ज़रूर थी, मगर साफ़, खूबसूरत। उसपर इतना ही लिखा था—

"मिस्टर मुरारीकृष्ण"

भीतर गुलाबी रंगके खूबसूरत लेटर पेपरपर तीन लकीरोंमें लिखा था—

"रविवारकी शामको गर्ल्स-कालेज-होस्टलके फाटकपर एक बार मुझसे ज़रूर मिलिये। मेरी क़सम—ज़रूर।

एन—।"

प्रियतम, मैं जानता हूं पत्र बड़ा हो रहा है। मगर, छोटा होनेपर भी तो तुम पसन्द नहीं करोगे। इसीलिये 'विस्तृत विवरण' लिख रहा हूं। अबतक मुझे कभी ऐसा मौक़ा न मिला जो मैं उक्त 'श्रीमती'

का नाम किसी तरह जान पाता। 'एन'—मैंने मनमें सोचा, इस 'एन' अक्षरसे कौनसा नाम संभव हो सकता है? नलिनी? मगर वह बंगालकी तो नहीं मालूम पड़तीं। जो हो रविवारको उनसे भेंट होनेपर पहले इस 'एन' की पहेलीका अर्थ पूछूंगा।

उस दिन सोमवार था। फिर रविवारकी शामके आनेमें पूरे ५॥ दिन कई घंटे लगे। मगर मुझे ऐसा मालूम पड़ा मानों बरसों बीत गये रविवार हुआ ही नहीं। जिस दिन वह, बहुत दिनोंसे सोचा हुआ 'रविवार' आया उस दिन न जाने क्यों मेरा मन मारे प्रसन्नताके नाच रहा था। मिलना था शामको ५॥-६ बजे मगर १२ बजेसे ही मैंने तैयारी शुरू कर दी। कपड़ेके ट्रङ्ककी जाँच की। एक-एक लत्ते को आईनेके सामने पहनकर देखा, कौन ज़ियादा खूबसूरत मालूम पड़ता है। जूतेमें (अपने हाथसे) दो-दो बार पालिश किया। उनसे मिलनेके लिये उस दिन जैसी तय्यारी मैंने की थी, वैसी तैयारी; कभी किसी बातके लिये नहीं की थी। आख़िर वह वक्त भी आया।

मैं बाइसिकिलकी घण्टी टुनटुनाता गर्ल्स-कालेज होस्टलकी ओर जाही रहा था कि मेरी 'टीम' में खेलनेवाला (कालेजमें बी० ए० का विद्यार्थी) याकूब अहमद दिखायी पड़ा। वह गर्ल्स-कालेज होस्टलकी ओर से, बाइसिकिल पर, मेरी ओर आ रहा था—

"वाह, वाह! बड़े ठाटबाट! किसकी 'ब्यूटी' का क़िला तोड़ना है?"

"अपनी बदक़िस्मती की। आप कहांसे कहाँ जा रहे हैं?"

"यूँ ही घूम रहा हूं।" उसकी साइकिल आगे बढ़ी। मैंने कहा—

"आदाब अर्ज़ है, कभी फिर।"

उसने कहा—"बन्दगी अर्ज़ है।"

गर्ल्स-कालेज होस्टलके 'गेट' पर पहुंचते ही मैंने देखा, वह गुलाबी रंगकी सारी पारसी कितेसे पहने फाटकके पास ही बगीचेमें खड़ी कोई किताब देख रही थीं। मैंने घंटी दी। उन्होंने देखा!

"मैं भीतर आ सकता हूँ ?" मैंने, फाटकके दरवानकी पर्वा न कर, उन्हींसे पूछा।

उन्होंने सर हिलाकर मुँहसे कहा—"नहीं," आँखें नचाकर इशारेसे कहा—"हां!"

मैं भीतर दाखिल होकर उनके रू-ब-रू खड़ा हो गया।

"पहला सवाल" मैंने मुस्कराकर कहा—"मेरा होगा। मैं जानना चाहता हूं कि, आपका शुभनाम क्या है ? मुझे याद करनेवाली (या वाले) 'एन' साहब कौन हैं ? 'एन' का मतलब क्या है ?"

उन्होंने कहा—" 'एन' मेरी एक सखी हैं। यही उनके नामका पहला हर्फ़ है। उस दिन खेलमें वह भी थीं। वही आपसे मिलना चाहती हैं। वही आप पर—।"

"चलिये," मैंने कहा—"मैं उनसे मिलकर अपने को भाग्यवान समझूँगा।"

"मगर" उन्होंने कहा—"हमारी 'वार्डेन' ने उन्हें आपसे मिलनेकी आज्ञा नहीं दी है। हमलोग लड़-

कियाँ हैं, आप जानते ही होंगे। हम सभी (एक्स वाई, ज़ड) से नहीं मिल सकतीं।"

"तब," मुस्कराते हुए मैंने पूछा "आपकी 'वार्डे साहब ने आपको मुझसे मिलनेकी इजाज़त कै दी ?"

"मैंने झूठ कहकर उनकी इजाज़त पायी है मैंने कहा है कि आप मेरे पुराने जान-पहचानी हैं।"

"फिर ; अब मुझे क्या करना है ?"

"मुझसे बातें !"

"कैसी ?"

"मेरी सखीके बारेमें। उन्होंने आपसे कु सवाल किये हैं।"

"फ़रमाइये।"

"उन्होंने दरियाफ्त किया है कि आपकी 'वाइफ़ का क्या नाम है ?"

"वाइफ़ का ?" मैंने आश्चर्यसे उत्तर दिया- "मेरी तो शादी ही नहीं हुई है।"

उनका चेहरा मेरी बात सुन कर कमलकी तर

खिल गया। वह ज़रा आगे बढ़कर मेरे पास आ रहीं और मेरी बाइसिकिलका "हैण्डिल" पकड़कर खड़ी हो गयीं।

"मेरी क़सम...?" उन्होंने पूछा।

"मैं क़सम नहीं खाता ; पर, मैं अविवाहित हूँ।"

"ब्याह क्यों नहीं करते ?" उन्होंने पूछा।

"माफ़ कीजियेगा," उनके व्यवहारोंसे मेरी खुली हुई हिम्मतने बड़ा करारा सवाल किया—"आपकी शादी···?"

मुंह लाल हो गया, कान लाल हो गये, नाक लाल हो गयी! मालूम पड़ने लगा, खालिस गुलाबकी पंखड़ियोंकी पुतली मेरी साइकिलका हैण्डिल पकड़े खड़ी है!

"आपके सवालका मतलब ?" उन्होंने पूछा। उनका मुँह बहुत कुछ मेरे मुंहके क़रीब था।

"आपके सवालका मतलब ?" मैंने भी छोप रखा। मेरा भी मुख (ठीक याद नहीं, संभवतः) उनके मुखसे अधिक सन्निकट हो गया। उनकी

३

साँस मेरी आंखों पर पड़ती थीं। मेरी सासें उन
ओठोंसे टकराती थीं !

"मैं जवाब देती नहीं, माँगती हूं।" खूबसू
गुस्सेके साथ उन्होंने कहा, साथ ही ; उनकी नाका
सिरा मेरी नाकके सिरेसे छू गया! एक आग दे
गयी ! बिजली छू गयी !!

मैं साधू नहीं, फ़कीर नहीं ; मैं महात्मा ना-
त्यागी नहीं , मैं ऋषि नहीं, मुनि नहीं। सौन्दर्
उस लबालब भरे प्यालेको देख मेरा मन मचल गय
जीमें आ... "देखी क्या हो ? 'गुडलक' होने दो
फिर ... ...

अपनी ना...से उ...को ... कई किसकी तरह
खूबसूरत नाक ... ओठोंसे उनके लाल-ल
परिपक्व-ओठोंको हल...सा धक्का देते हुए मैंने कहा-
"मैं भी जवाब देता नहीं, माँगता हूं।"

"वाहरी हिम्मत ! वाहरी हिम्मत !!" कहकर
वह मेरी गर्दनमें छोटे बच्चेकी तरह गुथ गयीं। म

चुम्बनोंसे उन्होंने मेरा मुंह भर दिया। मैंने, विवश होकर, उन्हें भुजाओंमें कस लिया।

मेरी बाइसिकिल अचानक "झन्न, झन्न" स्वरसे बारोख़ाने बिच गिर पड़ी! तब मुझे ज्ञान हुआ! मैंने सोचा—"पागल हो गया हूं?" बाइसिकिलने, संभवतः उन्हें भी ज्ञान दिया। वह भी मुझे छोड़, दूर खड़ी हो, सर और कन्धे परके कपड़े ठीक करने लगीं।

"क्या हुआ सरकार?" फाटकवालेने आवाज़ दी। मैंने कहा—"ज़रा सलाई लाना, लेम्प जलाना है, शाम हो गयी।"

नौकर सलाई देकर चला गया। तबतक हम दोनों होशमें आगये। उन्होंने कहा—

"मेरी शादी हो गयी है।"

"तो, मैंने कहा—"मेरी भी शादी हो गयी।"

आँचलके भीतरसे एक लिफ़ाफ़ा निकालते हुए उन्होंने कहा—

"इसीमें मेरी सखी 'एन' का नाम और पूरा पता है।"

मैंने कहा—"अगर आपकी सखीका रूप औ
हृदय ज़रा भी आपसे भिन्न हुआ तो उन्हें पूर्ण निरा
होना पड़ेगा।"

"लिफ़ाफ़ा, ज़रा खोलियेगा। आपका प
'कलकत्ता कालेज होस्टल' है न?"

* * * *

घर लौटकर मैंने देखा, लिफ़ाफ़ेके भीत
कागज़ पर लिखा था—

"मैं लखनऊके मशहूर रईस ख़ानबहादुर मुहम्
हुसैनकी लड़की हूं। मेरा ही है नाम 'एन' या

—नार्गिस!"

मेरे पावँ-तलेकी मिट्टी निकल गयी! मैंने अभी-
अभी एक मुसलमान लड़कीको चूमा है? मैं!
जिसकी नसोंमें विशुद्ध हिन्दू-रक्त प्रवाहित हो र
है। मैंने एक विजातीय बालिकाके चरणोंमें हृदयार्प
किया है?

पिताजी क्या कहेंगे? प्रयाग क्या कहेगा!
समाज क्या कहेगा? देश क्या कहेगा? फिर, ह
दोनोंकी शादी हो ही कैसे सकती है?

प्रियतम, हमलोगोंकी प्रतिज्ञा है कि, हम विवाहके पूर्व एक दूसरेसे ज़रूर सलाह लेंगे। इस समय तुम्हारी सख्त ज़रूरत है। बन पड़े तो दो-चार दिनोंके लिये यहाँ चले आओ। मेरी रक्षा करो। मुझे सीधे रास्तेपर कर दो। बताओ, इस समय मेरा कर्त्तव्य क्या है ? मैं, मुसलमान-दुहिता सुन्दरी नर्गिस-को हृदयेश्वरी बना चुका हूं। अब क्या करूं ? पिताजीको इस समाचारसे कैसे अवगत करूं ? इसका उनपर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

यदि तुम न आसको तो विस्तृत उत्तर देना। एक-एक बातका, हर एक पहलूसे।

यदि कलकत्ता आना तो 'धरम' छोड़नेको तैयार होकर आना। क्योंकि ; मैंने 'मुसलमानिन' को चूमा है और तुम्हें मुझे चूमना होगा।

तुम्हारा...

हलचलमें पड़ा—

मुरारीकृष्ण



{ ३ }

(पता—)

जनाब अलीहुसेन साहब,

(बार-एट-ला)

No. 00002 Chauk.

Patna City.



हज़रतगंज,

लखनऊ

मेरे राजा, १०—१—२६

यह रही हूं) तुम्हारा लिखा है ? तुम इतने सख़्त, ऐसे ग़ुस्सावर हो सकते हो ? इस बातपर एतबार लानेको जी नहीं चाहता। तुम मेरे खुदा हो। तुम्ही इन्साफ़से दूर भागोगे तो मेरी दीनो-दुनिया चौपट हो जायगी। याद करो ! 'बड़े दिन' की छुट्टी ख़त्मकर पटना जानेसे पहले, (३१ दिसम्बर सन् १९२५ की १२ बजे रात) मेरे गलेमें हाथ डालकर तुमने कहा था—"मुहब्बत खुदा है, मुहब्बत बहिश्त है और मुहब्बत ही ज़िन्दगीका सबसे अच्छा लुत्फ़ है !" कहनेके लिये ये बातें सन् २५ में कही गयी हैं, और आज सन् २६ है। मगर,

जाननेवाले जानते हैं कि इस २५-२६ में केवल कुछ दिनोंका ही फ़र्क़ है, जिनकी तादात १० से ज़्यादा नहीं।

क्या मुहब्बत और मुहब्बतके सारे मज़े, हमींतक महदूद हैं? क्या तुम्हारी बहन नर्गिसके दिल नहीं है? मैं तुम्हें और तुम मुझे प्यार कर सकते हो। इसके लिये हम लोग अपने माँ-बापसे लड़ाई भी कर सकते हैं (और उस लड़ाईमें 'लव एण्ड हार्ट' की दोहाई भी दे सकते हैं।) मगर, यही काम दूसरे नहीं कर सकते? क्यों??

ज़रा दो क़दम पीछे हटकर (आजसे ४ बरस पहले जहाँ हम थे उस जगह पहुंच कर) नर्गिसकी हालतपर ग़ौर करो। तुम विलायतसे 'बैरिस्टर' होकर लौटे थे। हमारे घरपर कोई जल्सा था। तुम्हारे घरवाले और तुम, हमारे यहां मेहमान थे। मगर, तुमने क्या किया? अपने मिहरबान 'मेज़बान' के घर चोरी की! सो भी कैसी चोरी? 'दिल' की! (गयी होती अदालतमें बात तो लद गये होते।

सारी बैरिस्टरी हवा हो गयी होती !) चोरी ही नहीं, तुमने तो सीनाज़ोरी भी की। बड़ोंसे खुद भी उलझ गये, साथही, मुझे भी उलझनेको बहका (हाँ हाँ बहका) दिया ! साराका सारा लखनऊ चक्करमें आ गया ! लोग कहने लगे—"यह लड़का ईसाई हो गया !" लोगोंकी लुगाइयाँ कहने लगीं—"तोबा ! यह लड़की स्कूलमें पढ़कर 'मेम' हो गयी !!"

उस वक्त, अगर कोई तुमको वही बातें लिखता जो तुम आज नर्गिसको लिख रहे हो, तो तुम्हें कैसा लगता ? तुमने लिखा है—

"मैं नर्गिसकी इस हरकतको महज़ नादानी और बेवकूफ़ी समझता हूं। उसे इस तरह मुहब्बत करनेका कोई भी हक़ नहीं है। यह तुमने बहुत बुरा किया जो मेरे लखनऊ रहनेपर इस शर्म-नाक क़िस्सेको मुझे नहीं सुनाया। उस वक़्त नर्गिस भी वहीं थी। मैं उसे हर्गिज़ कलकत्ता न जाने देता। लड़कियोंको जितना पढ़ना चाहिये, वह उससे ज़्यादा पढ़ चुकी। उसे नौकरी, बैरिस्टरी या लीडरी नहीं

करनी है। मैं जानता हूं, थोड़ी भी आज़ादी देने से इस मुल्ककी औरतें सर पर चढ़ जाती हैं।"

ओ हो हो! मैं सिदक़े जाऊँ तुम्हारी नसीहतोंके। तुम तो हिन्दुओंके ढोंगी पण्डितोंसे भी बढ़ गये। मैं, बड़े दिनकी छुट्टियोंमें चार दिनोंके लिये घर लौटी हुई अपनी 'जान' को क्यों रंज करती? मैंने उनसे वादा किया था कि उनके 'लव-अफेयर्स' में उनकी मर्ज़ीके ख़िलाफ दस्तन्दाज़ी नहीं करूँगी। ये बात जो तुम्हें सन् २६ में मालूम हुई हैं, मुझे सन २५ के ११ वें महीनेसे ही मालूम हैं। मैंने जान-बूझकर तुम्हें इन बातोंसे आगाह नहीं किया। मैं अपनी नर्गिसको, तुमसे ज्यादा जानती हूं। वह अपनी बातपर जब अड़ जाती हैं तब, उलट-पलट हो कर भी, एक दुनिया उन्हें अपनी तरफ नहीं ला सकती। तुम 'नर्गिस' की इस हरकतको महज़ नादानी समझते हो? क्यों न समझोगे? थोड़ी भी आज़ादी देनेसे इस मुल्ककी औरतें सरपर चढ़ जाती हैं, यह तुम जानते हो। क्यों न जानोगे? मगर हुज़ूर; क्या

बन्दी यह सवाल कर सकती है कि नर्गिसकी जैसी हरकत 'नादानी' कही जाती है वैसी ही हरकतोंसे 'असग़री' आपकी प्यारी कैसे रह सकती है? जो आज नर्गिस करने जा रही है, वही उस वक़्त मैंने भी किया था। भूल गये!

'इस मुल्ककी औरतों' पर आपका 'रिमार्क' एक ही रहा। अपनी 'औरत' की गुस्ताख़ी माफ़ कीजियेगा, क्या मर्दों के हाथमें औरतोंके दिलो-दिमाग़का, दीनो-दुनियाका बहिश्तो-दोज़ख़का ठेका है? मर्द जिसे कहे, औरत उसीको प्यार करे। उसीके गले पड़े। उसीको 'अपना' बनाये! औरतें गन्दी हैं, औरतें बेव-क़ूफ़ हैं, औरतें ग़ुलाम हैं, औरतें बदतहज़ीब और बेतमीज़ हैं—यानी दुनियामें सबसे ख़राब अगर हैं तो औरतें हैं। फिर; बन्दापरवर! आप मर्द लोग; जो अपनी सफ़ाई, अक़्लमन्दी, बहादुरी और तहज़ीबके लिये मशहूर हैं, औरतोंको नेस्तोनाबूद क्यों नहीं कर देते? यही कीजिये और ज़रूर कीजिये, बड़ा सबाब होगा। दुनिया (अमेरिका, जापान इंग्लैण्ड

करनी है। मैं जानता हूं, थोड़ी भी आज़ादी देने से इस मुल्ककी औरतें सर पर चढ़ जाती हैं।"

ओ हो हो! मैं सिदक़े जाऊँ तुम्हारी नसीहतोंके। तुम तो हिन्दुओंके ढोंगी पण्डितोंसे भी बढ़ गये। मैं, बड़े दिनकी छुट्टियोंमें चार दिनोंके लिये घर लौटी हुई अपनी 'जान' को क्यों रंज करती? मैंने उनसे वादा किया था कि उनके 'लव-अफेयर्स' में उनकी मर्ज़ीके ख़िलाफ दस्तन्दाज़ी नहीं करूँगी। ये बात जो तुम्हें सन् २६ में मालूम हुई हैं, मुझे सन २५ के ११ वें महीनेसे ही मालूम हैं। मैंने जान-बूझकर तुम्हें इन बातोंसे आगाह नहीं किया। मैं अपनी नर्गिसको, तुमसे ज्यादा जानती हूं। वह अपनी बातपर जब अड़ जाती हैं तब, उलट-पलट हो कर भी, एक दुनिया उन्हें अपनी तरफ नहीं ला सकती। तुम 'नर्गिस' की इस हरकतको महज़ नादानी समझते हो? क्यों न समझोगे? थोड़ी भी आज़ादी देनेसे इस मुल्ककी औरतें सरपर चढ़ जाती हैं, यह तुम जानते हो। क्यों न जानोगे? मगर हुज़ूर; क्या

बन्दी यह सवाल कर सकती है कि नर्गिसकी जैसी हरकत 'नादानी' कही जाती है वैसी ही हरकतोंसे 'असग़री' आपकी प्यारी कैसे रह सकती है? जो आज नर्गिस करने जा रही है, वही उस वक़्त मैंने भी किया था। भूल गये!

'इस मुल्ककी औरतों' पर आपका 'रिमार्क' एक ही रहा। अपनी 'औरत' की गुस्ताख़ी माफ़ कीजियेगा, क्या मर्दों के हाथमें औरतोंके दिलो-दिमाग़का, दीनो-दुनियाका बहिश्तो-दोज़खका ठेका है? मर्द जिसे कहे, औरत उसीको प्यार करे। उसीके गले पड़े। उसीको 'अपना' बनाये! औरतें गन्दी हैं, औरतें बेव-कूफ़ हैं, औरतें ग़ुलाम हैं, औरतें बदतहज़ीब और बेतमोज़ हैं—यानी दुनियामें सबसे ख़राब अगर हैं तो औरतें हैं। फिर; बन्दापरवर! आप मर्द लोग; जो अपनी सफ़ाई, अक़्लमन्दी, बहादुरी और तहज़ीबके लिये मशहूर हैं, औरतोंको नेस्तोनाबूद क्यों नहीं कर देते? यही कीजिये और ज़रूर कीजिये, बड़ा सबाब होगा। दुनिया (अमेरिका, जापान इंग्लैण्ड

फ्रान्स, जर्मनी, इटली, रूस, चीन, तुर्की) औरतों को आज़ादी दे रही है। हुज़ूरके मुल्कके मर्दोंको चाहिये कि दुनियाके ख़िलाफ बग़ावत करें। औरतों को जेलोंमें रखें। खाने न दें, देखने न दें, सुनने न दें, प्यार करने न दें और पढ़ने-लिखने तो ज़रूर न दें। अगर आपके मुल्कको 'बाग़े-अदन' और मर्दोंको 'ख़ुदा' कहा जाय तो बुरा न होगा। आपलोग इन औरतों को समझा दीजिये कि इल्म ही वह 'फारबिडेन-ट्री' है, जिसका फल खानेकी आज्ञा नहीं। औरत भी, 'आदम' और 'ईव' की तरह, इल्मके पेड़के फल खाकर चौकन्ना हो जायँगी, होशमें आ जायँगी। इसलिये जो औरत आप (ख़ुदाओं) की बात न माने, उसे अपने 'सोशल-पैराडाइज़' (सामाजिक-स्वर्ग) से निकाल बाहर कीजिये। मगर, याद रहे ; उनमें पहला नम्बर अपनी असग़रीका ही रखियेगा।

तुमने लिखा है—

"मैं मुसलमान हूं। ख़ुदा-परस्त, इस्लाम-परस्त और मज़हब-परस्त हूं। मैं इस बातको हर्गिज़ नहीं

बर्दाश्त नहीं कर सकता कि मेरी बहन, किसी ग़ैर-क़ौम वालेके साथ ब्याही जाय। मैं नर्गिसको ज़हर देकर मार डालूंगा, अपना गला घोंटकर मर जाऊँगा; मगर, इस बेइज़्ज़तीसे बचने की कोशिश करूंगा—बचूँगा।"

यह कैसी बातें हैं, मेरे मालिक। मैंने सुना था हाथियोंके खाने और दिखानेके दांत अलग-अलग होते हैं। मगर, मुझे आजही मालूम हुआ है कि, मर्दोंके दिल भी दो तरह के होते हैं। दिखानेके और; बहकाने के और। तुम मेरे आगे मुहब्बत-परस्त बनते हो और दूसरोंके आगे इस्लाम-परस्त या मज़-हब-परस्त! प्यारे; बुरा न मानना। क्या यह दुनिया को धोखा देना नहीं है? अपने को ठगना नहीं है? तोबा, तोबा। तुमने यह ख़त नशे की हालत में तो नहीं लिखा है? नर्गिस को ज़हर देकर मार डालोगे। क्यों?

उसी मुहब्बतके लिये, जिसे हम दुनियाकी सबसे बड़ी नेयामत समझते हैं। उसी मुहब्बतके लिये,

जिसे पाकर इन्सान इन्सान हुआ है। उसी मुहब्बतके लिये, जिसका नाम लेकर दुनिया अपना रास्ता तय कर रही है। उसी मुहब्बत के लिये जो ख़ुदा है, दीन है, मज़हब है और क़ुरान पाक है। उसी मुहब्बतके लिये जिसकी तारीफ़ करते-करते हाफ़िज़ और सादी, ख़य्याम और मीर, ग़ालिब और ज़फ़र फ़रिश्तोंकी तरह मशहूर हो गये!

मुहब्बतके लिये ख़ून? मेरे राजा, तुम पागल तो नहीं होगये हो?

तुम्हीं सोचो; तुम मेरे सर पर हाथ रख कर कह सकते हो कि, मुहब्बत—क़ानूनसे, धरमसे मज़हबसे, हिन्दूसे, मुसलमानसे, ईसाईसे, सिखसे, डरता है? मुहब्बत दिल देखता है; मज़हब नहीं, कनून नहीं, हिन्दू नहीं, मुसलमान नहीं। मेरे ख़ुदा, अगर तुम 'हिन्दू भी होते तो मेरे ही ख़ुदा होते, मेरे ही मालिक होते, मेरे ही आक़ा होते! तुम अगर कल ईसाई हो जाओ, तो भी मैं तुम्हारी ही रहूंगी। तुम मेरी नज़रोंमें वैसेही बने रहोगे जैसे हो। मज़हब

इस दुनियाकी चीज़ है, मुहब्बत उस दुनियाकी। मज़हब, अगर सच्चा मज़हब है, मुहब्बतके रास्तेका रोड़ा नहीं, फूल है।

प्यारे, आज तुम्हारे ही हथियारोंसे तुम्हें हराऊँगी। तुम्हींसे सुनी हुई बातें 'तुम्हारे ख़िलाफ़' तुम्हारे सामने रखूँगी। यह तुम्हारा ही कहना है कि—"पहले हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या यहूदी कोई नहीं था। सभी आदमी थे, सभी ख़ुदाके प्यारे बच्चे थे। फिर? सब लोग मिलकर फिरसे 'आदमी' क्यों नहीं बन जाते? क्या 'हिन्दू', 'मुसलमान' या 'ईसाई'-'यहूदी' के नामपर आदमियोंमें फूट डालनेवालों-पर ख़ुदा ख़ुश होगा? क्या यह अल्लाहोअकबरके ख़िलाफ़ बग़ावत नहीं है?

* * *

अभी—अभी नर्गिसका एक ख़त आया है। उफ़्, देखने लायक है। तुम देखो तो—क़सम तुम्हारे क़दमोंकी—रो पड़ो। मेरी प्यारी जान उस 'काफ़िरके बच्चे' पर दीवानी हो गयी है। लिफ़ाफ़े

४

पर आँसू, लेटर-पेपरपर आँसू, एक-एक लाइन आँसू! ख़तके साथ उन्होंने हिन्दीकी कई किताबें भी भेजी हैं जो मुसलमानोंकी लिखी हैं। कोई 'रहीमकी', कोई 'रसखानकी' कोई 'मुहम्मद जायसीकी', कोई 'नज़ीरकी' और कोई 'कबीरकी'। उन्होंने लिखा है कि ये लोग मुसलमान होकर भी सचाईके पुजारी थे। हिन्दू-धरमकी खूबियोंके क़ायल थे। फिर; अगर मैंने किसी हिन्दूको प्यार किया तो क्या बुरा किया! उनके ख़तका एक हिस्सा है—

"......औरत का दिल ऐसी चीज़ नहीं कि आज 'हिन्दू' और कल 'मुसलमानको' दिया जाय। सच्ची औरत अपना आक़ा, अपना मालिक, अपना ख़ुदा एक बार चुनती है—हज़ार बार नहीं। इसीलिये औरतें मर्दों से ऊँची हैं— माँ हैं। मुहब्बत करनेसे अगर कोई चिढ़ता है तो चिढ़ा करे। बक़ौल "यह जुर्म है तो ऐसे गुनहगार बहुत हैं।" मैंने उन्हें 'अपना' मान लिया है। अब दुनियाकी

भी ताक़त हमें अलग नहीं कर सकती। मैं उनकी हूं, वह मेरे हैं।

"तुमने लिखा है भाई साहब नाराज़ होंगे। अब्बा तो गोली मार देनेको तैयार हो जायँगे। अच्छी बात है, ऐसा ही होने दो। अब मैं कलकत्तासे घर आती ही नहीं। तुम छोड़ दो, भाई छोड़ दें, अब्बा निकाल दें और अम्मा भी (जो ग़ैर-मुमकिन है) भूल जायँ मेरा भी खुदा है। मैंने तो यह तय कर लिया है, भीख माँगूंगी तो 'उन्हीं' के साथ और रुखा-सूखा खाकर बैठूंगी तो 'उन्हींके' साथ।......तुम जानती होगी उनके साथ दुःख उठानेमें भी मज़ा मिलेगा—

लैकर सुघर खुरुपिया पियके साथ
छइबै एक छतरिया बरसत पाँथ।

*　　　*　　　*

टूट खाट, घर टपकत, टटियो टूट,
पियके बांह उसिसवां सुखकै लूट।

"मैं 'रहीमकी' इन लकीरोंको चौबीस

घंटेमें हज़ार बार ख़ुदाके सामने रखकर दोआ मांगती हूं—

मोहि बर जोग कन्हैया लागऊँ पाय,
तुहूं-कुल पूज देवतवा होहु सहाय।

मैंने जबसे उन्हें पहचाना, तबसे आजतक बराबर ख़ुदासे, मज़हबसे, दिलसे, 'उन्हीं को' मांगा करती थी। अब वह हज़ार कोहेनूरों का एक कोहेनूर मुझे मिल गया है।

सब कुछ ख़ुदासे मांग लिया उनको मांग कर,
उठते नहीं हैं हाथ मेरे इस दोआ के बाद।

मैं उनकी हूं, हज़ार बार उनकी हूं, हज़ारमें उनकी हूं।"

देखा तुमने ? यह मेरी बन्दिश नहीं, तुम्हारी बहन नर्गिसकी चिट्ठी है। उनके दिलमें वह मुहब्बत नहीं जो दुनियावी दिक्क़तोंसे घबरा उठे। उनका दिलोदिमाग़ भी उन्हीं चीज़ोंसे बना है जिनसे तुम्हारा, फिर वह तुमसे कम हठाली कैसे हो सकती हैं !

फिर आओ न 'माइ लव' ! हम लोग थोड़ी हिम्मत

से काम लें। एक बार जी कड़ाकर दुनियाके आगे एलान कर दें कि—"हमारा सबसे बड़ा मज़हब प्रेम है, मुहब्बत है। हम मुहब्बतसे बढ़कर किसीको (खुदाको भी) नहीं मानते।" मुहब्बत दुनियाकी रूह है। वह किसी खुदाका जल्वा नहीं बल्कि ; 'मूसाके' दिलकी मुहब्बत थी जो 'तूरपर' एकाएक उसकी आंखोंके आगे चमक गयी। मुहब्बतने मूसाको हज़रत मूसा बनाया है। बिना मुहब्बतके खुदा, खुदा नहीं, मज़ाक रह जाता है। इसीसे तो हज़ारोंने कहा है (और मैं भी कह रही हूं) मुहब्बत ही खुदा है। दुनियाको खूंरेज़ी, नफ़रत, दुश्मनी, नाइत्तिफ़ाकी और गुस्सेसे दूर रखने के लिये—खुदा के परदे में—मुहब्बत ही अपनी पूजा करा रहा है। फिर हम मज़हब, ज़ात, रंग और रिवाज पर, क्यों जायं ? सीधे मुहब्बत—खुदाके खुदा—के पास क्यों न जायँ ? मुहब्बतका नाम लेकर ईसा मुस्कराता-मुस्कराता 'क्रूस' पर चढ़ गया था, मुहब्बतका नाम लेकर हज़रत मुहम्मदने इस्लामका झण्डा ऊँचा

किया था। जहाँ तक मेरी ('यू'+'आई'='माइसेल्फ़') 'स्टडी' है, मैंने दुनियाके सभी बड़े 'आदमियोंको' मुहब्बत और सिर्फ़ मुहब्बतके नामके नारे बलन्द करते पढ़ा है, सुना हैं—देखा-सुना है। 'बिंद्रावन' का 'किशन' मुहब्बतका पैग़ाम लेकर आया था, 'कपिलवस्तु' का 'गौतम' मुहब्बतका पैग़ाम लेकर आया था, (इसे पचासों बार तुमने खुद कहा है)। आजके (खूँरेज़ीके, नफ़रतके, डाकेके, लूटके) ज़मानेमें भी, इन्सान नामके 'जानवरोंके' दिलोंका दिल, उन्हीं को बड़ा आदमी, मानता है जो मुहब्बत के नाम पर मर मिटे हैं या मर मिट रहे हैं। कार्ल मार्क्स-टाल्स्टाय-लेनिन, शेक्सपियर-सादी-तुलसी या कमाल-अब्दुलकरीम-ज़गलूल' या (याद है? जिनके नामपर बैरिस्टरी छोड़ने जा रहे थे?) गान्धी। मैं संसारके सभी पैग़म्बरों और अवतारोंको—अधिकसे अधिक...'आदमी' समझती हूं। मूसा हों या ईसा; मुहम्मद हों या किशन; गौतम हों या मैज़ीनी— सभी आदमी थे। 'आदमीसे' बढ़कर कोई नहीं

हो सकता। मगर हाँ, सच्चा 'आदमी' होना बहुत दुश्वार है।

फिर आओ न मेरे मालिक! हम लोग एलान कर दें कि हम—"पहले 'आदमी' हैं, फिर हिन्दू या मुसलमान या कोई और।" आजकलकी दुनिया धरमसे, रिवाजसे, ज़ातसे, गुट-बन्दीसे, गोरेसे-कालेसे, हिन्दूसे, मुसलमानसे घबरा गयी है। लोग जल्द ही आदमियोंके छुटकारेका कोई अच्छा रास्ता ढूँढ-निकालनेकी फ़िक्रमें हैं। आंख रख कर अंधा बनना ठीक नहीं। आओ, हम 'यूनिवर्सल ब्रदरहुड' फैलानेवालोंकी मदद करें। इससे ख़ुदा (अगर वह है) ज्यादा ख़ुश होगा।

मेरी प्यारी नर्गिसको सहारा दो। उसे दुनियाकी झिड़कियों, लानतमलामतों और फिटकारोंसे बचाओ। उसके दिलमें ख़ुदाके जल्वाकी तरह अगर मुहब्बत चमक रही है तो, उसे चमकने दो और ऐसी पाक मुहब्बतसे अन्धी दुनियाको आंख पाने दो।"

अब मुझसे ज़्यादा बहस न करना। मैंने लण्डन.

जाकर बैरिस्टरी नहीं पास की है। इस इल्मों (यानी बहसमें) तुम हमेशाके एकही हो। मगर जहाँ 'दिलका' सवाल हो वहाँ बहस करना कहाँतक ठीक है यह तुम जानते हो। इसीसे कहती हूं।

एक बात और लिखकर ख़तको ख़त्म करती हूं। वह यह, कि; अब मैं तुम्हें छोड़कर अकेले यहां (लखनऊ में) नहीं रहना चाहती। पटनामें तुम्हारी बैरिस्टरी चले या न चले। मैं अपने दिलके खुदाको बैरिस्टरीके लिये नहीं छोड़ सकती। सीधेसे नहीं ले चलोगे तो एक दिन मिसेज़ ए० हुसेन खुदही पटनामें दिखायी दूंगी। पहाड़ मुहम्मदके पास नहीं आयेगा तो, मुहम्मद खुद पहाड़के पास जायगा। समझे?

तुम्हारी ही

—असग़री

नोट—यह ख़त किसी मुल्ला, हाजी या मौलवीके हाथमें न पड़े—होशियार रहना! इसपर अख़बार वालोंकी नज़र न गड़े—ख़बरदार रहना! —"अ"

(४)

(पता—)

पण्डित मुरारीकृष्ण शर्मा

Rooom No. 36,

Calcutta-College Hostel,

Calcutta.

लाठी-महाल,

कानपूर

३१ मार्च १९२६

प्यारे मुरारी,

१९-११-२५ का लिखा और पोस्ट किया हुआ तुम्हारा पत्र तुम्हारे प्रियतमके हाथोंमें २८ मार्च सन् १९२६ को पड़ा। इसमें न तो पत्रका दोष है, न मेरा और न तुम्हारा हो। सुना है तुम एक वर्षसे बराबर कलकत्ताही में हो, प्रयाग लौटे ही नहीं। मैं एक वर्षतक जेलमें था, दुनियामें था ही नहीं। जेल जानेके पूर्व एक बार जीमें आया था कि, बहुत दिनोंसे ख़त-किताबत बन्द है तो क्या इस जीवित-श्मशान-यात्राका संवाद तुम्हारे कानोंतक पहुंचा दूँ। मगर, फिर, कुछ सोचकर उस इच्छाका दमन ही करना

उचित समझा। इसका एक कारण था। मैं जानता हूं और तुम भी जानते हो, ऊपरसे शान्ति और प्रसन्नताकी मूर्त्ति बने रहते हुए भी तुम्हारे धनी-घरवाले, तुम्हारे 'समाज-सम्मानित'-घरवाले, तुम्हारे 'कैपिटलिस्ट'-घरवाले, यह नहीं चाहते कि उनका 'सोने' का अमीर-मुरारी 'मिट्टीके' ग़रीब-गोविन्दसे—दूध-पानीकी तरह, मिश्री-तृणकी तरह, पान-पत्तेकी तरह मिल जाय। तुम्हें याद होगा। असहयोग आंदोलनके समय जब हम तुम एक साथ बैठकर 'यंगइण्डिया' पढ़ा करते थे और महात्माजी-के मतोंपर अपनी सम्मति दिया करते थे उस समय तुम्हारे "रिटायर्ड डिप्टी कलेक्टर" बाबूजी कैसी कटूक्तियोंसे काम लेते थे। "सब ढोंग है। यह सब कुछ बिगड़े-दिमाग़ोंकी ख़राबी है। यह अँग्रेज़ी राज है। इसके ख़िलाफ़ होने पर अच्छे-अच्छे रगड़ दिये जाते हैं। महात्मा गान्धी यह बुरी आग लगा रहे हैं। इससे देशका सर्वनाश हो जायगा। कितने घर उजड़ जायँगे, कितने मर

मिटेंगे। सब ढोंग है। जिसे कोई काम नहीं, वही लीडर है। जिसे कोई रोज़गार नहीं, वही व्याख्यान-बाज़ी करता है। अंग्रेजी-राज्य राम-राज्य है। इसमें कोई दुख नहीं, कोई तकलीफ़ नहीं!" आदि, आदि। ये बातें मुझे बहुत बुरी मालूम पड़ती थीं। साथ ही, तुम्हें भी कम बुरी नहीं मालूम पड़ती थीं। क्योंकि, मैं तुम था; तुम मैं थे। क्योंकि, मैं 'प्रियतम' था; तुम 'प्यारे' थे। क्योंकि, मैं प्रभात था; तुम बालारुण थे। क्योंकि, मैं मन्द-मलय-समीरण था; तुम कुसुमित-वसन्त थे। क्योंकि, मैं अधर था; तुम चुम्बन थे। क्योंकि, हम एकही तरङ्गमें बहते थे; एकही स्वरमें बोलते थे; एकही लयमें गाते थे; एक ही गतमें नाचते थे। तुम 'मैं' थे, मैं 'तुम' था। तुम्हारे रक्त और मांसके स्रष्टा, तुम्हारे रक्त और मांसके मालिक, तुम्हारे हृदयको भी—ज़बरदस्ती—अपनी मुट्ठीमें रखना चाहते थे। वह यह नहीं बर्दाश्त कर सकते थे कि उनके रचे हुए खिलौनेको छातीसे लगाकर

संसारका कोई अ-सुखी, अन-धन और अकिञ्च
अमरत्वका आनन्द ले।

प्यारे! तुम्हें याद होगा, (क्योंकि उस घटनाको तुम कभी भूलही नहीं सकते) हमारे उस सुख-स्वप्नको तुम्हारे पिताजीने तोड़ा था। उन्हें विश्वास होगया था कि हम दोनों एक साथ रहेंगे तो "गाँधीकी आँधीमें" बह जायंगे। और उन्हींके शब्दोंमें—"गाँधीका अनुकरण करना मूर्खता है। हमें कमी किस बातकी है जो हम अंग्रेज़ी राज्यका विरोध करें? ज़मीन्दार हम, धनी हम, विद्वान् हम, सरकार द्वारा सम्मानित हम। क्या स्वराज्यमें कुछ इससे बहुत मीठे लड्डू मिलेंगे? यह सब बेवक़ूफ़ी है।" बस, एक दिन उन्होंने प्रयागके स्कूलसे तुम्हारा नाम कटाया और रातो-रात— उफ़! उफ़!!—तुम्हें हमारी नज़रोंसे छीन-कर ले भागे! और फिर, जब तक कि मैं स्वदेश प्रेमके नामपर ६ महीने के लिये जेलमें नहीं ठूंस दिया गया तबतक वे बराबर, कलकत्तामें,

तुम्हें 'गार्ड' करते रहे। पत्र तक नहीं लिखने देते थे। यह तुमने स्वयं लिखा था। अपने पिताकी उस कृतिसे तुम कितने दुःखित, लज्जित और क्षुब्ध हुए थे—याद है? तुम्हारा वह पत्र अभीतक मेरे पास है जिसमें तुमने लिखा था—"प्रियतम, यदि मेरा वश चलता तो मैं प्राण छोड़कर, उड़कर तुमसे जेलमें मिलता। तुम जेलमें 'निर्दोष' होनेपर भी, पवित्र होनेपर भी, अनेक प्रकारके कष्ट उठा रहे हो और मैं यहाँ आनन्दसे जीवन व्यतीत कर रहा हूं! मेरा तुममें, तुम्हारे पथमें, तुम्हारे उद्देश्यमें पूर्ण विश्वास है। मैं जानता और समझता हूं कि मेरे पूज्य पिताजी तुच्छ मोह और स्वार्थके भ्रामक पथपर हैं और मुझे भी बरबस घसीट रहे हैं। पर, सबकुछ जानकर भी कुछ नहीं कर सकता। मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि पिताजीका खुले शब्दोंमें विरोध करूँ। हज़ार सुख होते हुए भी मैं उनके भयानक क्रोधमें पला हूं। मेरे हृदय पर भयसे शासन करते-करते मेरे शासक (डिप्टीकलेक्टर)

पिताजीने मुझे कायर बना दिया है। मैं नीच हूं, मैं अधम हूँ, मैं कायर हूं। मैं तुम्हारा—अपने प्राणोंके प्राणका—विपत्तिमें साथ नहीं दे सकता। पिताजी नहीं रहते तो सब कुछ सोचता हूं। यह भी निश्चय करता हूं और वह भी। मगर, उनकी आखें ज्योंही मेरी आखोंसे मिलती हैं, मैं सत्पथसे विचलित हो जाता हूं। यद्यपि यह कहने के लिये तुम मुझपर अनेक वार नाराज़ हो चुके हो, मुझे प्रेम-पूर्ण दण्ड भी दे चुके हो; मगर, मैं पुनः यही कहता हूं कि मैं अपने पिताजीको, प्रेमसे नहीं; भयसे देखता हूं। वह पहले डिप्टीकलेक्टर हैं, फिर पिता! वह पहले शासक हैं, फिर देवता! मैं ईश्वरसे नित्य यही प्रार्थना किया करता हूं कि वह मुझे वह शक्ति प्रदान करे जिससे मैं निर्भय होकर, आवश्यकता पड़नेपर, अपने पूज्य पिताका सादर-विरोध कर सकूं। तुम्हारे प्रेमकी दोहाई। जिस दिन मुझमें इतनी शक्ति आ जायगी उस दिन मैं अपनेको धन्य समझूँगा। और फिर, जीवनमें,

मरणमें, विहारमें, रणमें, सम्पत्तिमें, विपत्तिमें, जेलखानेमें और फाँसी घरमें, कहीं भी, तुम्हारी छाया न छोड़ूंगा। आज भी, मेरे हृदयकी पवित्रताके स्रष्टा तुम्हीं हो; आज भी, मेरी हृदय-गंगाके हिमाञ्चल तुम्हीं हो।"

मुझे तुम्हारे पत्रका यह अंश बहुत अच्छी तरह याद था, इसी लिये और; मैंने तुम्हें अपनी 'लेटेस्ट' जेल-यात्राकी सूचना नहीं दी। सोचा, कहीं तुम अपने पितासे विद्रोह कर बैठो और हमारे नेतृत्वमें आ रहो तो और भी मुश्किल हो जाय। ज़रा आँखें खुलनेपर मालूम होता है कि दुनिया ठीक वैसीही नहीं है जैसी हम सोचा करते थे। यह तो बड़ा भयानक रास्ता मालूम पड़ता है भाई। इस पथपर ऐसा कोई पथिक नहीं जिसके पाँव न थर्राते हों। चारों ओर हाय हाय हाय हाय! कर तो डर, न कर तो भी डर। झूठ बोलना भी पाप और, सच बोलना भी पाप। सज्जन होना, उदार होना, सहृदय होना, मनुष्य होना, तो महापाप है।

५

भला बताओ, ऐसी धोकेबाज़ और बेईमान दुनियामें तुम्हारे ऐसे रत्नको लेकर, अपने हाथोंमें उछालता हुआ, कौन चल सकता है ? कोई लूट ले, कोई छीन ले ?

तुम्हारा पत्र चार महीने बाद मिला था। बीचमें क्या घटनाएँ हुईं, तुम्हारा और तुम्हारी 'स्टूडेण्टा' महोदयाका क्या हुआ, मुझे ख़बर नहीं। मैंने सोचा कि सबसे पहले प्रयाग—तुम्हारे घर पर ही जाना ठीक होगा। बहुत दिन हो भी गये; एक बार सब आदमियोंको और सब स्थानोंको भर आँख प्रेमसे देख भी लूंगा। यह भी आशा थी कि, सम्भव है 'तू भी मिल जाय'। और इस आशाके साथ अनेक उप-आशाएं भी थीं। मगर वहाँ पहुंचने पर कुछ विशेष बात नहीं मालूम हुई। मालूम हुआ कि, तुम आजकल "अपने मन" के हुए जा रहे हो। सालों से घर नहीं आते, महीनों तक पत्र नहीं लिखते। लिखते भी हो तो केवल रुपयोंके लिये। जिस समय मुझसे और तम्हारे पिताजीसे बातें हो रही थीं उस

समय 'माँ' भी वहीं थीं। तुम्हारी चर्चा चलनेपर उन्होंने कहा—

"'बड़े', वह तो हम लोगोंको बिलकुल भूल सा गया है। एक सालसे ऊपर हो चला वह माँ को एक बार भी देखने नहीं आया। मैं 'छोटे' को ऐसा निर्दयी नहीं समझती थी। मैंने इनसे (तुम्हारे पिताजीकी ओर देखकर) हज़ार वार कहा कि छोटे को यहीं वुला लें। अव उसे कालेजसे अलग कर दें। समझा-बुझाकर व्याह दें। ज्यादा पढ़-पढ़ कर वह वे-हाथ हुआ जा रहा है। वही हमारे बुढ़ापे की लकड़ी है? वही हमारे धन-धान्य-की श्री है, वही हमारा सर्वस्व है। दशमी बीत गयी, दीवाली बीत गयी और मेरे बच्चेने मेरे हाथ से दूधका कटोरा नहीं लिया। अब क्या फिर जनम लेना है? अब क्या फिर-फिर पुत्र-सुख पाना है?"

क्षण भरके लिये रुककर और तुम्हारे पिताजी-के मुखकी ओर प्रश्न-वाचक दृष्टिसे देखकर उन्होंने फिर आरम्भ किया—

"यह 'छोटे' को भी डिप्टी कलेक्टर बनाने की धुनमें हैं। माँकी गोदसे फूलकी तरह सुन्दर बच्चेको छीनकर पुरुष अपने इच्छानुसार रंगमें उसे रंगता है। अपने साँचेमें ढालता है। और माँ, दूरसे खड़ी टुकुर-टुकुर ताका करती है। मानो बच्चेसे उसका कोई रिश्ता ही नहीं है। मैं नहीं चाहती, कि मेरा 'छोटे'। इतनी सम्पत्ति होते भी, किसी की गुलामी करे। हमारे कोई और भी है! मगर ; इन्होंने कभी किसी की सुनी है ? यह तो उसे डिप्टी कलेक्टर बना कर ही दम लेंगे। मैं चाहे जीऊँ या मरूँ। मेरा लाल देशमें रहे या परदेश में रहे।"

तुम्हारी माँकी आँखोंमें आँसू आ गये और, पिताजीका मुख रूक्ष हो गया। उन्होंने माँसे कहा—"आंसू निकल आये न ? मैं कहता हूं चुप रहो! मोहसे, नर्मीसे या माताके हृदयसे दुनिया नहीं चल सकती। दुनियामें पत्थरकी तरह घिस जानेके बाद 'शालिग्राम' बनने की बारी आती है।

कुलीकी तरह खटने पर पेट भर भोजन मिलता है। डिप्टी कलेक्टरी कुछ ज़हर नहीं है। उसीके प्रताप-से आज इतनी मान-मर्यादा है। मैंने अगर 'छोटे' को डिप्टी कलेक्टरीके पथ पर न लगाया होता तो वह भी आज तुम्हारे इन (मेरी ओर इशारा कर) 'बड़े' की तरह घरका न घाटका होता। कहीं लेक्चर देता होता और कहीं 'मुठिया' तहसीलता होता। कहीं अदालतमें दिखायी पड़ता, कहीं जेलमें। तुम केवल प्रेम दिखाना और आँसू बहाना जानती हो। मगर, दुनिया केवल प्रेम और आँसू ही नहीं है।"

माँने, पिताजीकी बातोंका विषय बदलना चाहा। उस समय उनकी आँखें पुकार रही थीं कि, 'छोटे' के विषयपर पति और पत्नीका मत एक होना असम्भव है। उन्होंने फिर मुझसे पूछा—

"बड़े, तू अपना व्याह क्यों नहीं करता ? एक बार जेल गया, दो बार गया—अब कब तक देश और गांधीजीके नामपर संसारी बातोंसे अलग

रहेगा ? पिछली बार जब 'छोटे' आया था तब उससे भी यही कहा था कि 'देख, मेरी चलती तो अबतक मेरी पतोहू घरमें आ गयी होती। ब्याहकी उम्र बीती जा रही है। अब लड़कपन न कर।' इसका उसने जवाब दिया कि पहले 'बड़े' को कहो कि वह अपनी शादी करे, तब मुझसे कहना। 'बड़े' को तुम अपना लड़का नहीं समझतीं ? बड़े, आदमी नहीं है ? जबतक वह ब्याह नहीं करता तबतक मैं भी नहीं करूँगा।"

मैंने कहा—"माँ, मैं तो अपना ब्याह ज़रूर करूँगा, मगर वैसे ब्याहसे तुम या तुम्हारे समाज वाले नाराज़ ही अधिक होंगे।"

"क्यों ? क्यों ? ब्याह होगा तुम्हारा और नाराज़ होंगे समाज वाले—क्यों ?"

तुम्हारे पिताजीने पूछा।

"समाज इस लिये नाराज़ होगा," मैंने मुस्कराते हुए उत्तर दिया "कि, मैं उसके नहीं, अपने इच्छानुसार अपना ब्याह करूँगा। इच्छा होगी कुमारी-

से, इच्छा होगी विधवासे। जो में आयेगा ब्राह्मण-बालिकाका पाणि-ग्रहण करूँगा, जीमें आयेगा किसी विजातिनी या विदेशिनीका। फिर, तुम्हीं बताओ माँ! इस व्यापारसे तुम प्रसन्न होगी? समाज खुश होगा?"

"यह भी कोई व्यापार है?" तुम्हारे पिताजी पुनः रूखे पड़े—"उच्छृङ्खलताको तुम 'व्यापार' कहते हो? यह तो समाजका और उसके नियमोंका सरासर अपमान करना है। समाजकी आज्ञा बिना विधवा-विवाह या असवर्ण-विवाह प्रचलित करना महा मूर्खता है। कमसे कम ऐसी कल्पना कोई समझ-दार आदमी तो नहीं कर सकता।"

मैंने कहा—"क्षमा कीजियेगा। अगर मैं किसी मुसलमानिनसे अपना ब्याह करूँ तो आपको मुझसे सम्पर्क रखनेमें कोई आपत्ति तो न होगी?"

"मुसलमानिन से??" भवों पर बल देकर उन्होंने कहा—"तुम तो तुम्हीं अगर मेरा ख़ास लड़का भी ऐसा दुष्टाचरण करे तो मैं उसे घरसे बाहर निकाल

दूँ। मैं ब्राह्मण हूं, मैं सनातनी हूं। इस नये-युगके क्षणिक और अशुद्ध प्रवाहमें मैं, प्राण देकर भी, अपनी पवित्र धाराको नहीं मिला सकता। महाशयजी, बाबू साहब, भैयाजी, अभी इस देशमें इस मतका प्रचार नहीं होगा—नहीं होगा—नहीं होगा।"

❀ ❀ ❀ ❀

यह तुम्हारे पिताजीकी राय हैं। और, मेरा दृढ़ विश्वास है कि वे अपने विश्वासपर दृढ़ हैं। अब तुम पूछ सकते हो कि—"तुम्हारी क्या सम्मति है?" इस प्रश्नका उत्तर हम तुमसे मिल कर ही देसकते हैं। तुम्हारी प्रकृति और तुम्हारी परिस्थिति पर विचार करनेसे मैं तो यही सोचने लगता हूं कि,

यह भी मुश्किल है वह भी मुश्किल है
सर झुकाए गुज़र करें क्यों कर।

मेरा कलकत्ता आनेका इरादा पक्का है। मगर तुमने 'धरम' लेने और 'चूमने' का निमन्त्रण दिया है। इस निमन्त्रणके लिये तैयार होकर आना होगा।

अभी बीवी नौकरशाही के मायके से आ रहा हूं। दाढ़ी रास्पुटिनकी तरह वढ़ी हुई है। सरके बाल जटाधारी की सम्पत्ति हो रहे हैं। तुम भावुक ठहरे, सौन्दर्योपासक ठहरे, 'नर्गिस'-वल्लभ ठहरे—मेरी लम्बी दाढ़ीको कैसे अपनाओगे ? इसी-लिये, जल्द से जल्द, थोड़ा वहुत 'चिकना' होकर तुम्हारी भुजाओंमें आ रहा हूं।"

सम्भवतः ७-८ अप्रैल तक आऊंगा। मगर ; एक शर्त हैं। एक दिन तुम्हें उनको ज़रूर दिखलाना पड़ेगा जिनकी आँखें ठीक वैसी ही हैं जैसी मेरी और, जो तुम्हारी नज़रोंमें मेरी वहनकी तरह हैं।

आशा है, कलकत्ता आने पर तुम्हें 'स-चुण्डी' और 'स-धोती' देखूंगा ; 'अ-चुण्डी' और 'स-लुंगी' नहीं।

तुम्हारा ही, प्यारे
श्रीगोविन्दहरि शर्म्मा



{५}

(पता—)

मेरे, मुरारीकृष्ण,

Room No. 36,

Calcutta-College Hostel ;

Calcutta.



जकरिया स्ट्रीट,
कलकत्ता
(बारहबजे रात)

......!

क्या क्या लक़ब हैं शौक़के आलम में यार के
काबा लिखूं कि, क़िब्ला लिखूं या खुदा लिखूं।

वाह वाह वाह वाह ! तीस बार सूरज निकला और डूब गया। लम्बे-लम्बे दिन चमके और स्याह पड़ गये ; बड़ी-बड़ी रातें आयीं और चली गयीं ; मगर, तुमने एक पुर्ज़ा तक नहीं भेजा ! इसी बीचमें मैंने छो ख़त तुम्हारे नाम कलकत्ता-कालेज-होस्टलके पतेसे भेजे, मगर, कोई नतीजा नहीं। तुम तो ऐसे नहीं थे। मेरे दिल, मुझे माफ़ करना, क्या पत्थर-परस्त पूरे पत्थरही होते हैं ?

तुम दे जानेको थे, रामायणकी एक अच्छी कापी ; क्यों नहीं दे गये ? मेरे पढ़ लेनेके बाद—तुम ले जानेको थे, प्रेमचन्दका 'सेवासदन,' मैथिली शरणकी 'भारत भारती' और चतुरसेन शास्त्रीका 'अन्तस्तल,' क्यों नहीं ले गये ? हफ्तोंसे ये किताबें मेरी मेज़की छातीपर सवार हैं। मैं तुम्हारी हूं, मेरी मेज़ तुम्हारी नहीं है। उस 'अनबोलती और अबला' पर ऐसा ज़ुल्म क्यों कर रहे हो ? तुमने कहा था कि..."१५ मईको तुम्हारा हिन्दीमें एस्तेहान लूंगा। देखूंगा ६ महीनेमें तुम उसे कितना समझ सकी हो।" फिर ? क्या हुआ उस एस्तेहानका ? क्यों नहीं आये ? बेरहम, तुम क्या जानोगे कि तुम्हारे एस्तेहानमें 'पास' होनेके लिये मैंने कितनी मिहनत, कितनी दिलचस्पी और कितनी कोशिशोंसे हिन्दी पढ़ी है। सैकड़ों किताबें फाँक गयी। पचासों कापियाँ रँग डालीं। पूरी 'विदुषी' एण्ड 'विशारदा' की लियाक़त हासिल कर ली। मगर, तुम न आये—न आये ! इसका क्या मतलब है ? क्या तुम चाहते

हो कि तुम्हारी बाँदी नर्गिस भी. 'मीरा' की तरह एक-तारा हाथमें लेकर 'मुरारी' के पीछे धूनी रमा दे? और, 'मेरे तो गिरिधर गुपाल दूसरो न कोई' की तानसे ज़मीन और आसमानको दहला दे? ऐसा भूलकर भी न सोचना। किताबोंकी मीराने 'कालेज' में 'इङ्गलिश' नहीं पढ़ा था और तुम्हारी 'नर्गिस' ने पढ़ा है। वह तो ज़रूरत पड़ने पर, मुहब्बतसे मुस्कुराकर कह देगी कि—"मधुकर, हम न होंहि वह वेली!"

अच्छा अब ज़रूरी बातें सुनो। मैं कलसे 'ज़करियास्ट्रीट' में अपने अब्बाके एक दोस्तके घरमें आ गयी हूं। इधर दो-तीन दिनोंमें दो-तीन बातें बड़े मार्केकी हुई हैं। जिनमें पहली बात यह है कि वह 'याकूबका बच्चा' (अब मैं उसे इसी नामसे पुकारूंगी) परसों फिर मुझसे मिलनेके लिये होस्टलमें आया था। वही, शामका वक्त था जिस वक्त तुम पहली बार मेरे हुए थे। मैं तुम्हारे ही इन्तज़ारमें होस्टल-गेटके सामने वाले बगीचेमें

टहल रही थी और क्या जाने किस-किस उधेड़-बुनमें मशगूल थी। एकाएक फाटक पर बाइसिकिल की घण्टीकी आवाज़ सुनायी पड़ी। मैं सिहर उठी। आंखें भर आयीं, चेहरेपर खून दौड़ने लगा। दिलने सोचा 'तुम आये !!' मगर कहाँ ? बाइसिकिल वाले पर नज़र पड़ते ही दिलकी मुहब्बतने नफ़रतका जामा पहन लिया। वह याक़ूब था !

"आपको मेरी उस दिनकी बातें याद नहीं रहीं न ? आपने अभी उस काफ़िरसे अपनेको अलग नहीं किया—क्यों ?"

मुझे बड़ा गुस्सा आया। मैंने तीखी आवाज़से उससे सवाल किया—

"आप किस हैसियतसे यहाँ बराबर तशरीफ़ ले आते हैं ? किसके 'परमिशन' से ?"

" 'परमिशन' और हैसियत ?" उसने मुँह बिगाड़कर जवाब दिया—"मैं उसीके 'परमिशन' से आता हूँ जिससे मुरारीकृष्ण आता है। रही हैसियतकी बात, सो, क्या आपकी नज़रोंमें एक शरीफ़ और

पढ़े-लिखे मुसलमानकी हैसियत या इज़्ज़त उतनी भी नहीं जितनी एक काफ़िर की ?"

"बस ख़त्म कीजिये," मैंने कहा "आपकी ये बातें मैं नहीं सुनना चाहती—नहीं सुन सकती। आप मेरे मालिक नहीं, गार्जियन नहीं। फिर मैं अपने मालिक, गार्जियन और खुदाकी बातें भी 'उनके' ख़िलाफ नहीं सुन सकती। आप मेरी भलाईके ख्वाहाँ हैं, मैं शुक्रिया अदा करती हूं। बस। अब आप तशरीफ़ ले जायं।"

उसने कहा—"नर्गिस;"

मैंने कहा—"चुप रहिये! मेरी मर्ज़ीके ख़िलाफ़ मेरा नाम लेकर इस तरह पुकारते हुए 'एक शरीफ़ और पढ़े-लिखे मुसलमान' को शर्म आनी चाहिये।"

उसने कहा—"ऐसी बे-वफ़ाई ठीक नहीं। मेरी हालत पर रहम करो। मैं खुदाकी क़सम खाकर कहता हूं नर्गिस, मैं तुम्हें प्यार करता हूं।"

"हा हा हा हा!" मैं हँसी—

कैसी वफ़ा, कहां की मुहब्बत, किधर का मेह्र
वाकिफ़ ही तू नहीं है कि होता है प्यार क्या?

६

प्यार धमकाता नहीं। प्यार किसीके रास्ते काँटा भी नहीं बनता और न बेशर्म ही होता है। मियाँ, तुम क्या जानो प्यार क्या है?"

उसने कहा—"मेरा प्यार मुसलमानका प्यार है। हिन्दूका प्यार बरफ़की तरह ठण्डा होता है। मेरा प्यार आगकी तरह धधकता हुआ है।"

"आग लगे तुम्हारे प्यारकी आगमें" मैंने गुस्सेमें कहा—"अब आप अपनी प्यारकी आगको मेरी आखोंसे दूर ले जाइये। मुझे ज्यादा जलाइये मत।"

उसने कहा—"तुम आगसे खेल रही हो!"

मैंने कुछ भी जवाब नहीं दिया। आँखें फेर लीं।

"क़सम ख़ुदा की" नाक फुलाकर और मुँह लालकर उसने कहा—"चाहे मेरी जान चली जाय मगर, मैं तुम्हें उस हिन्दू बच्चेके साथ हँसते देखना नहीं मंज़ूर करूँगा। याद रखो! अगर इस मामलेमें तुम नादानी और नासमझीसे काम लोगी तो पछताओगी। ख़ून हो जायगा।"

वह बकता ही रहा और मैं होस्टलकी ओर

लौटी। दिलमें आया कि उसी वक़्त तुम्हें एक तार देकर फटकारूँ कि तुम इस याकूबके बच्चेसे मुझे क्यों नहीं बचाते ? मगर फटकारती किस बूते पर ? तुमने तो महीने भरसे मेरी ख़बर तक नहीं ली। एक बार सोचा—इसी वक़्त कलकत्ता-कालेज-होस्टलमें जाकर तुम्हें ढूंढूं। मगर, फिर तुम्हारी बातें याद आयीं। तुमने होस्टलमें न आनेके लिये मुझसे वादा करा लिया है। तुमने कहा था कि—"कालेज-होस्टलोंके निन्नानवे फ़ी-सदी युवक इस योग्य नहीं होते कि शरीफ़ औरतें उनके बीचमें घूम फिर सकें।" लाचार, मैं झखमार कर अपने रूममें जाकर पड़ रही। मगर फिर भी चैन न पड़ा। तुम बहुत याद आये—बहुत याद आये। प्यारे, क्या दिलकी इसी कचोटका नामही मुहब्बत है ? क्या मुहब्बतके नाम 'लम्बी साँसें' 'आँसू' और 'वेकल-करवटें' हैं। आह !

न था मालूम उल्फ़तमें कि ग़म खाना भी होता है,
जिगर की वेकली औ' दिलका घबराना भी होता है।
सिसकना, आह करना, अश्क भरलाना भी होता है,
तड़पना, लोटना, बेताब हो जाना भी होता है।

यही सब सोचते-सोचते मेरी आखें लग गयीं। इसके बाद किसीने खानेके लिये जगाया था ऐसा याद आता है, मगर, मैं खाती क्या। मेरी भूख तो महीने भर से न जाने कहां ग़ायब हो गयी है।

दूसरे दिन सुबह-सुबह किसीने ख़बर दी कि कामन-रूममें बैठकर कोई शख्स मेरा इन्तज़ार कर रहा है। मैं घबरायी। खुदा ख़ैर करे, आज सुबह से ही किसने धरना दिया है। वहां जाने पर देखा, इन्तज़ार करने वाले शख्स मेरे अब्बा जान थे। उन्हें एकाएक कलकत्तामें और सवेरे-सवेरे अपने होस्टलमें देखकर मेरे फ़रिश्ते कूच कर गये। देखनेके साथ ही हज़ार तरहके ख़यालात माथेमें चक्कर काटने लगे।

"नर्गिस!"

"अब्बा,"

"मुझे इस तरह एकाएक अपने सामने देखकर तू तअज्जुबमें आ गयी होगी? क्यों?"

मैं चुप रही।

"मैं," अब्बा बोले "तुझे लखनऊ ले जानेके

लिये आया हूं। आजही दोपहरकी गाड़ीसे चलना होगा।"

मेरे चेहरेपर हवाइयां उड़ने लगीं, छाती धड़कने लगी, आंखोंके सामने अन्धेरा-सा दिखायी पड़ने लगा। क्या अब्बासे भाभीने सारी बात बता दीं? ज़रूर ऐसा ही हुआ होगा। नहीं तो ये इस तरह कलकत्ता कभी न आते। अब इनसे कैसे बात करूँ? क्या कहूं, क्या न कहूं? अब्बाकी ग़ैर-हाज़िरीमें मैं अपने दिलको जितना मज़बूत समझती थी उनका सामना होते ही वह सब मज़बूती काफ़ूर हो गयी। थोड़ी देरके लिये मेरी दुनियामें केवल दो आदमी रह गये। एक, गुस्सावर, संगदिल और ज़बरदस्त अब्बा और दूसरी 'उनकी सूरत और आंखोंसे कांपनेवाली' मैं। मुझे ऐसा मालूम पड़ा कि मैं बेहोश होकर गिर पड़ूँगी। मगर, उसी वक्त तुम्हारी हँसती हुई तस्वीर मेरी आखोंके सामने फिर गयी। मैं सँभल गयी। मुझे मालूम पड़ने लगा कि तुम्हारी मुस्कराहटके सामने अकेले अब्बा

तो क्या सारी खुदाई का गुस्सा भी कोई चीज़ नहीं।

अब्बाने कहा—"चुप क्यों खड़ी हो चलनेकी तैयारी करो। मैं अभी तुम्हारी वार्डेनसे भी बातें करता हूं। अब तुम्हारी पढ़ाई ख़त्म हो गयी।"

"क्यों?" मैंने पूछा।

"यों हीं। मैं यही मुनासिब समझता हूं।"

मैंने अपने जिस्मकी तमाम ताक़त ज़बानमें एकट्ठी कर उनसे कहा—

"अब्बा, मैं तो अभी पढ़ूंगी।"

"अच्छी बात है, पढ़ना। मगर कलकत्तामें नहीं घरपर। किसी मेमको ठीक कर दूँगा।"

मैंने कहा—"मैं यहीं रहकर पढ़ना चाहती हूं।"

अब्बाने कड़ी आवाज़से जवाब दिया—"अब यह ग़ैरमुमकिन है। मैं इस बातपर ज्यादा बहस नहीं करना चाहता मगर, यह कहे देता हूं कि मुझे तुम्हारी रत्ती-रत्तीकी ख़बर है। मेरी बातोंका मतलब अगर और साफ़ समझना हो तो लो—देखो।"

अब्बाने एक लिफ़ाफ़ा मेरे सामने फेंका।

उसमेंका ख़त निकालकर मैंने पढ़ा। वह याकूबका लिखा हुआ था। उस शैतानने 'हमारी बातों' में खूब नमक-मिर्च लगाकर मेरे अब्बाको लिखा था कि, अगर आप जल्दही कोई तरकीब नहीं सोचेंगे तो आपकी बड़ी बदनामी होगी। और आपकी लड़की एक काफ़िरके साथ निकल जायगी।

"खतकी बातें ग़लत हैं ?" अब्बाने जबाब माँगा।

मैंने भी मज़बूतीसे जवाब दिया—"नहीं,"

"इसी लिये मैं तुम्हें यहांसे घर ले जानेको आया हूं।"

"माफ़ करना अब्बा" मैंने कहा—"इसी लिये मैं यहाँसे घर नहीं जाना चाहती, नहीं जाऊँगी। मैंने तय कर लिया है ?"

"क्या तय कर लिया है ?" गरज कर अब्बाने पूछा।

"यही कि मैं उन्हींसे......।"

"बे-शर्म, बेवकूफ़! तूने मेरे ख़ान्दानमें धब्बा लगाया है।"

"मुहब्बत का नाम 'धब्बा' नहीं है अब्बा।"

"वह काफ़िर है, हम मुसलमान हैं। वह हज़ार भला होने पर भी हमारे लिये बुरा है।"

"वह आदमी हैं, हम आदमी हैं। हममें न कोई काफ़िर है और न कोई मुसलमान।"

मेरी बातोंसे वे बहुत नाराज़ हो गये। उनकी आंखे लाल हो गयीं, सरके बाल खड़े हो गये। वे, कमरेमें धम्म-धम्म पैर पटक कर टहलने लगे।

"तू अन्धी है नर्गिस,"

"आजकी दुनियाकी आखोंसे देखनेसे अन्धी रहना ही अच्छा है। वे आखें किस कामकी जो आदमीको नफ़रत, बुग़्ज़ और कीनेकी शक्लमें देखें। मैं तो सीधी-सीधी बात जानती हूँ। दुनिया ख़ुदाकी है, शेख़ ख़ुदाके हैं, बिरहमन ख़ुदाके हैं, काफ़िर ख़ुदाका है और मुसलमान भी ख़ुदाका है।"

अब्बा चुप रहे। कुछ सोचते और टहलते रहे। इसके बाद कहने लगे—

"मैं सूफ़ी साहबके यहाँ ठहरा हूं। आज वहां

एक मज़हबी जलसा है। हमारा वहाँ रहना बहुत ज़रूरी है। उन्होंने तुम्हें भी बुलाया है। चलो, टैक्सी खड़ी है।"

मैंने कहा—"अभी कपड़े पहन कर आती हूं।"

टैक्सी पर बैठने पर अब्बाने कहा—"नर्गिस, अगर मैं इसी वक्त तुझे लेकर स्टेशन चला चलूँ तो ?"

मैंने कुर्तीके जेबसे एक डिबिया निकाल कर उन्हें दिखलाया—

"यही मुझे लखनऊ जानेसे बचायेगा।"

"इसमें क्या है ?"

मैंने, अपने होशमें, अब्बाके सामने पहली बार मुस्कराकर कहा—

"ज़हर !"

* * *

सूफ़ी साहब बड़े नेक आदमी हैं। सिर्फ़ कलकत्तामें ही नहीं हमारे 'प्राविन्स' में भी इनकी इज़्ज़त है। मैं इन्हें बचपनसे ही जानता हूं। ये सालमें

एक बार हमारे यहाँ ज़रूर जाते हैं। सूफ़ी साहबके हज़ारों मुरीद हैं। उनकी आमदनी भी कई हज़ार सालानाकी है। मगर उनकी आमदनीका एक-एक पैसा ग़रीब और मुफ़लिस, यतीम और बेवाके पेटमें जाता है। वे यहाँ ज़करिया स्ट्रीटके... नम्बरके मकानमें रहते हैं।

जिस वक्त टैक्सी उनके दरवाज़े पर पहुंची, उनके घरमें क़व्वाली हो रही थी। कई मुसलमान ताली बजा-बजा कर गा रहे थे। बाहरसे ही साफ़ मालूम पड़ता था कि पहले सूफ़ी साहब अकेले गाते थे; बादको बाकी लोग एक साथ। टैक्सीसे उतर कर हम मकानमें घुसे। मगर थोड़ी ही दूर चलने पर मैंने अब्बा को रोका—

"थोड़ी देर ठहर जाइये, यह क़व्वाली ख़त्म हो ले तब चलियेगा। नहीं तो सूफ़ी साहब की मस्ती का तार टूट जायगा।"

अब्बा घरके भीतरी बरामदेमें रुक गये। गाने वालोंका गाना चलता रहा—

बुतमें भी तेरा या रब,
जल्वा नज़र आता है,
बुत-खानेके पर्देमें
काबा नज़र आता है।

ओहो हो! कैसे मौकेसे हम लोग पहुंचे थे। कसा मौकेका गाना था। पहला शेर सुनते ही मैंने अब्बासे कहा—

"अब्बा, सुनते हैं?"

अब्बा दाढ़ीपर हाथ फेर कर 'सीरियस' हो गये। गाने वाले आगे बढ़े—

दिल और कहीं ले चल
ये दैरो-हरम छूटें,
इन दोनों मकानोंमें
झगड़ा नज़र आता है।

मेरी आँखें भर आयीं, गला भर आया। ऐसी लकीरोंका लिखनेवाला शायर था या खुदा? मैंने फिर अब्बाकी ओर देखा। मगर उनकी आखें बन्द थीं। वे खम्भेसे टिके हुए न जाने क्या सोच रहे थे।

माशूक़का रुतवा तो
महशरमें कोई देखे,
अल्लाह भी मजनूँको
लैला नज़र आता है।
इक क़तरए-मै जब से
साक़ीने पिलाया है,
उस रोज़से हर क़तरा
दरिया नज़र आता है।

"अब्बा !"

"चुप रहो !—चुप रहो !!"

साक़ीकी मुहब्बत में
दिल साफ़ हुआ इतना,
जब सरको झुकाता हूँ
शीशा नज़र आता है।
बुतख़ानेके पर्देमें काबा नज़र आता है।

गाना ख़त्म हो जानेके बाद मेरे सर पर हाथ फेरते हुए अब्बाने कहा—

"नर्गिस, तू ठीक कहती है। मेरा दिल कह रहा है, तू ठीक कहती है। मैं अब तक उसे और तुझे

धोका देने और दुनियाको खुश करनेकी कोशिश कर रहा था। मगर, इस वक़्त इस क़व्वालीके बहाने अल्लाहने मेरे मुंह पर थप्पड़ मारा है। बेशक—इन दोनों मकानोंमें झगड़ा नज़र आता है। बेशक, बेशक! मेरे बाल पक गये, मेरी आंखें कमज़ोर हो गयीं, मैं चन्द दिनोंका मिहमान इस सचाईको क्यों छिपाऊँ?"

"अब्बा, अब्बा!" मैं उनके क़दमोंपर गिर पड़ी—"मेरे अब्बा, मेरे अच्छे अब्बा!"

"तू न रो—तू न रो बेटी! रोना मुझे चाहिये—रोना मुझे चाहिये। ग़लत रास्तेपर मैं था, मैं हूं। मैं आजसे नहीं तेरी पैदाइशके पहलेसे ही यही सोच रहा हूं कि, 'बुतख़ानेके पर्देमें काबा नज़र आता है।' इसमें तेरा कोई क़ुसूर नहीं। तू मेरे दिलकी तस्वीर ही तो है? इसमें तेरा कोई क़ुसूर नहीं।"

उसी वक़्त सूफ़ी साहबके पीछे १५-२० आदमियोंकी भीड़ मकानसे बाहर आती दिखायी पड़ी। उन आदमियोंमें 'याक़ूबका बच्चा' भी था। उसकी ओर नफ़रतसे इशारा कर मैंने अब्बासे कहा—

"अब्बा यही वह साहब हैं जिनका ख़त सुबह आपने मुझे दिखाया था।"

याकूबने अब्बाको सलाम किया।

उसे दोआ देकर हाथ मिलाते हुए अब्बाने कहा—

"भाई, मैं तुम्हारे अहसानोंके बोझसे दबा हूं। तुमने यहां बुलाकर मेरी आखें खोल दीं। अब मुझे पूरा एतबार हो गया कि 'बुतख़ानेके पर्देमें काबा नज़र आता है।"

उस याकूबकी समझमें कुछ भी न आया। वह भौचक्कसा होकर अब्बाका संजीदा और मेरा ख़ुश चेहरा देखने लगा।

उफ़, माइ डीयर डीयर! ख़त बेतरह लंबा हुआ जा रहा है। बारह बजे रातसे लिखने बैठी हूं, और ताक़में रखी हुई सूफ़ी साहबकी 'टाइमपीस,' पौने चारकी ओर इशारा कर रही है। इस वक़्त भी मेरी आखोंमें तुम्हीं हो, इसमें कोई शक नहीं; मगर तुम्हारी मस्ती नींदसे भी बढ़ी हुई है। सुबह १०

बजेसे ही अब्बा और सूफ़ी साहब एक कोठरीमें बन्द होकर क्या जाने क्या-क्या मशवरा कर रहे हैं। खानेको नहीं निकले, पाख़ानेको भी नहीं निकले। कभी-कभी अब्बा जोशसे चिल्लाकर बातें कर रहे हैं और कभी-कभी सूफ़ी साहब। मगर, घबरानेकी कोई बात नहीं। आसार अच्छे नज़र आ रहे हैं। मिहरबाँ हो जायगें, ठहरो, सहर होने तो दो!

अब ख़त लिखते-लिखते नींदसे बेहोश हुई जा रही हूं। देखो, यह क्या करते हो? आखोंके आगे आकर मुस्कराने क्यों लगे? उफ़; मेरे 'देवता'! तुम कितने खूबसूरत कितने भले—कितने अच्छे—!

फूल, गुल, शम्सो क़मर सारे थे,
पर हमें इनमें तुम्हीं भाये बहुत।

३ अप्रैल १९२६
१० बजे दिन।

९ बजे नींद खुली! उस वक्त देखा अब्बा और सूफ़ी साहब दोनों ही मेरे ऊपर बड़े मिहरबान थे। अब्बा तुम्हें देखना चाहते हैं। सुना? समझे? मेरे

राजा! आह! मेरे दिलसे ख़ुशीका फ़व्वारा छूटना चाहता है। तुम कहाँ हो?

४ बजे दिन।

न आना! न आना, प्यारे! इस वक़् तो इस मुहल्लेमें आग सी लगी हुई है। सुना है शहरमें कहीं दंगा हो गया है। आर्यसमाजियोंके जुलूस पर मुसलमानोंने हमला किया है। यह मुहल्ला मुसलमानोंसे भरा हुआ है। सभी कट्टर, हज़ारों ख़ूंख्वार और सैकड़ों बदमाश। छुरे और गंडासे, भुजाली और तलवारोंकी पुकार मची हुई है। मालूम पड़ता है भारी दङ्गा होने वाला है। मैं कहती हूं न, आग लगी है!

इस तूफ़ानमें तुम इधर न आना, मेरे दिल! न आना—न आना—न आना—न आना—!

तुम्हारी

नर्गिस+मुरारी

P. S. न आना—न आना—न आना!

(पता—)
श्रीमती सुमित्रा देवी,
C/o पण्डित जयकृष्ण शर्मा,
दारागञ्ज, प्रयाग।
Allahabad

कलकत्ता-कालेज होस्टल,
कलकत्ता
६ अप्रैल १९२६ ई०

माँ,

चरणोंमें सस्नेह, स-भक्ति, सादर प्रणाम।

अभी गत ३ सरी अप्रैलको एक पत्र तुम्हारी सेवामें भेजा था। वह तुम्हें मिल भी गया होगा और, बहुत संभव है उस पत्रको पातेही, पिताजीके साथ; अपने एक मात्र पुत्रको 'विधर्मी' होनेसे बचानेके लिये तुम कलकत्ता आती भी हो। तुम्हारे फ़ौरन कलकत्ता चले आनेका एक कारण और भी हो सकता है। याने, यहाँके दंगेका समाचार। मगर, मगर देखो माँ, इस पत्रमें मैं जो कुछ लिख रहा हूँ उसके अक्षर-अक्षरपर विश्वास करना। और, जब-

तक मेरा दूसरा पत्र न जाय, तबतक, किसी भी हालतमें इस ओर पैर न उठाना! इस समय यह शहर नरकका अखाड़ा बना हुआ है। मालूम पड़ता है, यहाँ पर अंग्रेजी राज्य है ही नहीं; चारों ओर डण्डा-शाही, ईंटा-शाही, छुरा-शाही, तलवार-शाही, गुण्डा-शाही, औरङ्ग-शाही और नादिरशाहीका बोल-बाला है। धूर्त नौकर-शाही, अपवित्र नौकर-शाही और इन सब खुराफ़ातोंकी जड़ नौकरशाही इस समय छूंघरमें मुहँ छिपाये है। अंग्रेजी राज्यकी शक्ति उसके थानों और फ़ोर्ट-विलियमकी बैरकोंके भीतर बैठकर हिन्दू-मुसलमानोंके सौभाग्य-गढ़में सुरंगें लगा रही है और अपने भयंकर काले—हाथों-कोद्दृढ़ बना रही है। हत्या, षड़यन्त्र और उथल-पुथलका नामतक सुन लेनेपर, उग्र-रूपसे दमन-ताण्डव करनेवाली बृटिश-नीति इस समय कूट-लीला-रत है। सड़कोंपर भायँ-भायँ हो रहा है और गलियोंमें सायँ-सायँ। पूज्य पिताजी यदि अंग्रेजी राज्यका यह रूपरंग देख लें तो इसे राम-राज्यके

पवित्र नामसे पुकारना तो अवश्य छोड़ दें। चाहे इस समय यहाँके अंग्रेज़ी महल्लोंमें भलेही शराब-कबाब, नाच और संगीत-स्वर पूर्ववत् ही चलते हों मगर हिन्दुस्तानी मुहल्लोंमें तो आफ़तका नज़ारा है। पान-बीड़ीसे लेकर हीरा-मोती तककी सभी दूकानें बन्द हैं, बाज़ार बन्द हैं, और कितने 'घरोंमें ताले पड़े हुए हैं।'

यह पत्र बड़ी मुशकिलसे लिख रहा हूं। तुम्हारे हाथों तक यह पहुंचेगा या नहीं इसमें भी सन्देह है। डाकखाने बन्द हैं। न तो 'डिलेवरी' होती है और न 'डिस्पैच'। किस हिन्दू या मुसलमान डाकियेमें इतना साहस है जो डाक पहुंचानेका भार लेकर अपने प्राणोंको ख़तरेमें डाले। गुप्त और सांघातिक आक्रमणोंके मारे घरके बाहर निकलना मुश्किल हो रहा है। हमारा होस्टल चौथी अप्रैलसे ही बन्द है। तीन दिनोंसे मुसलमान गुण्डे लगातार हमारे छात्रावास पर धावा कर रहे हैं। दंगेके पहले होस्टल-में रहने वाले विद्यार्थियों और नौकरोंकी सम्मिलित

संख्या १३५ थी। सौ हिन्दू तथा पच्चीस मुसलमान विद्यार्थी और दस सब तरहके नौकर; जिनमें, दो मुसलमान भी थे। मुसलमानोंके पहले धावेके वक्त ही मौका पाकर सबके सब मुसलमान विद्यार्थी और एक मुसलमान नौकर; मय अपने सामानके होस्टल-के बाहर न जाने कहाँ चले गये। बस एक बुड्ढे और नेक, खुदासे डरनेवाले और शरीफ़ मुसलमान-ने, इस घोर संकटकालमें भी हमारा साथ नहीं छोड़ा। वही इस होस्टलका पन्द्रह बरस पुराना मुसलमान बावर्ची है। जब होस्टल छोड़कर जाने-वाले मुसलमान लड़कोंने उससे भी चलनेको कहा तो उसने गम्भीरवदन होकर उत्तर दिया कि—"ना बाबा, यह मुझसे नहीं होनेका। पन्द्रह-बरससे जिन-का नमक खा रहा हूं उन्हें ऐसी मुसीबतमें छोड़कर मैं यहाँसे बहिश्तमें भी नहीं जाऊंगा। यह तो बेव-कूफोंकी लड़ाई है। ये आज नहीं तो कल सही झख-मारकर आपसमें मिलनेकी कोशिश करेंगे। झख मारकर भैया, मेरी बातें याद रखना कि कोई

बेवकूफ़ कभी कुछ कह रहा था। फिर ऐसे लोगोंका साथ देकर मैं अपने दिल और ख़ुदाको क्यों नाराज़ करूं ?" जाने वालोंने कहा—"मुसलमानोंने इस होस्टलमें आग लगाने और इसमें रहने वालोंको क़त्ल करनेका इरादा किया है। मुमकिन है यहाँ रुकनेमें तुम्हें अपनी जान भी खोनी पड़े।" उसने दृढ़तासे मुस्कराकर जवाब दिया—"अरे भैया, जहाँ इतने आदमी हैं वहाँ कोई डर नहीं। इतने लोगोंके साथ मरनेमें भी मज़ा मिलेगा।" माँ, इसी शरीफ़ मुसलमानने मेरे ऊपर कृपा कर यह वादा किया है कि यह चिट्ठी किसी-न-किसी तरह बच-बचाकर हवड़ा स्टेशनके डाक-खानेमें छोड़ आवेगा। इसीकी कृपाके बलपर यह पत्र लिख रहा हूं। मेरा 'कमरा' सड़क और होस्टल-गेटके ठीक सामने तिमंजिले पर है। मैं खिड़कीके पास एक कुर्सीपर बैठा हूं और सामने एक स्टूल रखकर उसीसे मेज़-का काम ले रहा हूं। मेरे चारों ओर ईंटें, पत्थरके टुकड़े, लकड़ियाँ और छोटे-बड़े कई लोहेके टुकड़े

रखे हुए हैं। यह इस लिये कि अगर एकाएक मुसलमानोंका दल चढ़ आये तो उसका इन्हींसे स्वागत किया जाय। होस्टल-भण्डारकी भोजन-सामग्री तीसरी अप्रैलकी शामसेही समाप्त होगयी हैं। मैंने पहले पत्रमें तुम्हें लिखा है कि, इधर ३०-३५ दिनों तक मैं बुरी तरह बीमार था। अब इसी कम-ज़ोरीकी हालतमें तीन दिनोंसे उपवास भी कर रहा हूं। हम लोगोंके पास लकड़ी, ईंट, मेज़, कुर्सी, बर्त्तन, कपड़े, कागज और किताबोंको छोड़ ऐसी कोई भी चीज़ नहीं जिसे हम खा सकें। हमारे तीन ओर मुसलमानोंकी बस्ती है और एक ओर हिन्दु-ओं की। हमने टेलीफ़ोन से पुलीस और हिन्दुओंसे सहायता भी माँगी है। दोनों ही ओरसे सहायता देनेकी आवाज़ भी आयी है मगर, फिर भी हम तीन दिनोंसे उपवास कर रहे हैं। हिन्दू तो इधर, मेरा ख़याल है आही नहीं सकते, क्योंकि इस ओर मुसल-मान उनसे कहीं ज़बरदस्त हैं। रही पुलीस। उसने आज सुबह एक बार, होस्टल-गेट पर खड़े होकर

हुरदंग मचाने, ईंटें फेंकने, गाली बकने और 'बाहर निकलो साले तो देखूँ !' की आवाज़ लगाने वालों-को एक ओर खदेड़ा भी था मगर, व्यर्थ। पुलीसके हटते ही दूसरी ओरसे अल्लाहके अन्धे-बन्दोंकी दूसरी टोली हमारे सिरपर सवार हो गयी।

हम, याने हम हिन्दू लोग, बड़े विचित्र हैं माँ। दूनकी लेना और चौगून की हाँकना बहुत जानते हैं। मगर, जब असली वक़् सामने आता है तब अगल-बगल झाँकने, सर खुजलाने और खाँसने-खूंसने लगते हैं। हमारी जगह पर अगर सौ मुसल-मान, अंगरेज़ या सिख होते तो कभी भी ऐसी ज़िल्लतमें रहना मंजूर न करते। फिर, चाहे उनमेंसे दस-बीस या पचीस समाप्त ही क्यों न हो जाते। मगर, जो जीते रहते वह शानसे जीते रहते। हम सौ हैं। नौकरोंको मिलाकर हमारी तादाद एक सौ नौ है। हमारे पास सैकड़ों कुर्सियाँ, बीसों छुरे और अनेक डण्डे हैं। अगर हम सब एक बार हिम्मत करके मुसलमनोंका सामना करें तो एकाएक

हमारा हारना और अपमानित होना मुश्किल हो जाय। मगर वह हिम्मत हममें नहीं। यहाँ तो कोई बीबीका नाम लेकर कलप रहा है और कोई माँको याद कर औरतोंकी तरह आँसू टपका रहा है। कुत्तोंकी तरह जान देनेको सभी राज़ी हैं, शेरोंकी तरह मरनेको कोई तैयार नहीं। यह हमारी ही नहीं वर्त्तमान हिन्दू जातिकी भयानक कमज़ोरी है। और, इस कमज़ोरी का ही हमारे मुसलमान दोस्त फ़ायदा उठाते हैं। हम देवता-देवता चिल्लाते हैं मगर जब वे लोग हमारे देवताके रथ पर धावा करते हैं, तब हमारा देवता-प्रेम काफ़ूर हो जाता है। हम देवता को, अपनी नज़रोंमें, विजातियों और विधर्मियोंके मुखका थूक पीने, जूते खाने और कुचले जानेके लिये छोड़ अपने अनमोल प्राणों को लेकर भाग खड़े होते हैं। हम बाजा-बाजा चिल्लाते हैं मगर सरकार या मुसलमानों की एक चपत सर पर बैठते ही हमारी चिल्लाहट मन्द पड़ जाती है। हम अपनी बात, अपने धर्म, अपने देवताके लिये प्राण दे देना नहीं जानते।

बस सारी ख़ुराफ़ातों की जड़ यही है। संसारमें कमज़ोर होना ही पाप है। संसारके सारे पापोंके ज़िम्मेदार वे नहीं हैं जो अत्याचार या व्यभिचार करते हैं, बल्कि, वे हैं जो अत्याचारों और व्यभिचारोंको सहते हैं। इस समय संसारकी सबसे बड़ी पापिनी जाति—हिन्दू-जाति है। इधर चार-पाँच सदियोंसे उसका पतन पर पतन हो रहा है। वह गिर रही है—गिर रही है—गिर रही है। विदेशी और विजातीय, अपवित्र और नरकके कीड़े सदियोंसे हमारी माताओं, बहनों, बेटियों और बहुओंका पग-पगपर अपमान करते हैं, अपहरण करते हैं, और उनपर पाशविक अत्याचार करते हैं और हम,—बड़े-बड़े मायावी नेताओंके शब्दोंमें—'जिनकी नसोंमें राम और कृष्ण और परशुराम, प्रताप और शिवा और गुरु गोविन्द, इन्द्र और वरुण और कुवेरका रक्त प्रवाहित होरहा है' इन अत्याचारोंको देखते हैं और देखते हैं। दुर्बलोंकी तरह देखते हैं, गिरे हुओंकी तरह देखते हैं, नीचोंकी तरह देखते हैं, निर्लज्जोंकी तरह देखते

हैं, कायरोंकी तरह देखते हैं, नामर्दोंकी तरह देखते हैं।

ठहरो! देखो, फिर हल्ला मच रहा है, शायद वे फिर धावा करने आ रहे हैं। आह! बड़ी कमज़ोरी मालूम पड़ रही है, अभी बहुत कुछ लिखना और कहना-सुनना है। माँ! कौन जाने इस हाय-हायमें दूसरा पत्र लिखनेके लिये जीता रहूँगा या नहीं।

अभीको सब गये हैं। दो-तीन सौ से कम नहीं थे। इस बार एक नयी और मार्के की बात हुई है। इस दलका नेता वही था जिसका परिचय मैंने अपने पहले पत्रमें तुम्हें दिया था। उसका नाम याकूब है। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि वह हमारे कालेज का बी० ए० का विद्यार्थी है। मैंने यह भी लिखा है कि वह भी उस मुसलमान कन्याको पसन्द करता है। दो-एक बार उसने नर्गिससे पत्र-व्यवहार करनेके लिये इशारे-इशारे मुझे सचेत भी किया था। एक बार तो हँसते-हँसते साफ़ कह बैठा था कि देखिये जनाब, आपकी यह मुहब्बत मज़-

हबी जामा पहन लेने पर ख़तरनाक भी हो सकती है। उस वक़्त मैंने, दिलमें कुछ विचलित होकर भी, उसकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। मगर आज तो वह बड़ा भयानक रूप धारण कर आया था। हाथमें तलवार लिये, लुङ्गी लगाये और दो-तीन सौ धर्मान्धों और आवारे-बदमाशोंको साथ लिये होस्टलके फाटक पर आकर उसने पहले आवाज़ दी—

"मुरारी कृष्ण! अजी ऐ पर्देमें रहनेवाले आशिक! ज़रा घूँघटके बाहर भी मुँह निकालो!"

मैंने खिड़कीके शीशेसे बाहर झाँककर उसे देखा। आख़िर हमारा साथी था, सहपाठी था। बड़ा ढाढ़स हुआ। मैंने पुकारा—

"भाई याकूब, यह सब क्या हो रहा है? वह देखो! उन्हें रोकते क्यों नहीं? इस तरह पत्थर और सोडावाटरके बोतल फेंके जायंगे तो मैं तुमसे कैसे बातें करूंगा!"

उसने कहा—"आज तुझसे नहीं तेरी जानसे बातें होंगी। तू 'कावर्ड' बिलके बाहर निकलता ही

नहीं। तू काफ़िर है, तेरी माँने ऐसा दिलेर-दूध ही नहीं पिलाया होगा जैसा हम मुसलमानों की माएं पिलाती हैं। सुन! अब मैं ज़बरदस्ती कल तेरी माशूका नर्गिसको उसके डेरे परसे उठा लेजाऊंगा। इस वक़्त मेरे साथ सैकड़ों क्या हज़ारों आदमी हैं। किसी मसजिदमें लेजाकर कल ज़बरदस्ती उसे अपनी बीवी या बाँदी बनाऊंगा। चूमूंगा-लिपटाऊंगा.........।

"ठहर! वह...काफ़िर लोग उस गलीसे आ रहे हैं। मैं इस वक़्त उनका सामना नहीं करना चाहता। हट जाता हूं! और, देख। ले। यह ख़त तुझे दे जाता हूं। यह उसी इसलामको बदनाम करनेवाली बदमाश छोकरीका लिखा हुआ है। उसने इसे तेरे पास भेजा था मगर मैंने अपनी जासूसीसे रास्तेमें ही हथिया लिया। उसका बाप भी इस वक़्त पागल होकर अपनी लड़की की 'पट्टी' से पढ़ रहा है। मगर कोई हर्ज नहीं। मैं कल सब ठीक कर दूंगा।"

"तुझे आगाह करने आया हूं। बताने आया हूं। मैं कल उसे अपने कब्ज़ेमें करूंगा जिसे तू अपनी बीबी समझना चाहता है। हो सके तो सामने आना और उसके होठों को मेरे होठों की रगड़से, उसके सीने को मेरे सीनेके दबावसे बचाना !"

इतना कह कर अपने दलके साथ वह आगे बढ़ गया और एक खुला लिफ़ाफ़ा होस्टलके बन्द फाटकके भीतर फेंकता गया। उसके पीछे ही, हमारे भाग्यसे, हिन्दुओं का भारी दल आया है। उसके नेता हमारी हालत सुन और देख कर व्यग्र हो रहे हैं और हमसे कह रहे हैं कि इस मकान को छोड़ कर हम उनके साथ सुरक्षित स्थानमें चले चलें। हमारे साथी तैयार हो रहे हैं और मैं तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूं। माँ ! याक़ूबके फेंके हुए लिफ़ाफ़को मंगा कर मैंने पढ़ा। वह उन्हींका पत्र है जिनके बारेमें इसके पहलेवाले पत्रमें मैंने हृदय खोल कर तुम्हें रत्ती-रत्ती बता दिया है। वह मेरी पत्नी हो चुकी हैं, मैं उनका पति हो चुका हूं। इस समय

सचमुच याकूब उनका अपमान कर सकता है। मुसलमान उत्तेजित होने पर जो कुछ न कर डाले थोड़ा है।

सामने मुसलमान बावर्ची खड़ा होकर पत्र जल्द ख़त्म करनेका आग्रह कर रहा है। आधेसे ज्यादा विद्यार्थी अपना बोरा-बिस्तर सँभाल कर फाटक पर खड़े हिन्दू-दलमें जा मिले हैं। अब मैं भी पत्र समाप्त कर इस मकानके बाहर जाता हूं।

मगर—माँ! मैं कल ज़करिया-स्ट्रीट ज़रूर जाऊंगा। उसने तुम्हारे दूधका ताना दिया है, हिन्दूजातिको ललकारा है और एक हिन्दूकी हृदय-प्रतिमाको भ्रष्ट करनेकी धमकी दी है। प्राण देकर भी मैं याकूबके सामने डटा रहूंगा। माँ! यह तुम्हारे दूध का सवाल है और धर्मका सवाल है। मेरे मानका सवाल है और मनुष्यताका सवाल है। यहाँ झुकना ठीक न होगा। ऐसी अवस्थामें मर जाने पर भी मैं तुम्हारा मुख उज्वल और तुम्हारा हृदय गद्गद कर दूंगा।

रोना मत, घबराना मत, और यहाँ आना भी मत! ऐसा मत समझ बैठना कि मैं मर ही जाऊंगा। मरना खेलवाड़ नहीं। ज़रा शान्ति होते ही पत्र लिखूंगा—तार दूंगा।

इस समय बस—

तुम्हारा

छोटे

(७)

(पता—)

श्रीमान् 'प्रताप'-सम्पादक

Pratap Press,

Cawnpore City.

बड़ाबाजार
कलकत्ता
८-९-१९४६,

सम्पादकजी,

गत कलसे ही कलकत्ता आ गया हूं। मेरे कानपूर छोड़नेके पहले आपने जो आग्रह किया था वह मुझे भूला नहीं है। आपने कहा था कि—"वहाँ पहुंचते ही जहाँ तक संभव हो जल्द कलकत्ताके दंगेकी विस्तृत और सच-सच ख़बर भेजना।" उसी समय मैंने आपसे निवेदन कर दिया था कि मैं तो अपने एक बड़े सुन्दर और सजीले, मस्त और छबीले मित्रसे, कई वर्षों बाद, मुलाकात करने जा रहा हूं। और, जा रहा हूं 'नाइनटी-नाइन पर-सेन्ट' एक अद्वितीय राष्ट्रीय कार्य करने। याने, एक हिन्दू

युवक और ब्राह्मण, मित्र और बन्धु, प्रियतम और अभिन्नको यह सलाह देने कि—यदि आत्मा कहता हो, यदि भीतरकी पवित्र-ध्वनि स्वीकृति देती हो, तो, वह उस 'यवनी नवनीत कोमलाङ्गी' से ब्याह कर लें जिसकी ख़ूबसूरत तस्वीर उनकी आखोंमें दिन और रात और रात और दिन, टंगी रहती है! आप मेरी बात सुनकर, चश्मा साफ़ करते-करते, बड़े ज़ोरसे हंस पड़े थे—"गोविन्दजी, आप भी बैठे-बैठे एक-न-एक ख्वाब हमेशा ही देखा करते हैं। इस तरहका उथल-पुथल-कारी हिन्दू-मुसलिम-एका! आपके वह मित्र कहाँके रहने वाले हैं? उनकी जाति क्या है?" मैंने कहा था—"वह प्रयागके एक प्रसिद्ध ब्राह्मण रईसके पुत्र हैं।" "तब तो हो चुका! तब तो हो चुका!" आपने उत्तर दिया था—"यह आसमाँ ज़मींसे मिलाया न जायगा।" मैंने कहा था—"मुझे तो इसमें कोई आपत्ति नहीं मालूम पड़ती। स्त्रियां तो रत्नोंकी तरह सदा पवित्र हैं। किसी भी जातिकी स्त्रीको, किसी भी जातिके पुरुषको; मन मिलनेपर

प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण कर लेना चाहिये। यही हम आर्य्योंका सनातन-धर्म है। यदि इस विषय पर अधिक बहस कीजियेगा तो मैं प्रमाणमें पुराणोंको पेश करूंगा, जिनमें ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनसे यह साबित होता है कि उस समयके आर्यऋषि या नरेश, इच्छा होते ही, किसी भी जातिकी स्त्रीको सहर्ष ग्रहण कर लेते थे। महाभारतके धनुर्द्धर और गदाधरोंने तो नाग और राक्षस-कन्याओंको भी नहीं छोड़ा था। उनको भी जाने दीजिये, अभी कलकी बात है, संस्कृत भाषाके प्रचण्ड-विद्वान् महाकवि पण्डितराज जगन्नाथने छाती ठोककर एक मुसलमानिनको अपनी अङ्कशायिनी बनाया था। उनको भी जाने दीजिये, वर्त्तमान हिन्दू समाजको ही लीजिये। धर्म-धर्म, आचार-आचार, हिन्दू-हिन्दू और मुसलमान-मुसलमान कौन चिल्लाता है? केवल दरिद्र और केवल मूर्ख। जिनके पास पैसे हैं, जिन्होंने भगवती शारदाको अपनी चेरी बना रखा है, जो बली हैं, उनसे कोई कुछ नहीं पूछता। फलाँ जगहके

महाराज दिन भर शराब ही पीकर जीते हैं। जल उन्हें पचता ही नहीं, अतः चाँदीकी पवित्र कटोरीमें शुद्ध-विलायतकी ह्विस्की ढाला करते हैं। इतना ही नहीं वे पञ्च 'म'-कारी भी हैं। अपनी रियासती बहू और बेटियोंको आये दिन एक-न-एक ढोंग और एक-न-एक धर्मकी आड़में छिपाकर नष्ट किया करते हैं। हज़ारों उनकी उप-पत्नियाँ या रण्डियाँ हैं। कई सौ हिन्दू, सैकड़ों मुसलमान और पचासों गोरी-बीबियाँ। इतना सब होते हुए भी वे हमारे व्यवस्थापकोंकी दृष्टिमें द्विजराज और सनातनधर्मके सिरताज हैं। बड़ी-बड़ी, पुराण-रक्षिणी-सनातन-धर्म सभाओंके सभापति हैं—क्या हैं—क्या हैं। यही क्यों! समाजमें जिसके पास पैसा है वही, बूढ़े आम मुसलमान-वेश्याओंको रखता है और फिर भी समाज इसे क्षमा करता है। क्षमाही नहीं, पैसेवाले दुराचारी वेश्यागामियोंकी ओर आकांक्षा और लालसा-मयी दृष्टिसे देखता भी है। फिर महाराज! बताइये, यह आसमां ज़मीसे क्यों

न मिलाया जायगा ? यदि मुसलमान वेश्याओंके 'प्रवेश' से सनातन-धर्मका रङ्ग-अङ्ग अपवित्र और नष्ट नहीं हो जाता तो, मुसलमान कन्याओंके प्रवेशसे कैसे भ्रष्ट हो जायगा ?" मेरी बातें सुन आपने कहा था—"अच्छा भाई, अभीसे मुझे इस झगड़ेमें आप क्यों घसीट रहे हैं ? पहले वहाँ जाकर अपने मित्रको और उनकी परिस्थितिको देखिये-समझिये भी। मगर मेरी बात न भूलियेगा। वहाँके समाचारोंको फ़ौरन लिखियेगा। मुझे कोई विशेष आपत्ति नहीं। आपके मित्र प्रसन्नतापूर्वक उस कन्या-नामीको ग्रहण करें। हमें अपने पाठकोंके मनोरञ्जनार्थ एक सुन्दर समाचार मिल जायगा—हा हा हा हा !"

सम्पादकजी, आप मनमें ऊबते और खीझते होंगे कि "यह बे-वक़ूफ़ मेरी ही बातोंको हज़ार मील दूरसे मेरे पास लिखकर क्यों भेज रहा है ? मैंने तो इससे वहाँके दंगेका समाचार लिखकर भेजनेको कहा था।" सचमुच मैं इस समय किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा हूं—बे-वक़ूफ़ बना बैठा हूं। कानपुरकी, अपनी

और आपकी बातोंको एक बार पुनः लिखनेका अभिप्राय यही है कि आपको एक बार पुनः याद पड़ जाय कि मैं यहाँ किस प्रेम-मय व्यापारके लिये आया था। मगर, अफसोस! यहाँ आनेपर सारे मंसूबोंपर पानी फिर गया। इस समय मुझे चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखायी पड़ता है। अस्तु मैं यह पत्र लिख कर आपसे प्रार्थना करता हूं कि, आप मुझे क्षमा करें। मैं अवकाश और सहूलियत होते हुए भी आपके पत्रके लिये यहाँके घटनाओंकी रिपोर्ट नहीं भेज सकता। मेरा माथा काबूमें नहीं है। मेरे होश ठिकाने नहीं हैं।

इसका कारण बताने के लिये मुझे आपके सामने अपनी, कलकत्ताकी, डेढ़ दिनोंकी दिनचर्य्या रखनी होगी।

७ अप्रेल को प्रातः ६॥ बजे हृदयमें आनन्द और, भय के अनेक भाव लेकर हवड़ा स्टेशन पर पहुंचा। आनन्द था कई वर्षों बाद अपने अभिन्न-हृदयके दर्शनोंकी आशामें, और, भय था कलकत्ताके दंगेकी

अफ़वाहों में। रेलहीमें यात्रियोंको सतर्क पाया। सब फुसफुसा रहे थे कि, कलकत्ताके दंगेके कारण हिन्दू-मुसलमानोंके भाव ऐसे भयङ्कर हो गये हैं कि कलकत्ता जाने वाली गाड़ियोंमें भी ख़ून और हत्या हो जाती है! मैंने खुद नहीं देखा मगर, स्टेशनके बाहर आने पर एक गुजराती हिन्दूने मेरे कानके पास आकर कहा—"देखा नहीं, इस गाड़ीमें भी दो-तीन मुर्दे पाये गये हैं। यह तो कहो, ग़नीमत हुई, हम बच गये!" मैंने हँस कर उत्तर दिया—"भाई जी बच कैसे गये? अभी तो समूचा कलकत्ता सामने रखा है। इससे बचे तो समझिये सबसे बचे!" ख़ैर। मैंने पहले ही सोच रखा था कि ठहरूंगा बड़ाबाजार में...मैं, अपने मारवाड़ी मित्रके पास, और फिर वहीं से मुरारीसे मिलनेके लिये उनके होस्टलमें जाऊंगा। यही किया भी। एक सिखकी टेक्सी पर जा बैठा और बोला—

"बड़ाबाजार पहुंचा-दोगे?"

"पहुंचा तो दूंगा मगर आप हैं कौन?"

"हिन्दू, ब्राह्मण, आदमी।"

सिख हँसा—"बिगड़िये नहीं बाबूजी, आजकल यहाँ साले मुसलमानोंने अन्धेर मचा रखा है। वे सभीको धोका देते हैं और सभी हिन्दुओंको तङ्ग करते हैं। इसीसे हम लोग बहुत समझ-बूझकर केवल हिन्दू सवारी बैठाते हैं।"

मैंने पूछा—"रास्तेमें कोई ख़तरा तो नहीं है?"

उसने कहा—"इधर देखिये, हम दो भाई हैं। दोनों दो तलवारें लेकर आपके साथ मोटर पर चल रहे हैं। अगर रास्तेमें कहीं ख़तरा है तो वह पहले हमारे लिये है फिर आपके लिये! हमारे जीतेजी कोई आपकी ओर कड़ी आँखोंसे ताक भी नहीं सकता। मगर बाबूजी, चलनेके पहले हम आपकी 'चोटिया' और 'जनेऊ' देख लेंगे तब चलेंगे।"

मुझे कोई भी आपत्ति न हुई। मैंने सहर्ष अपनी लम्बी चोटी और मोटा जनेऊ उनके आगे नज़र किया। वे मुझे लेकर पों-पों करते रवाना हुए। हवड़ा-पुल पार हो जानेके बाद मुझे चार-पांच

फ़र्लांग और आगे जाना था। कुल चार-पाँच मिनटका रास्ता था। मगर इतनेमें ही मैंने लक्ष किया कि दंगेका कलकत्ता कैसा था। सुनसान—चुप—भयानक! सिखोंने दो-चार जगह पटरियों पर रक्त चिह्न दिखाये—यहां छुरे चले थे बाबू। यहाँ खून हुआ था बाबू।" मारवाड़ी मित्रके यहाँ पहुंचने पर मालूम हुआ कि अब शान्ति हो रही है। एक हफ्ते तक भयानक रक्त-लीला दिखानेके बाद अब मुसलमान गुण्डे कुछ दम ले रहे हैं। मुरारी और उनके होस्टलका पता पूछने पर उक्त मारवाड़ी सज्जनने कहा—"उस होस्टलवाले तो बड़ी मुसीबतमें पड़ गये थे। उस पर मुसलमानोंने कई बार धावा किया था। उसमेंके विद्यार्थी तीन-तीन दिनों तक केवल पानी पीकर रह गये। अभी कल हमारे हिन्दू-दलने उनका वहाँसे उद्धार किया है।"

मैंने उत्सुक होकर पूछा—"वे लोग वहाँसे निकल कर कहाँ गये?"

मित्रने कहा—"कुछ लोग हवड़ा-स्टेशन, कुछ

लोग अपने-अपने मित्रोंके घर और कुछ लोग जहां जीमें आया वहाँ।"

मैंने घबरा कर पूछा—"और मुरारी? वह कहां गया?"

"कौन मुरारी? आप किसे पूछते हैं?"

वह मारवाड़ी सज्जन मेरे परिचित थे, मुरारीके नहीं। मुझे उनकी बातोंसे बड़ी निराशा हुई। मैं मन ही मन कुछ घबरा सा गया? सोचने लगा, अब उसे कहाँ ढूंढूं इस समय कलकत्तामें किसीको ढूंढ़ निकलना कोई खेल तो है नहीं। मैंने घड़ी देखी। सवा आठ बजे थे।

"आपकी मोटर ख़ाली है?" मैंने मारवाड़ी मित्रसे पूछा।

"मोटर ख़ाली है, शोफ़र ख़ाली है और (अपनी ओर इशारा कर) आपका यह नौकर भी बिलकुल ख़ाली है। मगर पहले आप नहा लें, कुछ खालें।"

नहाने-खानेको जी नहीं चाहता था मगर, शिष्टाचार और लोकाचारकी रक्षा करनी ही पड़ी। यह

सब करते-कराते पूरे बारह बज गये। याने, सात अप्रैलका मध्याह्न हो गया। मैंने सेठसे कहा—"सेठजी अब तो मैं अपने भाईकी खोजमें ज़रूर जाना चाहता हूं। उन्होंने कहा—"ख़ुशीसे। यह सेवक भी आपके साथ चलेगा। अरे—ओ! मोटर तैयार कराओ!" अभी सेठ कपड़े पहन ही रहे थे कि उनके एक हट्टे-कट्टे और मज़बूत सिख-जमादारने आकर कहा—"बाबूजी, अभी-अभी एक हिन्दू जवान मारा गया है!"

"कहा? कहाँ??" हम दोनोंने एक साथ ही और एक ही स्वरमें समाचार सुनानेवालेसे प्रश्न किया।

उसने गम्भीर होकर उत्तर दिया—

"ज़करिया स्ट्रीटमें।"

"ज़करिया स्ट्रीटमें?" सेठने कहा—"वहाँ कोई हिन्दू क्यों गया? कैसे गया? वह तो मुसलमानों-का अड्डा है। वह हिन्दू कौन था जी? कुछ मालूम हुआ है?"

"कौन था यह तो नहीं कहा जा सकता है; हाँ, कहने वालोंने बताया है कि कोई बड़ा ही सुन्दर जवान था। उफ़! बाबू जी, सुना है उन बदमाशोंने उसकी बोटी-बोटी अलग कर दी।"

सम्पादकजी, मुझे नहीं मालूम था कि यह ज़करिया स्ट्रीट क्या बला है। इसके पहले मैंने उसका नाम भी नहीं सुना था। मगर, एक मुसलमानी मुहल्लेमें किसी 'बड़े ही सुन्दर जवान' का खून सुनकर मेरा खून सूख गया! न जाने क्यों मनमें धक्...धक् होने लगा। आँखोंके सामने धुँधला दिखायी पड़ने लगा। मैंने सेठजीसे कहा—

"ज़करिया स्ट्रीट कहाँ है?"

"थोड़ी ही दूर पर—क्यों?"

"एक बार वहाँ जाना चाहता हूं।"

"ज़करिया-स्ट्रीट जाइयेगा? और ऐसी हालतमें जब कि सुन रहे हैं कि अभी-अभी एक खून हो गया है?"

"हाँ"

"क्यों ?"

"नहीं कह सकता क्यों ? मगर मुझे अपने भाई को खोजना है। बस चलिये—बस। घबराइये नहीं। चलिये पुलिस स्टेशनसे कुछ सिपाहियोंको साथ ले-लिया जाय।"

बड़ाबाज़ार-पुलिस-स्टेशनके इंचार्ज को सारी कथा सुना कर उनसे पाँच सिपाहियोंको अपनी सहायताके लिये मैंने माँगा। उन्होने कहा कि—"थोड़ी देर पहले ज़करिया स्ट्रीटमें किसी हिन्दूके मारे जानेकी ख़बर हमें भी मिली है। पुलिसका एक दल उधर गया है। फिर भी आप खुशीसे पाँच सिपाहियोंको अपनी मोटरमें बैठाकर ले जायँ।" इञ्चार्ज महोदयको धन्यवाद देकर और सिपाहियोंको मोटरमें बैठा कर हम ज़करिया स्ट्रीटकी ओर चले।

ज़करिया स्ट्रीटमें घुसतेही हमारी नज़र उस दल पर पड़ी। हमारी मोटरसे तीन-चार बीघेकी दूरी पर, एक मोटर-लारी को घेरे, पन्द्रह-बीस पुलिस वाले, कई सार्जन्ट और अनेक और आदमी आ रहे थे।

हमने ड्राइवरसे मोटर की चाल मन्द करनेको कहा। मेरा कण्ठ सूखने लगा, कलेजा मुहं को आने लगा। उस मोटरमें क्या है? कौन है? क्या उसीमें उस 'बड़े ही सुन्दर जवान' का शव लाद कर पुलीस ले जा रही है? हाँ, है तो ऐम्बुलेन्स-कार ही। अरे! सेठजी, सेठजी! वह देखिये—वह! वह सुन्दरी कौन है? वह देखिये। देखा? अपूर्व रूप है। अद्वितीय यौवन है।

उस स्त्री को देख कर मेरे मारवाड़ी मित्र भी ज़रा सकपकाये—

"पण्डितजी क्या उसे आप पहचानते हैं? उसका रूप तो ठीक आपही ऐसा है।"

"मेरे ही ऐसा रूप!! आर्य !" मुझे प्रियतम मुरारीके पत्रके वे शब्द याद आ गये—"तुम्हारी-सी आंखें, तुम्हारा-सा सुन्दर मुख, तुम्हारी-सी मधुर मुस्कराहट, तुम्हारी तरह नाक, तुम्हारे-से ओठ।"—आर्यँ—मेरे ही ऐसा रूप!! तो क्या—तो क्या—?

मुझे भूल गया कि मैं मोटर पर बैठा था। मुझे

भूल गया कि मैं मृत्युके अखाड़े कलकत्ता और कलकत्ताके नरक ज़करिया-स्ट्रीटमें था। मुझे भूल गया कि मेरे साथ चार भले आदमी और हैं। बिना दरवाज़ा खोलेही मैं मोटरके बाहर सड़क पर कूद पड़ा। होश तब हुआ जब घुटने फूट गये! रक्त बहने लगा। मगर वह होश भी क्षणिक था। शरीर को चोट लगी थी। उसी चोटका अनुभव ही होश का रूप धर कर आया था और मुझे बता गया था कि तुम्हारे घुटने बुरी तरह फूट गये हैं। मगर, घुटनोंकी ओर कौन देखता? मुझे तो मोटरके भीतरके शवको देखना था। मुझे तो मोटरके बाहरकी सुशीला-सुन्दरीका परिचय प्राप्त करना था। मैं दौड़ा उस सामने आते हुए सरकारी जनाज़ेकी ओर। और, तब तक दौड़ता ही रहा जब तक कि उस दलक सार्जण्टोंने 'बलवाई समझ कर' मेरी ओर बन्दूकें सीधी नहीं कर लीं, और, डाटकर ललकारा नहीं कि—"ठहरो!"

"मुझे रोको मत! मुझे रोको मत!!"

दो बन्दूकें मेरी छातीके दाहने-बाएँ, मुहँ अड़ा कर अड़ गयीं। एक सार्जण्टने फिर कड़ी आवाज़से मेरा स्वागत किया—

"किढर जाटा हाय ?"

"मैं देखूँगा—मैं फ़क़त देखूँगा।"

"क्या डेकेगा ?"

"गाड़ीके भीतर वाले को !"

इसी समय सेठजीकी मोटर भी आ गयी। सेठजीको उस दलके बहुतोंने पहचाना। उन्होंने सार्जण्टोंको बतलाया कि मैं कौन हूं और किस उद्देश्यसे यहाँ आया हूं। मगर मुझे ये बातें पीछे मालूम हुईं। उस वक़्का तो यही ध्यान आता है कि मैंने उन सबको धकेल कर एम्बुलेन्स-कार तक अपना रास्ता बनाया। मैं झपट कर 'कार' पर चढ़ गया। वहाँ पर एक क्षणमें, एक दृष्टिमें, देखा 'उन्हीं' के आकारका एक 'शव' कपड़ेसे ढाँक कर 'स्ट्रेचर' पर चित्त रखा था। चारों ओर रक्तका पनाला बह रहा था!

वह मुहँ कपड़ेसे ढँका था—मैंने खोल दिया।

वह मुहँ भयानक शस्त्रोंके क्रूर-आघातोंसे ढँका था। वह मुहँ रक्तकी अगणित धाराओंसे ढँका था। निर्जीव होने पर भी, वह मुहँ गौरव और वीरता, प्रसन्नता और प्रेमसे आच्छादित था। मैंने उस सुन्दर और प्रिय मुखको, हज़ार विकृत होने पर भी, फौरन पहचान लिया! आह! फ़ौरन।

वह वही मुख था, जिसे जीवनके उषः-काळमें अतृप्त-आखोंसे, आखें फाड़-फाड़ कर, देखा था—देखा था—देखा था! वह वही मुख था, जिसका सामना होने पर मेरे हृदयकी सूखी से सूखी कली हरी हो उठती थी—खिल पड़ती थी। वह वही मुख था, जिसके दर्शन मात्रसे मेरे अन्तस्तलकी स्वर्गीय-स्वर-लहरी लहरें लेने लगती थी। वह वही मुख था, जिसकी छविके आगे मैंने एक दिन तुलसीदासके 'कोटि-मनोज लजावन हारे' की छविको भी नगण्य समझा था। वह वही मुख था, जो मेरा स्वर्ग था, अपवर्ग था, हर्ष था, आदर्श था, कल्याण था, प्राण था। वह वही मुख था—वह वही मुख था!

अपने हृदयके हृदय, प्राणोंके प्राणकी वह गति देख कर मुझे तो काठ मार गया! मेरी सिट्टी गुम हो गयी। अब क्या करना और क्या न करना चाहिये इसका कुछ ज्ञान ही न रहा। हृदयमें एक साथ अनेक भावोंके भयंकर तूफ़ान उठने लगे। कभी क्रोध आता था—प्रियतमके हत्यारों पर—विक्षुब्ध-समुद्रकी तरह, खौलते हुए बड़वानलकी तरह, आग उगलते हुए ज्वालामुखीकी तरह। कभी करुणा आती थी—प्यारेकी उस अवस्था पर—विधवाके हृदयकी तरह, माँके विलापकी तरह, राम-हीन दशरथकी तरह। मैं न जाने कब तक बेहोश-सा उसी एम्बुलेन्स-कारमें, प्रियतमके शवके पास, घुटने टेके बैठा रहा। न रोता था और न हँसताही था; न काँपता था और न हिलताही था।

किसीने मेरा हाथ पकड़ा—

"नीचे उतरो, थाने चलना है। हम लोग कब तक यहाँ रुके रहेंगे? देर हो रही है।"

मैं चुपचाप—एक ठण्ढी-साँस खींचकर—नीचे

उतर आया। उस वक्त मुझे ज्ञान हुआ कि संसारमें प्रियतम मुरारीके शव, और मेरे सन्तप्त हृदयके अलावा भी कुछ चीज़ें हैं। सबसे पहले मेरी दृष्टि शोक-वज्राहता नर्गिस पर पड़ी। उसकी आंखें लाल थीं, कपोल पीले और ओठ सुफ़ैद। बिखरे बालों और अस्तव्यस्त वस्त्रोंवाली वह अभागिनी बिलकुल शून्य-सी खड़ी थी। मैं चुपचाप उसके सामने चला गया—

"बहन!"

एक बूढ़े मुसलमानने मेरे सामने आकर, आखोंमें आँसू भर कर, मुझसे कहा—

"बेटा, खुदाके लिये इस वक्त माफ़ करो। मेरी बदक़िस्मत बेटी इस वाक़यासे क्या जाने क्या हो गयी है। ग़जब टूट पड़ा है भैया, मेरे कमज़ोर सर पर ग़ज़ब टूट पड़ा है।"

"वह कैसे मारे गये? यही पूछते हो न?" नर्गिसने मेरी ओर देख कर कहा—"बताती हूं। अब रोते-रोते और छाती पीटते-पीटते थक गयी हूं। दिलके खज़ानेमें अब ऐसी कोई भी चीज़ नहीं बची

जिसे वह आंखों को आंसू बनानेके लिये दे। न पानी ही और न खूनही। अब बता सकती हूं। सुनो, वह मुर्दों और डरपोकोंकी तरह नहीं ; शेरोंकी तरह मारे गये। उनके पास भी छुरा था, उनके हाथमें भी डण्डा था। अगर वह दोज़ख़ी-कुत्ता, वह इसलामके मुंह पर का कालिख, वह याकूब–पचासों बदमाशों के साथ न होता तो वह जल्द थोड़े ही मारे जाते। वह न जाने कबसे, और न जाने किसनी दूरसे, लड़ते और बचते मेरे दर्वाज़े तक आये। ज़ोरसे आवाज़ दी—"नर्गिस, मैं आगया!" उनकी आवाज़ और हो-हल्ला सुन मैंने कोठेकी खिरकी से झांक कर देखा। देखा सैकड़ों क़साई एक गाय को, सैकड़ों शैतान एक आदमीको बुरी तरह मार रहे थे। मेरे देखते-देखते उन बदमाशोंने मेरे कलेजेके टुकड़े-टुकड़े कर दिये! आह, वह नज़्ज़ारा! कभी न भूल सकूंगी, कभी न भूलूंगी।"

एकाएक नर्गिसकी त्यौरियाँ चढ़ गयीं उसने पगलियोंकी तरह तड़प कर कहा—

"तू भी शैतान मालूम पड़ता है। तू भी मुसलमान मालूम पड़ता है। हटजा, हटजा मेरे सामने से! देखता नहीं है, मैं एक हिन्दूकी स्त्री हूं? देखता नहीं है मेरे माथेमें सिन्दूर लगा हुआ है? रक्त का सिन्दूर! उनकी छातीके ख़ून का सोहाग!! देखता नहीं है?"

प्यारे मुरारीके वियोगमें नर्गिसकी अवस्था देखकर मेरे पत्थर-प्राण पिघल गये! अबतक थमा हुआ आंसुओंका स्रोत फूट पड़ा। मैं रोने लगा—

"बहन!"

"अब रो के क्या होगा?" नर्गिसने कहा—"अब रोके क्या होगा? तुम आदमी हो? तुम आदमियोंको प्यार करते हो? तो; रोओ मत। आओ मेरे पीछे। चलो मेरे साथ। हम उस शैतानी मज़हबके काले धब्बेको ज़मीनके दामन परसे मिटादें जो आदमीका ख़ून पीना, आदमीका क़त्ल करना, सवाब समझता है। ऐसे शैतान और ऐसे नापाक मज़हबके उठ जानेपर ख़ुदा ख़ुश होगा, फ़रिश्ते

नाचेगे, आसमान फूल-फूल हो उठेगा, बरस पड़ेगा।

*　　　　*　　　　*

सम्पादकजी, अब अधिक लिखा नहीं जाता। शक्ति नहीं, हृदय नहीं। उसी वक़्तसे, मेरा परिचय पाकर नार्गिसने मुझे छोड़ा नहीं। वह और उसके बाप दोनों ही मेरे मारवाड़ी-मित्रके पवित्र अतिथि हैं। बाप—ख़ानबहादुर और धनी, बुद्धिमान और बूढ़ा—हज़ार गिड़गिड़ा रहा है कि बेटी भूल जा और घर चली चल। मगर, बेटी पागल है, बेहोश है। वह तो मुसलमानोंका नाश करके ही दम लेगी। इसलामको मिटाकर ही घर लौटेगी। उसने पुलीससे, मैजिस्ट्रेटसे, पुलीस कमिश्नरसे, सबसे कह दिया है कि—"मैं बालिग़ और पढ़ी-लिखी और समझदार हूं। मैंने ख़ूब समझकर हिन्दू-धर्म स्वीकार किया है। अब मैं हिन्दू हूं।" वह मेरे साथ कानपुर, प्रयाग, काशी, स्वर्ग, नरक कहीं भी जाने और मुसलमान-संस्कृतिके विरुद्ध प्रचार करने को तैयार है।

मैं भी उसे छोड़ूंगा नहीं। वह मेरी बहन

है। मेरे प्राणोंकी प्रेयसी है। उफ़! सम्पादकजी; आप यहां नहीं हैं, नहीं तो, देखते अभागिनी नर्गिसके इस निराश-सौन्दर्य को। मेरे सामने ज़मीनपर उदास बठी हुई वह धीरे-धीरे गुनगुना रही है—.

न किसी की आंखों का नूर हूँ
न किसी के दिल का क़रार हूँ!
जो किसीके काम न आ सके
मैं व' एक मुश्त गुबार हूँ!
न तो मैं किसीका रक़ीब हूँ
न तो मैं किसीका हबीब हूँ
जो बिगड़ गया व' नसीब हूँ
जो उजड़ गया व' दयार हूँ!
मेरा रंग-रूप बिगड़ गया
मेरा वक़्त मुझसे बिछड़ गया
जो चमन ख़िज़ां से उजड़ गया
मैं उसीकी फ़स्ले-बहार हूँ!

अब उसने गुनगुनाना बन्द कर दिया है और उदास मुखसे मुझसे पूछ रही कि मैं उसे मुरारीकी माँके दर्शन कब कराऊंगा?

मैं जल्दही यहाँ से प्रयाग जाऊँगा और फिर कानपूर आऊंगा।

इस समय—बस।

सर्वस्व-हीन
श्रीगोविन्दहरि शर्मा





षोडशी

अर्थात्

श्रीयुक्त प्रभातकुमार मुखोपाध्याय-लिखित
बँगला की सोलह आख्यायिकाओं का
हिन्दी-अनुवाद

अनुवादक

श्रीजनार्दन झा

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९२२

संशोधित संस्करण] [मूल्य १।)

प्रकाशक
अपूर्वकृष्ण बोस, इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

सूची

निवेदन

बँगला-आख्यायिकाओं के प्रसिद्ध लेखक श्रीयुक्त प्रभात-कुमार मुखोपाध्याय ने बँगला में आख्यायिकायें लिखकर वङ्गभाषा और वङ्गभाषियों—दोनों—का बड़ा उपकार किया है। आप की लिखी कहानियाँ इतनी अच्छी समझी गईं कि उनमें से कितनी ही कहानियों का अँगरेज़ी में भी अनुवाद हो गया।

हिन्दी में अच्छी आख्यायिकाओं का एक तरह से अभाव है। अतः, जब तक हिन्दी-लेखक अपनी मातृभाषा में स्वतन्त्र आख्यायिकायें न लिखें तब तक अनुवाद से ही काम चलाना होगा।

लीजिए, उक्त प्रभात बाबू की प्रसिद्ध १६ कहानियों का 'षोडशी' नामक संग्रह हिन्दी में भी छपकर तैयार हो गया। आशा है, हिन्दी-भाषा-भाषी सज्जन षोडशी को पढ़ कर प्रसन्न होंगे।

प्रकाशक

षोडशी

बहू की चोरी।

पहला परिच्छेद।

इस उपन्यास का सम्बन्ध उस समय से है जब नई सभ्यता की रोशनी से जगमगाते हुए वङ्गदेश में ब्राह्म मतके सम्बन्ध में बड़ी धूम मच गई थी और जिस ब्राह्म धर्म में दीक्षित होने के लिए कितने ही सभ्यताभिमानी लोगों की जीभ से लार टपकने लग गई थी।

बर्दवान ज़िले में भगवतीपुर नाम का एक निराला गाँव है। निराला इसलिए कि वह रेलवेस्टेशन से दस कोस पर है और डाकघर भी वहाँ से पाँच कोस है। बस्ती के बीच भगवती की मूर्ति स्थापित है। जान पड़ता है, इसी से इस ग्राम की नामोत्पत्ति हुई है।

इस छोटी सी बस्ती के ज़मीदार का नाम विधुभूषण वन्द्यो-पाध्याय है। उनके मँझले बेटे का नाम वसन्तकुमार है। वह बाईस वर्ष की उम्र में बी० ए० की परीक्षा देकर, आज कई दिन हुए, घर आया है। उसकी विद्या-बुद्धि, शील-स्वभाव और सुन्दर स्वरूप देखकर गाँव के लोग प्रसन्न हैं। केवल पिता उससे अप्रसन्न हैं। उनके अप्रसन्न होने के अनेक कारण हैं। प्रथम तो यह कि वसन्तकुमार कुछ दिन से ब्राह्म समाज में आने-जाने लगा है, इसकी ख़बर उन्हें लगी है। दूसरे, घर में उसकी युवती भार्या है, पर वह कभी उससे भेंट नहीं करता। उसकी इस नई सभ्यता को देख विधुभूषण उस पर बेहद नाराज़ हैं। अगर

कोई वसन्तकुमार से इस अशिष्टता का कारण पूछता है तो वह यही कहता है कि मैंने उससे प्रेम पूर्वक ब्याह नहीं किया इस लिए वह मेरी पत्नी नहीं-बहन है। इस पर कोई जिरह करता कि तो फिर तुमने ब्याह क्यों किया? इस पर वह जवाब देता, "जब मैंने ब्याह किया था तब मेरी समझ ऐसी न थी"। उस अबलाबेचारी की क्या दशा होगी? वह कहता इसका उपाय है, हम दोनों ब्राह्म धर्म में दीक्षित होंगे। इसके बाद ब्राह्म मत के अनुसार जो ब्याह की नई नियमावली बनी है उसके अनुकूल हम दोनों अपना बिवाह बन्धन तोड़ डालेंगे। तब जो उसे हृदय से प्यार करेगा उसके साथ वह ब्याह कर लेगी।

बिवाह होने के बाद वसन्तकुमार जब कलकत्ते गया था तब वहाँ शिशिरकुमार नामक एक व्यक्तिसे उसकी बड़ी घनिष्ठ मित्रता हो गई थी। वह ब्राह्म मतावलम्बी था। उसके साथ मित्रता होने के कुछ ही दिन बाद वसन्त के मन का भाव बदल गया। नये नये बिचारों से उसका दिमाग़ भर गया। शिशिर-कुमार के दूर के नाते की एक बहन थी। नाम उसका पार्वती था। उसे देख बसन्त के हृदय में प्रणय का बीज अङ्कुरित हुआ। पार्वती के मनोहर रूप-गुणों ने वसन्त के मन को अपनी ओर खींच लिया। पहले तो वसन्त अपने मन की इस चञ्चलता और अयुक्त प्रणय के कारण अत्यन्त लज्जित और अनुतप्त हुआ था, किन्तु शिशिरकुमार के सान्त्वना देने से उसका सारा अनुताप दूर हो गया। शिशिरकुमार ने उसे अच्छी तरह समझा दिया कि "प्रेम एक ईश्वरी शक्ति का विकाश है। किसी अवस्था में भी प्रेमी को पाप स्पर्श नहीं कर सकता।" शिशिर के हृदय में यह दृढ़ धारणा थी कि पूर्वानुराग वर्जित विवाह विवाह नहीं है।

विवाह के पूर्व वर-कन्या में परस्पर प्रेम का सम्बन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। वसन्त ने प्रेमपूर्वक मालती से ब्याह नहीं किया, इस लिए वह उसकी प्रिय पत्नी नहीं बहन के बराबर है। यह विलक्षण संस्कार शिशिरकुमार ने ही वसन्त के मस्तिष्क में भर दिया था। पार्वती के हृदय में भी जो वसन्त का प्रेम पल्लवित हुआ था, इसका अनुभव उन दोनों मित्रों को हो चुका था। इस प्रकार परस्पर प्रेमोदय होने पर जो ब्याह होता है वही वास्तविक विवाह है, शिशिरकुमार का यही सिद्धान्त था। वसन्त ने भी इस सिद्धान्त का अनुसरण किया। किन्तु उसकी पहली स्त्री के रहते यह विवाह होना किसी प्रकार सम्भव न था। पार्वती के प्रति प्रणय व्यक्त करने तक का अधिकार विवाहित वसन्त को न था। शिशिर जब तब कहा करता था, "जब प्रणयी और प्रणयिनी का मन मिल कर एक हो जाय तभी प्रेम की सफलता है। प्रेमबन्धन के विना ब्याह होना या न होना एक सा है। इसी मत के अनुसार वसन्त विवाहित होने पर भी अपने को अविवाहित और अपनी विवाहिता को क्वारी समझता है। वह ब्राह्म धर्म में दीक्षित होकर नई प्रथा के अनुसार ब्याह करना चाहता है और मालती को पुनर्विवाह के लिए स्वातन्त्र्य देना चाहता है। इन बातों को जान कर ही उसके पिता, जो पक्के सनातन धर्म्मी थे, अत्यन्त रुष्ट थे।

जेठ का महीना है। दोपहरी ढल चुकी है, तो भी धूप इतनी कड़ी है कि कोई उसकी ओर नज़र उठा कर देख नहीं सकता। मारे गरमी के लोग परेशान हैं। पेड़ों की शीतल छाया में चौपाये बैठे हैं, पक्षीगण अपने अपने घोंसलों में छिपे हैं। कभी कभी कोयल और पपीहा के कुहकने का शब्द सुनाई देता है। इस

प्रचण्ड धूप के समय में भी वे रसाल वाटिका में पके हुए आमों की अपूर्व शोभा देख उमङ्ग भरे स्वर से एकआध बार अपनी मीठी बोली लोगों को सुना देते हैं। वसन्तकुमार बाहर दालान की बग़ल वाली कोठरी में अकेला कुरसी पर बैठा है। सामने एक टेबुल रक्खा है। यह उनके रहने की ख़ास कोठरी है। इसी कोठरी में वह रात को सोता है। दीवाल में कई एक विलायती तसवीरों के साथ एक सितार भी टँगा है। सबेरे और साँझ को वह यही बजा कर ब्रह्म का गुण गाता है। घर के भीतर सजावट की चीज़ों में एक घड़ी, एक आलमारी, कपड़े रखने की अरगनी और एक चार पाई थी। इनके सिवा और कुछ नहीं।

वसन्तकुमार टेबुल की दराज़ से शिशिर के हाथ की चिट्ठी, जो अभी आई थी, निकाल कर पढ़ने लगा। उसमें जहाँ जहाँ पार्वती का नाम लिखा था उस जगह को उसने बार बार चूमा। चिट्ठी उसने टेबुल पर रख दी, फिर वह आँखें मूँद कर मानो कुछ सोचने या किसी का ध्यान करने लगा। इतने में टन टन करके दो बज गये।

घड़ी की टनटनाहट ने वसन्त का ध्यान तोड़ दिया। उसने आँखें खोलीं और मित्र के पत्र को लिफ़ाफ़े में रक्खा। इसके बाद कुछ सोच विचार कर काग़ज़ के एक टुकड़े पर लिखा--

"आज बारह बजे रातको, जब घर के सब के सब लोग सो जायँ तब तुम एक बार मेरी कोठरी में आना।"

यह लिख कर उसने उस पर्चे को मोड़ कर छोटा करके कुरते के पाकेट में रख लिया। और शिशिरकुमार के लिफ़ाफ़े

समेत पत्र को दराज़ में बन्द करके आप कोठरी से बाहर निकला। कोठरी का द्वार बन्द करके ताला लगा दिया।

वसन्तकुमार ने दबे पांव घरके भीतर जाकर आँगन में किसी को न देखा। एक कमरे में उसने देखा कि भावज कई सहेलियों के साथ ताश खेल रही है। दूसरे कमरे में देखा कि माँ एक चारपाई पर सो रही हैं। वसन्त का एक छोटा भतीजा घर के कोने में खड़ा खड़ा चोरी से मुरब्बा खा रहा है, वह इसे देख हँस पड़ा। पर उसकी ओर ध्यान न देकर वसन्त आगे बढ़ा। तीसरा पूजा का घर था उसमें ठाकुर जी की पूजा अर्चा होती थी। मूर्त्ति-पूजा के विरोधवश वसन्त उस कमरे के भीतर न जा सका। बाहर ही से झांक कर देखा तो उनकी स्त्री सिर नीचा किये पर से हँसुआ दबा कर केले की तरकारी कतर रही थी। देखा, उसके ताम्बूलरागरञ्जित होंठ ज़रा ज़रा हिल रहे हैं. माथे पर पसीने की बूँदें मोती की तरह झलक रही हैं। आँचल का छोर गले में बँधा है। उसका ध्यान केला काटने की तरफ़ है। स्वामी जो बाहर से उसकी ओर देख रहे हैं, यह उसे मालूम न हुआ। वसन्त कुछ देर आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से उसके मुँह की ओर देखता रहा। ब्याह होने के बाद वसन्त ने आज ही पहले पहल मालती की सूरत अच्छी तरह देखी है।

अँगनाई में एक आम का पेड़ था। हवा लगने से एक पका हुआ आम डाल से टूट कर नीचे गिरा। उस शब्द से चौंक कर मालती ने बाहर की ओर देखा। स्वामी को बरामदे में खड़ा देख वह तरकारी कतरना छोड़ झट उठ बैठी और मुँह पर घूँघट डाल लज्जा से सिमट कर धीरे धीरे खिड़की के पास

जा खड़ी हुई । उसके आँचल में बँधा हुआ कुञ्जियों का गुच्छा झनक उठा ।

पैरों की आहट बचा कर वसन्त भीतर गया और वह मोड़ा हुआ पर्चा पाकेट से निकाल मालती के पैरों के सामने फेंक कर बाहर चला गया ।

उसके चले जाने पर मालती ने वह पर्चा उठा लिया । पहले उसने द्वार बन्द कर दिया फिर खिड़की के पास आकर उस पर्चा में जो कुछ लिखा था पढ़ा । इसके बाद उसने एक बार बाहर की ओर झाँक कर देखा सामने आम के पेड़ में असंख्य कच्चे पक्के आम लटके हुए हैं । उसकी डालियों पर बैठी कोयल कुहक रही है और पपीहा पी पी की बोली रट रहा है । मालती का चित्त चञ्चल हो उठा, उसने फिर अपने प्रेम सम्पत्ति रूपीपर्चे को खोल कर देखा । फिर आम के पेड़ की ओर टकटकी बाँध कर देखती रही । अब की बार वह क्या देख रही थी-यह कौन जाने । वह अपने मन के भाव को भले ही छिपा सकती है, परन्तु खिले हुए चेहरे और मीठी मुस्कुराहट को किसी तरह नहीं छिपा सकती । उसने कागज़ के पर्चे को ख़ूब जोर से दबा कर छाती से लगाया । वह काँप उठी । उसका शरीर कण्टकित हो गया । वह आनन्द से विह्वल हो कर भगवान् की शिलामूर्ति के सम्मुख बार बार साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगी और मन ही मन ईश्वर को अनेक धन्यवाद देने लगी । इसके बाद वह फिर खिड़की के पास गई, वहाँ उसने फिर उस पुर्जे को पढ़ा ।

मालती आज अपने को धन्य मानती है, अपने जीवन को सफल समझती और बार बार अपने सौभाग्य को सराहती है । आज का दिन न मालूम उसके कैसे सुख का है ? व्याह होने के

बाद यही उसके पति का प्रथम संभाषण है। ब्याह के समय वह बीमार थी। ज्वरावस्था में ही उसका ब्याह हुआ था। वह फूल-शय्या से तीन दिन तक जो ससुराल में रही; उसमें स्वामी से उसकी भेंट नहीं हुई। उस समय वह तेरह वर्ष की थी। इसके बाद वह फिर कुछ दिन तक ससुराल में आकर रही। किन्तु उस समय वसन्त को ब्राह्म मत की हवा लग चुकी थी। नये नये ख़यालात उसके हृदय में घर कर चुके थे। गुरुजन परिजन से बारबार समझाये जाने पर भी वह अन्तःपुर में सोने न जाता था। इसलिए इस दफ़े उससे कोई भीतर सोने के लिए आग्रह नहीं करता। घर भर के लोग उसके स्वतन्त्र विचार से चिढ़े थे। वसन्त की माँ टोले-महल्ले की युवतियों से इस विषय में निहोरा करती, वसन्त को भीतर घर में सोने के लिए राज़ी करने के लिए कहती; पर कोई उसकी बात पर ध्यान न देती थीं। क्योंकि वे स्त्रियाँ इस विषय में कई बार पहिले वसन्त को समझा चुकी थीं। किन्तु उसने किसी की बात नहीं मानी। वह अपने सिद्धान्त पर बराबर अटल बना रहा। शिशिर का उपदेश उसके हृदय में पत्थर की लकीर हो गया था। न मालूम इतने दिनों पर इस अभागिनी का स्मरण उसे कैसे हुआ? तो क्या मालती अब अपने जीवन को सफल समझने की आशा कर सकती है? उस के अड़ोस पड़ोस की नवयुवतियों के, उसकी सखी सहेलियों के सौभाग्य की—अपने अपने स्वामी की प्रेयसी होने की—बात सुन सुन कर उसकी छाती फटती थी। वह मन ही मन सोचती थी कि मैंने ऐसा क्या पाप किया है जिसके दण्ड में ईश्वर ने मुझे पति के प्रेम से वञ्चित कर रक्खा है। क्या विधाता अब मेरी दुरावस्था पर दया करके मेरा दुःख दूर करना चाहते हैं? मालती के इस चिन्ताप्रवाह में एकाएक बाधा पड़ी। किसी

ने बाहर से किवाड़ खटखटाये। मालती ने हड़बड़ा कर द्वार खोल दिया। उसकी छोटी ननद सरोजिनी थी। वह बालविधवा है। आज पाँच वर्ष हुये, दैव ने उसके ऊपर यह आफ़त का पहाड़ ढहा दिया है। सरोजिनी मालती से तीन वर्ष बड़ी है तो भी दोनों में बड़ी घनिष्ठता है। दोनों परस्पर एक दूसरे के सुख दुःख की हिस्सेदार हैं।

मालती को चिन्तित सी देख कर सरोजिनी ने चकित हो कर कहा—"तुम्हें क्या हुआ है?" मालती ने धीरे से कहा—होगा क्या?

सरोजिनी—द्वार बन्द करके क्या कर रही थी?

मालती चुप हो रही। उसकी भावभङ्गी देख कर सरोजिनी के मन में सन्देह हुआ। उसने मालती के गले से लिपट कर पूछा—तुम्हें मेरी क़सम है, कहो क्या हुआ है?

मालती—अच्छा कहूँगी।

सरोजिनी—कब?

मालती—आज रात को।

सरोजिनी—नहीं, अभी बताओ?

मालती ने मुँह मूँद लिया। सरोजिनी बिना सुने कब छोड़ सकती थी। उसने मालती को चुटकी काटकर कहने के लिए दिक़ कर दिया। आख़िर—"अच्छा कहती हूँ, सुनो," यह कह कर वह फिर चुप हो रही। सरोजिनी का एक हलका मुक्का खाकर मालती ने गद्गद कण्ठ से सब हाल कह सुनाया। सुनकर सरोजिनी हँसने लगी।

मालती ने पूछा—क्यों हँसती हो?

सरोजिनी—हँसतीं हूँ तुम्हारे दूल्हा के मिज़ाक की मुलायमियत देखकर। मैंने जो सोचा था वही हुआ। इस दफ़े मैं पहले ही उनके मिज़ाज को ताड़ गई थी। जब कोई उन्हें बुलाने न गया तब आपही हार मान कर तुम्हारे पैरों पर आ गिरे। यह बात मैंने बड़ी भौजी से पहले ही कह दी थी।

मालती—क्या कह दिया था ?

"यही कि इस दफे छोटे भैया का मिज़ाज कुछ बदला हुआ सा देख पड़ता है। इस दफ़े तुम एक बार उनसे यह कर देखो न ? वे भीतर आवेंगे।" इस पर बड़ी भौजी ने कहा--मन होता है तो आवें न। मैं उन्हें रोकती थोड़े ही हूं ?" मैंने कहा—"इतने दिन तक वे नहीं आये तो अब अपने मन से कैसे आ सकते हैं ? वे आने में शरमाते होंगे।" उसने कहा--उस दफ़े हम सब कहते कहते हार गईं पर उन्होंने एकदम नाहीं कर दी। अब फिर मैं उन्हें मनाने जाऊँगी ? मैं वैसी औरत नहीं। जैसा किया वैसा भोगें। झख मारकर अब आप से आप रास्ते पर आये न ? दो महीने की छुट्टी है। अब बहू के पैरों पर न गिरेंगे तो करेंगे क्या ?

मालती—बहन ! तुम जो कहो, पर मैं तो न जा सकूँगी।

सरोजिनी—क्यों ?

मालती—मुझे बड़ी शरम लागती है।

सरोजिनी ने हाथ हिला कर कहा—हाँ हाँ तुम्हें लज्जा क्यों न लगेगी, तुम दुधमुही बच्ची हो न ? तुम्हारी लाज शर्म की बात मैं सब समझती हूँ। रहने दो ये नख़रे। अब यह बताओ कि किस वक़्त जाओगी ? साफ़ साफ़ क्यों नहीं कहती कि बारह बजते ही तुम यहाँ से रफूचक्कर होगी। घंटे गिन रही हो। तुम्हारा ध्यान अभी घड़ी की ओर

लगा है। कहो तो सुईं को कुछ और आगे खिसका दूँ। बहा बनाना छोड़ दो। जो तुम्हारे मन में है वह सच सच कह दो।

मालती—मैं तुम से सच कहती हूँ, मुझे डर लगता है, भय से मेरी छाती धड़क रही है।

सरोजिनी—यह तो हुआ ही चाहे, पहली मुलाक़ात में डरने की बात ही है। जो सब को होता है सो तुम्हें कैसे न होगा। तुम कहाँ तक डरोगी? एक न एक दिन तो तुम्हें इस भय का सामना करना ही पड़ेगा। अब तो रोज़ दूल्हा से मुलाक़ात करनी होगी। कब तक शर्म करोगी?

मालती—मै रोज़ रोज़ उनके पास थोड़े ही जाती हूँ जो शर्म खोनी पड़ेगी?

सरोजिनी—तुम कब तक अपने को बचा सकती हो। एक दिन लज्जा को तिलाञ्जलि देनी ही होगी।

मालती—एक बार तुम फिर जेठानी से जा कर यह समाचार कहो। वह जो उचित समझेंगी, करेंगी। उनकी अनुमति के बिना कोई काम करना ठीक नहीं।

सरोजिनी—अच्छा मैं उनसे कहूँगी, पर आज के दिन तुम उनसे छिपकर ही मिलो। चोरी का खट्टा आम भी लोगों को मीठा लगता है। ऐसे ही सब बातों में समझ जाओ।

दूसरा परिच्छेद

सरोजिनी ने धीरे से मालती को पुकार कर कहा "छोटी भाभी! छोटी भाभी! क्या सोगई?" मालती हड़बड़ा कर उठ बैठी। आंखे मलती हुई सरोजिनी से बोली बारह बज गये?

सरोजिनी--बारह क्या अब तो छोटे भैया की घड़ी में एक बज गया।

मालती—जान पड़ता है, तुम सोगई थीं।

सरोजनी—मेरी आंखों में आज नींद कहां। सुख की नींद तो आज तुम सो रही हो। अड़ोस पड़ोस की नींद सब तुम्हारी आँखों में आ गई है।

यह कह कर सरोजिनी ने दीपक जलाया। अरगनी से गुलाबी रङ्ग की देशी साड़ी उतार कर कहा--लो, इसे पहिन लो।

मालती—नहीं, इतना आडम्बर करने की ज़रूरत नहीं।

सरोजिनी—तुम कल की छोकड़ी हो, इसका मर्म क्या समझोगी। क्या यही मैली धोती पहने जाओगी? सरोजिनी ने उसका आंचल पकड़ कर खींचा। मालती को लाचार हो उसकी आज्ञा माननी पड़ी।

जब वह कपड़ा पहन चुकी तब सरोजिनी ने कहा, "अब तुम अकेली भैया के पास तक जा सकोगी न?" मालती ने इस पर एक दिल्लगी उड़ानी चाही, किन्तु फिर उसने अपनी ज़बान रोक ली। क्योंकि इस समय उस पर कटाक्ष करना समझ का काम न होता। इसलिये उसने कहा—मैं पतोहू होकर अकेली कैसे बाहर जा सकूँगी?

दर्वाज़े खोलकर दोनों बरामदे के बाहर निकलीं। चटकीली चाँदनी रात है। चारों ओर सन्नाटा छाया है। मालती के पैरों की पाज़ेब झमाझम बजने लगी। सरोजिनी चौंक कर बोली—यह क्या! चलते वक्त पैरों से पाज़ेब तक उतारने की सुध न रही? उतारने में देर न होती! शोर जो हुआ जाता था!

मालती तुरन्त लौट गई और पाज़ेब उतार कर तकिये के नीचे रख आई। इसके बाद फिर दोनों बैठक की ओर चलीं। सरोजिनी ने दालान तक उसे पहुँचा कर धीरे से उसके कान में कह दिया, "अब मैं घर का द्वार बन्द करने जाती हूँ। तुम धीरे धीरे इस कोठरी में चली जाओ। यह कह कर वह लौट गई।

मालती धीरे धीरे सीढ़ी पर पैर रख कर स्वामी की कोठरी के बरामदे में गई। द्वार के छिद्र से देखा कि घर के भीतर दिया जल रहा है। घर के भीतर पाँव रखते उसे अत्यन्त भय होने लगा। उसकी छाती धड़कने लगी, शरीर काँपने लगा। पैर आगे को न उठता था मानो किसी ने उसके पैरों में चक्की बाँध दी हो। आख़िर साहस करके चुपचाप किवाड़ खोल कर भीतर गई। देखा, स्वामी के सिरहाने एक स्टूल पर लालटेन जल रही है। वे सो गये हैं। मालती ने किवाड़ बन्द करके बत्ती बुता दी। खिड़की की राह से कोठरी में चाँदनी आ रही थी। वह बत्ती बुझा देने पर, मानो खिल उठी। स्वामी के चेहरे पर चन्द्रमा की किरण पड़ रही थी। मालती खड़ी होकर बड़ी देर तक स्थिर दृष्टि से पति के मुँह को निहारती रही। ब्याह होने के बाद आज पहिले ही पहल उसे स्थिर भाव से पति का मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वह नज़र भर कर पति का सुन्दर मुख देख आनन्द से पुलकित हुई। उसने मन में कहा—मेरे प्राणनाथ बड़े सुन्दर हैं। ऐसे पढ़े लिखे सुन्दर पति को पाकर वह बार बार अपने भाग्य को सराहने लगी।

कुछ देर यों ही बीती, फिर उसने मन में कहा—"वाह आप बड़े रसिक मालूम होते हैं, मुझे बुला कर आप मज़े की नींद ले रहे हैं।" क्या करना चाहिए—बड़ी देर तक वह यही

सोचती रही। आख़िर उसने निश्चय किया कि "आज तक कभी इनकी चरण-सेवा नहीं की; यह पहला सुयोग आज क्यों हाथ से जाने दूँ।" यह निश्चय कर वह बैठ कर धीरे धीरे उनके पांव दाबने लगी। कोमल करस्पर्श के सुख से वसन्तकुमार की नींद और भी गाढ़ी हुई। खिड़की की राहसे मन्द मन्द शीतल सुगन्धित समीर आ रहा है। इस प्रकार कोई आध घंटे तक वह अपने प्रियतम की चरणसेवा कर ऊंघते ऊंघते स्वामी के पैरों के समीप ही सिमट कर सो गई।

ठीक दो बजे वसन्तकुमार की नींद खुली। वह जाग कर कुछ देर सोचता रहा, न मालूम वह किसकी प्रतीक्षा करते करते सो गया था। ज़रा सोचने से स्मरण हो आया, आज मालती को बुलाया था। सोने के पूर्व जब तक जागता था तब तक उसी के आने की प्रतीक्षा में जब साढ़े बारह का समय हो गया तब वह यह समझ कर कि अब मालती न आवेगी, सो रहा। यह सोचते सोचते जब उसने करवट बदली तब उसका पैर मालती के शरीर में लगा। कोमल अङ्ग के स्पर्श से विस्मित होकर वसन्त उठ बैठा। देखा, मालती सोरही है। ज्योत्स्ना पहले की जगह से हटकर अब मालती के मुँह पर पड़ रही है। चन्द्रमा की स्वच्छ किरण में लेटी हुई नवयौवना पत्नी को वसन्त देखने लगा। उसके मुखमण्डल की अपूर्व शोभा देख कर वह बहुत प्रसन्न हुआ। उस समय मालती के होंठ ज़रा ज़रा हिल रहे थे, शायद वह कोई स्वप्न देख रही थी।

स्त्री के मुह की ओर देख कर वसन्त सोचने लगा—यह तो असाधारण सुन्दरी है। पार्वती की अपेक्षा इसका मुखड़ा सुन्दर देख पड़ता है। दो तीन मिनट वह इसी उधेड़ बुन में

रहा। फिर उसने एकाएक मुँह फेर लिया। आँखें मूँद क
अस्पष्ट स्वर में कहा--भगवन्! मेरे हृदय में बल दो।

चन्द्रमा की किरण ही हृदय में दुर्बलता पहुँचा रही है
यह सोच कर वसन्त ने झट बत्ती जलाई। मिट्टी के तेल
तेज़ रोशनी में चन्द्रमा का उद्दीपन प्रकाश छिप गया। वसन्त
इतनी देर तक मानो भ्रान्ति में पड़ा था। चन्द्रमा की किरण
विलीन होते ही मानो उसकी मोहनिद्रा टूट गई। उसने मालती
के पैरों को हाथ से हिलाकर जगाया।

मालती जाग कर मारे लज्जा के सकुच गई। कपड़े से उसने
अपने बदन को अच्छी तरह छिपाया तो भी लज्जा उसका साथ
न छोड़ती थी। आख़िर उसने बहुत चेष्टा और साहस करके
एक बार ज़रा घूंघट को हटाकर तिरछी नज़र से स्वामी
की ओर देख सिर नीचा कर लिया।

वसन्त ने कहा—मालती!

मालती ने घूँघट के भीतर से संकोच भरी दृष्टि से उसकी
ओर देख कर फिर नज़र नीची कर ली।

वसन्त--आज मैंने तुमको क्यों बुलाया है, जानती हो?

मालती ने सिर हिलाकर जताया कि मैं नहीं जानती।

वसन्त—तो सुनो, मैं तुम से कहता हूँ, तुमको मेरे साथ
कलकत्ता चलना होगा। चलोगी?

मालती कुछ न बोली। वसन्त ने फिर कहा—चुप क्यों हो
रही? तुम मेरे साथ चलोगी या नहीं?

मालती ने धीरे से बड़े कोमल स्वर में कहा—आप मुझको
जहाँ ले जायँगे मैं वहीं जाऊँगी।

वसन्त—मेरे माता-पिता की सम्मति पाये विना चल सकोगी ?

मालती ने कुछ जवाब न दिया।

वसन्त—बोलती क्यों नहीं ? यह लजाने का समय नहीं है। कहो चल सकोगी या नहीं ?

मालती—माँ-बाप की सलाह विना क्यों ? उनकी अनुमति लेने में क्या हर्ज़ है ? आज कल तो सभी लोग अपनी स्त्री को अपने साथ विदेश ले जाते हैं।

वसन्त—यह बात मैंने हरिनाथ काका के द्वारा कहलाई थी। पिता जी को यह मंज़ूर नहीं। वे कहते हैं, उसकी (मेरी) मति-गति का अभी ठिकाना क्या ? वह आप चाहे भाड़ में जाय चाहे चूल्हे में। घर की बहू को जो वह मोज़ा जूता पहना कर ब्राह्म समाज में ले जायगा, यह हम जीते जी न देख सकेंगे।

मालती—सचमुच ही—क्या आप मुझको ब्राह्मसमाज में ले जायँगे ?

वसन्त—हम तुम दोनों पवित्र ब्राह्मधर्म में दीक्षित होंगे।

मालती के मन में प्रमाद उत्पन्न हुआ। वह स्वामी के इस गुप्त रहस्य से चकित हो कर बोली—मैं एक भगवान् को मानती हूँ, उन्हीं को पूजती हूँ। ब्रह्मज्ञानी बन कर क्या करूँगी ?

वसन्त गम्भीरतापूर्वक बोला—इन बातों का विश्वास मन से हटा देना होगा। मैं किस तरह एक ईश्वर को मानता हूँ ? मेरा विश्वास केवल एक ईश्वर में है।

मालती—आप शास्त्र पढ़े हैं, वेद वेदान्त की बातें जानते हैं। मैं तो यह कुछ जानती नहीं।

वसन्त—तुम्हें भी शास्त्र की शिक्षा दूँगा। कलकत्ते में तुम्हारे लिखने-पढ़ने का प्रबन्ध हो जायगा। कन्या-पाठशाला में तुम्हारा नाम लिखा दूँगा।

मालती ने सिर हिला कर कहा—नहीं, अगर कुछ सीखना होगा तो आप ही से सीखूँगी। अब मैं इस उमर में पाठशाला में न जा सकूँगी।

वसन्त ज़रा ठहर कर बोला—तुम भूलती हो, तुमने मेरा मतलब नहीं समझा। हम तुम दोनों एक मकान में रहेंगे नहीं।

मालती ने आश्चर्य-भरे स्वर में पूछा—तो मैं कहाँ रहूँगी?

वसन्त—उसी स्कूल में। स्त्रियाँ वहीं लिखती पढ़ती हैं और वहीं रहती हैं। वहाँ सब बातों का पूरा इन्तज़ाम है।

मालती ने धीमे स्वर में कहा—तब मैं न जाऊँगी।

वसन्त ने देखा, जहाँ मर्ज़ है पहले वहाँ की दवा होनी चाहिए। जब तक सब बातें खोल कर न कहूँगा तब तक काम न चलेगा। यह सोच कर उन्होंने कहा—मैं इतने दिनों से क्यों तुमसे मिलता जुलता नहीं हूँ, इसका कारण तुमने कुछ सुना है?

मालती—सुना है, पर वह भली भाँति मेरी समझ में नहीं आता।

वसन्त—तो मैं अच्छी तरह समझा कर कहता हूँ, सुनो। प्रथम हम लोगों का ब्याह प्रणय-पूर्वक नहीं हुआ। दूसरे उसकी समग्र विधि पौराणिक मत के अनुसार हुई है। इन दो कारणों से, मेरे नवीन मत के अनुसार, मेरा तुम्हारा ब्याह शास्त्रसिद्ध

नहीं हुआ, इसलिए तुम मेरी पत्नी न होकर बहन के बराबर हुई। समझ गई न ?

मालती--नहीं।

वसन्त--तो और एक बात तुमसे खुलासा कहता हूँ। मैं तुमको हृदय से नहीं चाहता। तुम पर मेरा प्रेम नहीं है।

मालती—यह तो स्पष्ट ही देख रही हूँ।

बसन्त--मैं एक और ही स्त्री को दिल से चाहता हूँ।

मालती--तो मुझे आप कलकत्ता ले जाकर क्या करेंगे ?

वसन्त–देखो मालती, मैंने बिना पूर्वानुराग के जो तुम से ब्याह किया है, यह तुम पर बड़ा अत्याचार हुआ है। यह तुम्हारे हक़ में विशेष अनर्थ हुआ। अब तुम्हारे शेष जीवन को निष्फल कर मैं तुम्हारा सर्वनाश न करूँगा। हम तुम दोनों ब्राह्म धर्म ग्रहण करके इस अशुद्ध विवाह सम्बन्ध को तोड़ डालेंगे तब तुम स्वतन्त्रतापूर्वक जिसे चाहोगी उससे ब्याह कर लोगी। मैं भी स्वतन्त्र होकर नई प्रथा के अनुसार दूसरा पवित्र विवाह कर सकूँगा। मैं तुम्हारे सुख के मार्ग में काँटा बनना नहीं चाहता। इस लिए कलकत्ते में हम लोगों का एकत्र रहना असम्भव है। अब सब बातें समझ में आ गईं ?

मालती ने घूंघट को और भी बढ़ा दिया। वसन्त की बातों का न कुछ जवाब दिया, न कुछ पूछा ही। वह कठपुतली की भाँति निश्चेष्ट बैठी रही। कुछ देर के बाद वसन्त को मालूम हुआ, मालती रो रही है।

इससे बसन्त के मन में बड़ा दुःख हुआ। उसने चाहा कि मालती के मुँह पर से घूँघट हटा कर उसकी आँखें पोंछ दें, किन्तु कठोर कर्तव्यज्ञान ने उसके हाथों को थाम लिया। रात को उस एकान्त स्थान में युवती स्त्री का अङ्ग स्पर्श करना उसे न्यायसङ्गत न जान पड़ा। इसलिए उसने कहा—मालती, तुम क्यों रोती हो? मैंने तुम्हारी भलाई के लिए कहा है।

मालती कुछ न बोली। वह उसी तरह रोती रही।

बसन्त ने पुकारा—"मालती!" इस दफ़े का स्वर कुछ बदला हुआ था। इस स्वर में मिठास थी। यह मधुर स्वर सुन कर मालती और भी रोने लगी। बसन्त बड़ी मुश्किल में पड़ गया। वह आश्चर्य मान कर सोचने लगा। इन बातों से मालती को इतना दुःख क्यों हुआ? यह इस प्रकार बिलख बिलख कर क्यों रो रही है। यह अपने भावी परित्राण की बात पर आनन्द तो प्रकट करती नहीं, उलटा दुःख क्यों व्यक्त कर रही है। ऐसा कौन होगा जो स्वतन्त्र सुख की इच्छा न करेगा? मैं इसको प्रणय की दृष्टि से नहीं देखता, देख भी न सकूँगा। इसे यह भली भाँति जानती है। इस बन्धन के कट जाने पर इसे जीवन के सुखमय उद्यान में विचरने का अवसर प्राप्त होगा। यह अपने प्रणयी के साथ रह कर सुख-चैन से समय बिता सकेगी। तो भी मेरे इस प्रस्ताव से यह इतनी दुखी क्यों है? मुझ पर इसका अनुराग तो नहीं है?

इसी समय घड़ी में टन् टन् करके तीन बज गये। मालती उठ कर खड़ी हुई। बोली मैं जाती हूँ।

बसन्त ने कर्तव्यज्ञान भूल कर मालती के छू लिया। उसका

हाथ पकड़ कर कहा—तुम अपने मन की बात मुझ से खोल कर कहो।

मालती कम्पित स्वर से बोली—अभी मेरी तबीयत ठीक नहीं है, सिर घूम रहा है।

वसन्त—तो कल मुझ से आकर कहना। कल आओगी न ?

मालती—कल की बात अभी कैसे कहूँ।

वसन्त—नहीं मालती! कल ज़रूर आओ। वसन्त के कण्ठस्वर से कुछ विशेष आग्रह ध्वनित हुआ।

"अच्छा" कह कर वह घर के भीतर चली गई।

तीसरा परिच्छेद

दूसरे दिन जब वसन्त की नींद टूटी तब दिन बहुत चढ़ आया था। जागते ही उसके मन में मालती के अश्रु-पूर्ण लोचन चित्र को भाँति प्रतिबिम्बित हुए। वह उठ बैठा। देखा, जूड़ा बाँधने का एक सोने का काँटा सेज पर पड़ा है। उसने झट पट उसे सन्दूक़ची में छिपा कर रख दिया।

वसन्त प्रति दिन सवेरे उठ कर ब्रह्म की उपासना नियम से किया करता था। इसमें कभी व्यतिक्रम नं होता था। आज वह अपने इस नियम का पालन न कर सका। आज उसका मन बड़े विमोह में पड़ा है।

गाँव के बाहर नदी किनारे जा कर वसन्त घूमने लगा। कुछ देर बाद उसने देखा, घर का नौकर शिवटहल सर्दार दौड़ा हुआ उसी ओर आ रहा है।

अकस्मात् किसी अशुभ की आशङ्का से वसन्त का जी चौंक उठा। न मालूम घर पर क्या घटना हो गई है। वह मुझे बुलाने तो नहीं आ रहा है? शायद मालती को कुछ हुआ हो! वह कुछ नादानी तो नहीं कर बैठी?

शिवटहल जब नज़दीक आया तब वसन्त ने उसे रोते देखा। घबराहट भरे स्वर में पूछा—क्यों शिवटहल! क्या हुआ?

शिवटहल ने रोते रोते कहा—क्या कहूँ, बाबू साहब! सर्वनाश हो गया। ओझा को बुलाने जा रहा हूँ।

बसन्त—साफ़ साफ़ क्यों नहीं कहते? क्या हुआ है?

शिव—डस लिया है।

डस लेने का मतलब यही कि साँप ने काटा है। वसन्त ने छाती पर हाथ रक्खा। सोचा, साँप ने किसे काटा? मालती को तो नहीं? इतने में शिवटहल बहुत दूर निकल गया। किसके ऊपर सर्प ने चोट की है, यह न पूछ पाया।

वसन्त घर की तरफ़ दौड़ चला। सदर फाटक से होकर घर के भीतर जाने में चक्कर पड़ता, इसलिये वह बाग़ के दर्वाज़े से सीधी राह निकल चला। उस राह से कुछ दूर आगे जाकर देखा, एक पेड़ की ओट में सरोजिनी और मालती खड़ी हैं। वे दोनों वाटिका के मध्यवर्ती तालाब में स्नान करने जारही हैं। यह देख कर उसने दीर्घ निश्वास लिया। दोनों के सिर खुले हैं। मालती के चेहरे पर उदासी छाई हुई है। सरोजिनी के दोनों नयन कौतुकपूर्ण हैं। सरोजिनी ने पहले वसन्त को नहीं देखा। जब वह बहुत समीप पहुँच गया तब उसने उसे देखा। मालती

ने संकुचित हो घूँघुट में मुँह छिपा लिया। सरोजिनी का मौखिक भाव देखने से स्पष्ट विदित होता था कि वह छिपे तौर से वसन्त के प्रति हास्य व्यञ्जित कर रही है मानो उसके दोनों नयन कह रहे हैं भैया "हम सब जानते हैं।" सरोजिनी ने एक बार मालती की ओर देखकर धीरे से कहा—"सम्प्रति रजनि रहस्यं नयनालस्यं निवेदयति।" वसन्त ने व्यग्रतासूचक स्वर में सरोजिनी से पूछा—साँप ने किसे डसा है ? सरोजिनी विस्मित हो कर बोली—साँप ने डस लिया है ? यह मैं नहीं जानती किसको डसा है।

वसन्त ने बैठक में जाकर सुना कि शिवटहल की स्त्री को साँप ने डसा है। यह सुन कर वह उसके घर की ओर गया। वहां जाकर देखा, बहुत से लोग इकट्ठे हैं। तान्त्रिक गण उच्च स्वर से मन्त्र पढ़ पढ़ कर झाड़ फूँक कर रहे हैं। पर वह किसी तरह न बची। शिवटहल जब तक सर्पचिकित्सक को लेकर आवे आवे तब तक वह ख़तम हो गई। यह देख कर शिवटहल मूर्छित हो धरती पर गिर पड़ा। वह पांच वर्ष के बालक की भाँति धरती में लोट लोट कर रोने लगा। उसको उस समय प्राणान्त वेदना होने लगी। कितने ही लोग इस हृदय विदारक दृश्य को न देख सके, हाय! हाय! करते अपने घर को चले गये। वसन्त भी आँखें पोंछता पोंछता घर को लौटा। वह मन में सोचने लगा एक साधारण अशिक्षित गृहस्थ के हृदय में स्त्री के प्रति इतना अनुराग! शिशिरकुमार को बुला कर उसने एक बार यह दृश्य दिखलाना चाहा। क्योंकि शिशिर हमेशा कहा करता था कि बिना पूर्वानुराग के, पुरानी रीति के अनुसार, जो व्याह होता है उसमें किसी तरह प्रेम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मन्त्रविवाह

में प्रणय होना बिलकुल असंभव है। वसन्त ने घर पहुँच कर देखा, शिशिरकुमार की चिट्ठी आई है। उसमें लिखा है—

सत्यमेव विजयते

कलकत्ता

१७ ज्येष्ठ सोमवार

प्रियबन्धु,

मैंने कल की डाक से जो पत्र तुम्हारे पास भेजा है वह तुम्हें मिला होगा। आज मैं तुमको एक शुभ संवाद सुनाता हूँ। रामपुर के महाराज निरञ्जनसिंह को अपने राजकुमार के लिए एक शिक्षक की आवश्यकता है। रोज़ दो घंटे पढ़ाना होगा। वेतन पचास रुपया मासिक है। यह विज्ञापन सुन कर मैंने उनसे भेंट की। वे तुमको इस काम पर नियुक्त करके अत्यन्त प्रसन्न होंगे। स्वीकार हो तो एक सप्ताह के भीतर ही आकर काम करने लगो। मेरी राय है कि तुम पत्र पाते ही पूर्वपरामर्श के अनुसार श्रीमती मालती देवी को साथ लेते आओ। तुम्हारा उत्तर पाते ही मैं वनिताविद्यालय में उसका सब प्रबन्ध कर रक्खूँगा।

पार्वती से जब भेंट होती है, वह तुम्हारा कुशल पूछती है। इसमें सन्देह नहीं कि तुमपर उसका प्रेम दिनों दिन बढ़ता जाता है। बहन मालती को लेआने के सम्बन्ध में तुम किसी तरह का पसोपेश या आशङ्का न करो। अगर किसी तरह का विघ्न हो तो इस बात का स्मरण करो कि संसार में अधिकांश शुभकार्य विघ्नबाधाओं को अतिक्रम करके ही सिद्ध होते हैं। शुभ कार्य करने में विघ्न का भय न करना चाहिए। अपने प्रिय

धर्म का प्रचार करने के लिए ईसा प्राण तक देने में कुण्ठित नहीं हुए। सकल मङ्गल के विधायक ब्रह्म देव तुम्हारी सहायता करें।

भवदीय

श्रीशिशिरकुमार चन्द्र

वसन्त ने शिशिरकुमार के पत्र का कुछ उत्तर न दिया। उसे बार बार मालती के आँसूभरे नयनों का स्मरण होने लगा। वह जिधर देखता था उधर वही डबडबाई हुई आँखें देख पड़ती थीं। वह आँखें मूँदता था तब भी हृदय में वही एक अश्रुपूर्ण विशाललोचनों की छवि दिखाई देती थी। मानो मालती के विशाल नेत्र जो उसकी आँखों में गड़ गये हैं वे अब निकाले भी नहीं निकल सकते। उसके मन में यही एक मात्र भावना है कि वह जाने को राज़ी नहीं है। बेचारी अत्यन्त दुखी हो रही है। उसे कैसे कलकत्ते ले जाऊँगा?

आज सवेरे शिवटहल सर्दार की हालत देख कर भी उसके नवांकुरित मन और विश्वास में बड़ा आघात लगा। शायद मालती का मुझ पर प्रेम है, इसी से वह विवाह बन्धन तोड़ने का प्रस्ताव सुन कर इतनी शोकाकुल हुई है। विवाह के पूर्व प्रेम का उदय न होने से फिर उसका होना असंभव है, यह धारणा जो वसन्त के मन में दृढ़ हो गई थी वह कुछ शिथिल हो गई। उस धारणा की सत्यता में कुछ सन्देह उपस्थित हुआ है।

सन्ध्या समय उसका छोटासा भतीजा उसके हाथ में एक लिफ़ाफ़ा देकर भाग गया। लिफ़ाफ़ा आटे से चिपकाया गया

था। उस पर किसी का नाम न लिखा था। उसके भीतर चिट्ठी थी। वसन्त ने लिफ़ाफ़ा फाड़ कर चिट्ठी निकाल ली। उसमें लिखा था—

प्रियतम,—

आप मुझे जहां ले जायँगे, मैं जानेको तैयार हूँ। जिस दिन जिस घड़ी चलने को कहेंगे आपके साथ चलूँगी। आज रात में आपसे न मिल सकूँगी। क्षमा कीजिएगा।

आपकी चरणाश्रिता दासी

मालती

पत्र पाकर वसन्त आश्चर्य के सागर में बार बार गोते खाने लगा। "जाने को तैयार है"। जान पड़ता है, अब वह मुझ से विवाहबन्धन तोड़ने को राज़ी हो गई। क्या अब उसे दुःख नहीं है?

वसन्त ने बार बार उन कई पंक्तियों को पढ़ा। अगर उसके मन में सम्बन्ध तोड़ने का दुःख नहीं है तो निश्चय है कि वह मुझे प्यार नहीं करती। फिर उसने लिखा है, "प्रियतम,—" "चरणाश्रिता दासी—" इसका क्या अर्थ? सोच विचार कर आख़िर उसने यही निश्चय किया कि यह लिखने का एक तरीक़ा है। इसका कुछ विशेष अर्थ नहीं, किन्तु इस बात को तथ्यमेव करते ही उनके हृदय में चोट लगी।

थोड़ी ही देर में इस चोट का असर जाता रहा। उसने धीरज बाँध कर मन से पूछा, 'वह मुझे प्यार करे चाहे न करे, इसमें

तुम्हारा क्या?' मन ने कहा, 'कुछ नहीं। इसके लिये मुझे कुछ हर्ष विषाद नहीं'। वसन्त ने पार्वती की मानसिक मूर्ति को बड़े आग्रह के साथ हृदय में दबा रक्खा। पार्वती के प्रेम का स्मरण कर वह मालती की ममता भूल गया। उसने अब विलम्ब करना उचित न समझा। कल ही मालती को साथ ले कलकत्ते जाने का निश्चय किया। सोचा, कल रात को चुपचाप एक बजे यहाँ से चल देंगे। रत्नपुर यहाँ से चार मील होगा, वहाँ तक पैदल जायँगे। वहाँ से बैलगाड़ी कर लेंगे। तारकेश्वर से होकर स्टेशन जाने में आठ कोस और प्रहलादपुर से होकर जाने में ग्यारह कोस पड़ेगा। प्रह्लादपुर होकर जाना ही ठीक है। उस रास्ते से जाने में अपने गाँव के किसी व्यक्ति से भेंट होने का खटका न रहेगा। कुछ अधिक दूर चलना पड़ेगा और विलम्ब होगा, इतना ही न और क्या होगा? वसन्त रात भर यही सोचता रहा। एक बार भी उसकी आँख न लगी। भविष्य के सम्बन्ध में भाँति भाँति की चिन्ताओं से उसका चित्त घबरा उठा। दूसरे दिन सवेरे उठ कर उसने मालती को लिखा,—

प्यारी बहन!

आज रात को एक बजे प्रस्थान करना। उस समय तुम मेरी कोठरी में चुपचाप चली आना। परिधान वस्त्र के सिवा और कुछ साथ लेने की आवश्यकता नहीं।

श्रीवसन्तकुमार

वसन्त एक बजे रात को अपनी स्त्री मालती को चुरा कर ले भागा।

चौथा परिच्छेद

दूसरे दिन बारह बजे दिन को जब वसन्तकुमार मालती के साथ गाड़ी से उतरा तब धूप बड़ी कड़ी थी। दोनों पसीने से तर हो गये थे। बैलगाड़ी का भाड़ा चुका कर वसन्त एक दूकान में गया। दूकानदार ने बड़ी आवभगत से उसे चटाई बैठने को दी। एक दासी आकर मालती को पर्दे में, जहाँ स्त्रियों के बैठने की जगह थी, ले गई।

उस घर के पीछे की तरफ़ ओसारा था। ओसारा के नीचे ही एक तालाब था। जल बड़ा ही स्वच्छ था। मालती मारे गरमी के मरी जा रही थी। प्यास से प्राण कण्ठगत हो रहे थे। दासी को बाज़ार से कुछ सौदा लाने के लिये भेज आप तालाब में स्नान करने गई। अभी वह अच्छी तरह ठंडी न हुई थी, बदन का पसीना तक सूखने न पाया था, धूप से आकर बिना ठंडाये वह पानी में धँस पड़ी। जब तक दासी लौट कर न आई तब तक आध घंटे के करीब वह पानी में ही बनी रही। दासी के आने पर उसने देह पोंछ कर कपड़े बदले और झट रसोई चढ़ा दी। इस बदपरहेज़ी का फल मिलने में कुछ विलम्ब न हुआ। रसोई तैयार होने के पहले ही मालती को ज्वर चढ़ आया।

वसन्त स्नान करके और कुछ जलपान कर ट्रेन की ख़बर लाने स्टेशन गया था। शिशिरकुमार को तार भी देना था। लौट कर उसने यह हाल देखा। मालती के शरीर पर हाथ रक्खा। ज्वर के ताप से उसका शरीर जला जा रहा था। दोनों आँखें सिंगरफ़ की तरह लाल हो गई थीं। जाड़े से हाथ पैर थर थर काँप रहे थे। साथ में न बिछौना है, न तकिया और न अधिक

कपड़े ही। मालती क्या बिछावे, और क्या ओढ़े ? वह बेचारी अनाथिनी की भाँति बैठी काँप रही थी।

वसन्त ने कहा—ज़रा धीरज धरो, मैं अभी एक कम्बल माँग लाता हूँ और बिछाये देता हूँ।

मालती—पहले आप भोजन करलें, आपको रसोई परोस दूँगी तब लेटूँगी।

वसन्त—नहीं, नहीं, अभी रसोई परोसने की ज़रूरत नहीं! तुम्हारी यह दशा, मुझसे कुछ न खाया जायगा।

मालती काँपते काँपते बोली—मुझे ज्वर आ गया तो आ जाने दो इससे क्या आप उपवास करेंगे ? दो दिन के कष्ट से आप सूखकर आधे हो गये हैं।

दूकानदार से वसन्त दो तीन कम्बल और तकिया माँग लाया। उसने अपने हाथ से झटपट बिछौना बिछा कर मालती से लेट रहने को कहा।

मालती ने कहा– यह भी कोई बात है ? जब तक आप कुछ न खायँगे, मैं न लेटूँगी।

वसन्त ने इस पर ध्यान न दिया। कम्बल बिछाकर मालती को लिटा दिया। बिछौने पर लेटकर मालती ने दो-तीन बार कहा– "आप अपने हाथ से रसोई परोस कर भोजन कर लें। रसोई ठंढी हो जाने से खाने में कष्ट होगा।" इसके बाद उसमें हठ करने की शक्ति न रही। वह धीरे धीरे ज्वर के प्रबल वेग से बेहोश हो गई।

* * * * * * *

तीन दिन के बाद जब मालती को कुछ होश हुआ तब उसने आँखें खोलीं । देखा, स्वामी सेज के समीप बैठे हैं ।

वसन्त ने पूछा—कहो मालती, अब कैसी तबियत है ?

मालती—"अच्छी हूँ । आपने भोजन किया ?" यह पूछते समय उसने इधर उधर दृष्टि फेरकर देखा, यह दूकान नहीं पर घर है । वह चारपाई पर पड़ी है । उसने चकित होकर पूछा—यह क्या ? मैं कहाँ हूँ ?

वसन्त—भरोसा न था कि तुमको कुछ कहते सुनूँगा । तीन दिन बाद आज तुम्हारी आँखें खुली हैं । तुम एक ज़मीदार के घर में हो ।

मालती—अयँ , तीन दिन !

वसन्त—हाँ, मालती, तीन दिन से तुम वेहोश पड़ी थी। तुम जी जाओगी तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक समझूँगा।

मालती—ज़रा देर चुप रह कर बड़े धीमे स्वर में बोली—मैं आपसे एक बात कहूँगी ।

वसन्त ने घबड़ाते हुए पूछा—क्या ?

मालती—मेरी चिकित्सा करना छोड़ दीजिए ।

यह सुन कर वसन्त की आँखों में आँसू भर आये। उसने कहा—यह तुम क्या कहती हो ? तुम जल्द अच्छी होगी। तुम किसी तरह की आशङ्का न करो ।

मालती के दोनों होंठ काँपने लगे । वह आँसू भरी आँखों से वसन्त की ओर देख कर बोली—मैं जी कर क्या करूँगी ? मेरा न जीना ही अच्छा ।

वसन्त—तुम संसार से इतना वैराग्य क्यों दिखलाती हो? मैं तुमको रोक रक्खूँगा।

मालती—मुझे रोक कर आप क्या करेंगे?

वसन्त—मैं तुमको प्यार करूंगा।

रोगिणी का ख़ाली सिर चिन्ता से घूम गया। वह आँखें मूँदकर सो गई।

कुछ देर बाद डाक्टर आये। वसन्त ने प्रसन्नता पूर्वक उनको नमस्कार करके कहा—दोपहर की दवा ने अच्छा फ़ायदा दिखाया। ज़रा होश हुआ है। अभी कुछ देर पहले उसने ज्ञानपूर्वक बातें की हैं।

डाक्टर—तो अब कोई चिन्ता नहीं। इस बुख़ार को मैं दो दिन में उतार दूँगा। किन्तु आप अपनी जान क्यों देते हैं? तीन दिन से आपने एक दाना भी मुँह में नहीं दिया। एक आसन से यहां जो बैठे सो बैठे ही हैं। आपके ऐसा अनुकूल प्रेमी पति मैंने बहुत कम देखा है।

वसन्त ने मन ही मन कहा—"बहुत कम, सही है।" प्रकट रूप में कहा—मेरी स्त्री है, इस ख़याल से नहीं, बल्कि मैं स्वभावतः ऐसा कर रहा हूँ। किन्तु आपने जो दयालुता का परिचय दिया है, उसकी बड़ाई नहीं हो सकती।

डाक्टर अपनी प्रशंसा से संकुचित हो कर बोले—मैंने तो आपका कोई विशेष उपकार नहीं किया। जो कुछ किया है वह निज का काम है। यह मेरी वृत्ति है। इसीसे मेरी जीविका चलती है।

वसन्त—अगर आप बाबू साहब से कह कर बहू का मकान

न दिला देते तो दूकान की खुली जगह में कम्बल पर लेटी र
कर मेरी स्त्री कै दिन जीती ?

डाकृर ने इस बात को फेर कर दूसरा ज़िक्र छेड़ा।
इसके बाद वे औषध पथ्य के सम्बन्ध में उपदेश देकर चले
गये।

उसी दिन रात को दस बजे मालती का ज्वर उतर गया।
वह सारी रात बड़े आराम से सोई। उसके पास वसन्त
भी आज स्वस्थ हो कर ख़ूब गाढ़ निद्रा में मग्न हो क
सो रहा।

पाँचवाँ परिच्छेद

दूसरे दिन सवेरे जब डाकृर आये तब उन्हें देख कर मालती
ने सिर पर कपड़ा ओढ़ लिया। ज्वर उतरने की बात सुन कर
डाकृर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा, "अब कुछ डर नहीं। इन्हें
जहां तक होसके प्रसन्न रखने की चेष्टा कीजिए। क्योंकि चित्त
में चिन्ता या क्रोध का सञ्चार होनेही से फिर बुख़ार चढ़ आने
की सम्भावना है।" यह कह कर डाकृर चले गये। वसन्त ने
मालती को नियमित औषध और पथ्य पानी दिया। इसके बाद
दोनों में इस प्रकार बात चीत होने लगी—

मालती—मालूम नहीं, आपने इधर कई दिनों से क्या
खाया ?

वसन्त—डाकृर के यहां से खाने को आ जाता था।

मालती तो आपका चेहरा ऐसा क्यों हो गया है ? हाय!
आप एक दम सूख गये हैं। मैं ही आपके सब कष्टों की जड़ हूं।
मुझ तुच्छ दासी के लिये आपने इतनी तकलीफ़ क्यों झेली!

वसन्त ने मुसकुरा कर कहा—अगर मैं बीमार होता तो क्या तुम मेरे लिए कष्ट न उठाती ?

मालती शय्या की ओर देख कर धीरे धीरे बोली—ईश्वर न करे कि आप कभी बीमार हों। बीमार होने की आप कभी कल्पना न करें।

वसन्त ने मालती का हाथ पकड़ कर आदरपूर्वक कहा—कल्पना नहीं करता। अगर दैवात् बीमार हो जाऊँ तब की बात पूछता हूँ।

मालती—जहाँ तक बन पड़ेगा अवश्य आपकी सेवा करूँगी।

वसन्त—क्यों सेवा करोगी ?

मालती ने रुद्ध स्वर से कहा—इसलिए कि आप मेरे स्वामी हैं।

वसन्त ने मालती का हाथ दबा कर कहा—तुम भी तो मेरी स्त्री हो।

मालती का चेहरा खिल उठा। उसने मुस्कुरा कर पूछा—कबसे ?

वसन्त—जबसे तुम्हें प्यार करने लगा हूँ।

मालती—थोड़ी देर चुप रही, फिर बोली—आप ब्राह्म मत के उपासक हैं न ? आप असत्य भाषण तो कभी कर नहीं सकते ?

वसन्त-हाँ, मैं ब्राह्म हूँ, मैं कभी झूठ नहीं बोलता। मैं तुमको प्यार करता हूँ।

मालती—उस दिन तो आपने ऐसा न कहा था।

वसन्त—वह मुझे चाहती है या नहीं, यह वही [illegible]
या ईश्वर जानें ।

मालती—क्या आपने इस विषय में उससे कभी [illegible]
पूछा नहीं ?

वसन्त—नहीं, उसके साथ कभी इस विषय की बात [illegible]
नहीं हुई ।

मालती—आप का उस पर प्रेम है, यह तो वह जा[illegible]
होगी ।

वसन्त—कैसे जानेगी ।

मालती ने ग्लानिपूर्वक कहा – वह न जाने, आप तो उसे [illegible]
जान से चाहते हैं ।

वसन्त—अगर मैं उसे हृदय से चाहता होता तो तुम [illegible]
जल्द मेरे हृदय पर पूर्ण रूप से अधिकार न जमा सकती। [illegible]
घटना से साबित हो गया कि मेरा उस पर असली प्रेम न था
केवल आँखों का ही अनुराग था; हार्दिक प्रीति न थी। उसकी
विद्या, बुद्धि और विनीत व्यवहार आदि गुणों ने ही मुझे मोहि[illegible]
कर लिया था । सच पूछो तो प्रेम क्या वस्तु है, यह मैं प[illegible]
जानता भी न था ।

दो दिन के पश्चात् मालती को पथ्य मिला । ये दो दिव[illegible]
दोनों के बड़े आनन्द में कटे ।

वसन्तकुमार आज साँझ को डाक्टर के यहाँ न्यौता खा[illegible]
कल सवेरे की गाड़ी से मालती को साथ ले मुंगेर जाय[illegible]
इसका प्रबन्ध होगया है ।

सूर्यास्त होने के अनन्तर वसन्तकुमार को डाकूर की बैठक में शिशिरकुमार का भेजा हुआ एक पत्र मिला उसे वह पढ़ने लगाः—

ब्रह्मकृपाहि केवलम्

कलकत्ता

२५ जेठ। मंगलवार

प्रिय बन्धुवर,

मैं बहन मालती के बीमार होने का संवाद सुन कर बहुत दुखी हुआ। ईश्वर उसे शीघ्र आरोग्य प्रदान करे।

आज तुमको एक दुःख का संवाद सुनाते मुझे अत्यन्त खेद हो रहा है। निःसन्देह यह संवाद सुन कर तुम्हारे हृदय में कड़ी चोट लगेगी। इसलिए पहले ही से छाती मज़बूत कर रक्खो। तुमने कई दफ़े मुझसे कहा था और तुम्हें पूरा विश्वास था कि पार्वती तुमको हृदय से चाहती है। मेरी भी यही धारणा थी किन्तु कल साँझ को यह बात एक दम निर्मूल सिद्ध हुई। सुना है, चन्द्रशेखर के साथ पार्वती के ब्याह की बात स्थिर होगई। इसके अतिरिक्त यह भी सुना कि वे दोनों दो वर्ष से प्रणय के सूत्र में बँधे हैं। प्रेम का रङ्ग गाढ़ा जम जाने पर बात खुल गई। पार्वती के कोमल व्यवहार से जो तुमने समझ लिया था कि उसका तुम पर हार्दिक अनुराग है, यह तुम्हारी सरासर भूल थी।

मैं नहीं कह सकता कि यह दारुण शोक संवाद सुनकर तुम्हारी क्या दशा होगी। अब तुम क्या करोगे, इसकी मुझे बड़ी चिन्ता है। क्या अब तुम कलकत्ते आओगे? अगर चार पांच दिन में बहन भली भाँति आरोग्य हो जाय तो तुम यहाँ आ सकते हो। तब तक राजा साहब के यहाँ का वह काम, जिसके

लिए पहले तुमको लिख चुका हूँ, दूसरे को नहीं मिल सकता कि मेरा परामर्श यह है कि तुम बहन को घर भेज कर कुछ दिन हिमालय के किसी गुप्त स्थान में जाकर, तपस्या और ब्रह्मोपासना के द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध और शान्त करने की चेष्टा करो।

भवदीय
श्रीशिशिरकुमार वर्मा

वसन्त ने पहर रात बीते डाक्टर के घर से लौट कर शिशिर का पत्र मालती को दिखलाया। पत्र पढ़ कर मालती हँसकर बोली,—तो पार्वती के ऊपर अब मेरी ईर्ष्या नहीं रही। मुंगेर न जाकर कलकत्ते चले तो हम लोग पार्वती का ब्याह भी देख लें।

वसन्त—यही सही। कलकत्ते ही चलो। मुंगेर जाने में मेरा एक और उद्देश्य था। वह यही कि मुझको भूलने का अवसर पार्वती को मिल जाय।

यह सुनकर मालती को बड़ी ग्लानि हुई। उसने कहा—तो उसी समय आपने अपने मन की बात खोल कर क्यों न कही! आपने तो कहा था कि तुम्हारे शरीर के आरोग्यार्थ तुमको साथ ले पश्चिम चलता हूं।

बाहर मौलसरी की डाल पर एक कोयल बैठी थी। मालूम होता है, वह मनुष्य की भाषा समझती थी। मालती के इस छद्ममय मानसंभ्रम की बात सुन कर वह बड़ी खुश हुई। इसी से वह बार बार पञ्चम राग अलापने लगी। वसन्त ने अपनी विवाहिता को छाती से लगा कर बार बार उसका मुँह चूम कर कहा—नहीं नहीं, यह बात नहीं! तुम हमारी हो और मैं तुम्हारा हूँ।

शारदाप्रसाद की सत्कीर्ति ।

पहला परिच्छेद

मैं अग्निबोट पर सवार होकर खुलना जा रहा था । साथ में स्त्री थी । कैबिन (कोठरी) रिज़र्व थी । हम दोनों बैठकर दिल-बहलाव की बात चीत करने लगे । पाँच छः घंटे का समय बड़ी खुशी के साथ गपशप में कट गया । सन्ध्या होने के कुछ पूर्व वह सो रही । मैंने सोचा, चलो, कुछ देर छत पर जाकर सायंकाल की ठंडी हवा का सेवन कर आऊँ ।

उसी समय स्टीमर माणिकदह घाट से रवाना हुआ था । कैबिन के भीतर बैठे रहने से मालूम हुआ कि अब दिन डूब गया । बाहर आकर देखा, सूर्यास्त होने में तब भी विलम्ब था । इसलिए मैं छत पर न गया । अलसाकर धीरे धीरे इधर उधर टहलने लगा । इतने में अकस्मात् एक अपरिचित युवा ने मेरे पास आकर मुझे साष्टाङ्ग प्रणाम किया ।

मैं दूर का दृश्य देखने के लिए चश्मा बदल कर कैबिन से बाहर निकला था । अब चश्मा उतार कर चकित दृष्टि से उस युवक के मुँह की ओर देखने लगा । पहले उसको कभी देखा है—यह स्मरण न हुआ ।

उस युवा की उमर पचीस वर्ष की होगी । शरीर दुबला और आँखें भीतर को धँसी थीं । सिर पर लम्बे लम्बे बाल थे । बहुत ही साधारण कपड़ा पहने था जिससे उसकी सामान्य अवस्था का परिचय मिलता था ।

मैंने भौं सिकोड़ कर पूछा—आप कौन हैं?

युवा—मेरा नाम शारदाप्रसाद है। घर सुकुमारपुर में है।

मैं—आपने मुझे कैसे पहचाना?

युवा ने नम्रता पूर्वक हँस कर कहा—बंगाल में श्रीमान् को कौन नहीं पहचानता? आपके सदृश स्वदेशहितैषी वक्ता—

मैंने रोक कर कहा—आप क्या चाहते हैं?

युवा—"मैं जो चाहता हूँ वह क्रम से निवेदन करता हूँ। बहुत बातें करनी हैं। अगर आप कृपा करके सुनें तो मैं कृतार्थ होऊँ।" यह कह कर वह डेक के तख़्ते की ओर देखने लगा। मामला क्या है, मैं कुछ भी न समझ सका। मैंने सोचा, शायद कुछ द्रव्य की सहायता चाहता होगा। दूसरी ओर देखते हुए मैंने धीरे धीरे कहा—क्या कहना है, कहिए; मैं सुनता हूँ।

युवा—महाशय, एकान्त स्थान की आवश्यकता है। क्या आप उस तरफ़ चलने की तकलीफ़ करेंगे?

"चलिए" कहकर मैं आगे चला। वह मेरे पीछे पीछे आया। मैं रेलिङ्ग (कटहरा) पकड़ कर खड़ा हुआ। वह मेरे पास खड़ा होकर कुछ देर मेरे मुँह की ओर ताकता रहा।

उसका इङ्गित आकार देखकर मैंने समझा, शायद पहले यह सुखी रहा होगा। अब इसकी ऐसी दशा हो गई है। कुछ माँगना चाहता है; पर याचना का शब्द मुँह से नहीं निकलता; ज़बान रुक जाती है।

युवा—मैंने आपको क्यों प्रणाम किया, आपने समझा?

मैं—नहीं, कहिए तो मालूम हो।

युवा—आप मेरे पिता हैं।

यह सुन कर मैं खिलखिला कर हँसा। मैंने पूछा यह कैसे ?

युवा ने ज़रा सकपका कर कहा—आप मेरे पिता हैं कि नहीं, यह मैं ठीक नहीं कह सकता। पर आपकी धर्मपत्नी मेरी माता हैं। फिर उसने आकाश की ओर देख हाथ जोड़ कर प्रणाम किया।

मैंने समझा, यह आदमी पागल है। उसे देख कर जो पहले मन में अश्रद्धा का भाव उदित हुआ था वह दूर हुआ, और उस पर कुछ दया उत्पन्न हुई।

युवा ने कहा—क्या आपको मेरी बात पर विश्वास नहीं होता ? आप सोचते होंगे कि यह आदमी पागल है। वे मेरी माँ ज़रूर हैं, पर इस जन्म की नहीं। मैं आपको सब वृत्तान्त सच सच सुनाता हूँ। मैं पाँच वर्ष से खाँसी से पीड़ित हूँ। मैंने अनेक उपचार किये, अनेक प्रकार की दवा खाई, परन्तु कुछ फल न हुआ। किसी तरह यह मर्ज़ न गया। मैं कालेज में पढ़ता था। इस कास-रोग के कारण मुझे पढ़ना छोड़ देना पड़ा। मेरा चेहरा देखिए, शरीर में लोहू नाम लेने को नहीं है। अस्थिचर्ममात्र बच रहा है। अब मैं अधिक दिन न बचूँगा। मैं जीवन से निराश हो कर सात आठ दिन हुए कि गाँव के बाहर विशालाक्षी देवी के मन्दिर में कुश की चटाई पर जाकर पड़ रहा। माँ, माँ कह कर बहुत रोया, आरोग्य के लिए माँ से बहुत प्रार्थना की; सन्ध्या होने के बाद घर लौट आया। मैंने उसी रात को स्वप्न में देखा कि साक्षात् विशालाक्षी भगवती मेरे सिरहाने खड़ी होकर कह रही हैं—"आपका नाम लेकर—उनकी जो स्त्री है वे पूर्व जन्म में

तुम्हारी माँ थीं। एक दिन तुमने नशे में चूर होकर उसे दुर्वच कहा था, उस पाप से तुमको यह कठिन रोग हुआ है। तुम उसके पास जाओ, उसका चरणोदक पान करो, उसी से आरोग्य होगा।" यह कह कर माँ अन्तर्धान हो गई।

मैंने पूछा—आप कहाँ जा रहे हैं?

उसने हाथ जोड़ कर कहा—"आप सब सुन चुके हैं तब मुझ इस अधम को "आप" कह कर क्यों लज्जित करते हैं? 'तू' या 'तुम' कहिए।" यह कह कर उसने झुक कर दोनों हाथों से मेरे जूते को छुआ और अपने सिर में लगाया।

मैंने पूछा—तुम कहाँ जा रहे हो?

युवा—मैं आनन्दपुर जा रहा हूँ। वहाँ मेरी ननिहाल है वहाँ से मैं आपकी खोज में कलकत्ते जाता।

"मैं कलकत्ते जा रहा हूँ," यह ख़बर आपको किसने दी?

युवा ने व्यग्र हो कहा—तो आपको!

"अच्छा, मेरे कलकत्ते जाने का हाल तुम्हें कैसे मालूम हुआ?

युवा—कहा तो किसी ने नहीं। क्या मैं यह नहीं जानता कि कलकत्ते में अब की बार कांग्रेस का अधिवेशन है? क्या यह मुझे मालूम नहीं कि बैरिस्टरों के प्रधान मिस्टर अतुलचन्द्र के कांग्रेस में योग न देने से देश का कोई हितसाधन न हो सकेगा। अपने देश में कौन ऐसा—

मैंने रोक कर कहा—अच्छा ही हुआ। 'आप'—तुम हैरानी से बच गये।

शारदाप्रसाद ने बड़े विनीत भाव से पूछा—क्या मेरी माता आपके साथ हैं?

मैंने कहा—हां, हैं। क्या आज ही उनका चरणोदक चाहते हो?

शा० प्र०—अगर आज मिल जाय तो फिर कल के लिये भी अपेक्षा कर सकता हूँ?

"तो खड़े रहो, अभी ले लो।" यह कहकर मैं अपनी रिज़र्व कोठरी की ओर अग्रसर हुआ। कैबिन छोड़े आध घंटे के करीब हुआ था। भीतर जाकर देखा, मेरी स्त्री जाग कर बैठी है। मुझको देखते ही उसने मुँह पर हाथ रख कर आश्चर्य से पूछा—आप इतनी देर कहां थे?

मैं उसके बिछौने के पास बैठ गया। उसके केशपाश को हाथ से स्पर्श करते हुए मैंने कहा—एक बड़े कुतूहल की बात है।

"क्या?"

"तुम्हारा लड़का आया है. यह कहते ही मेरे हृदय में अनुताप का भारी धक्का लगा। हमारा दो वर्ष का एक बालक था, जो इस घटना से डेढ़ वर्ष पूर्व संसार से विदा हो गया था। मैंने भूल से अपनी स्त्री के हृदय की बुझी हुई शोकाग्नि को फिर प्रज्वलित कर दिया।

वह दीर्घ निश्वास लेकर मेरे मुँह की ओर ताकने लगी। उसकी आँखों में आँसू भर आये। उसने करुणस्वर में पूछा—क्या कहा?

मैंने उसे अपनी ओर खींच कर अनुरागपूर्वक कहा—अग्निबोट पर एक संन्यासी बाबा का दर्शन हुआ है। उन्होंने

मेरे हाथ की रेखा देख कर कहा है कि शीघ्र ही तुम्हारे ए
दीर्घजीवी पुत्र होगा।

उपस्थित बुद्धि में इससे विलक्षण कोई बात न सूझी। मैं
सोचा, इतने ही से काम निकल जायगा, किन्तु इस कपट वाक्
रचना का कुछ फल न हुआ। उसकी आंखों से दो बूँद आँ
टपक पड़े। मैंने उसे छाती से लगा लिया। रुमाल से उस
आँखें पोंछ दीं और अपने अश्रुपूर्ण नेत्रों को भी पोंछा।
सोचने लगा कि किस नई बात के छेड़ने से इस चिन्तास्रोत
मुँह बन्द करूँ।

झिलमिली उठा कर देखा। सूर्य्यास्त होने में विलम्ब न था
मैंने अर्द्धाङ्गिनी से कहा—चलो छतपर जाकर सूर्य्यास्त देखें
पद्मा की धार में सूर्यास्त होते कभी नहीं देखा।

वह उठी और उस कोठरी के संलग्न स्नानागार में जा
मुँह हाथ धो, केश सँवार, बाहर जाने योग्य वेष विन्यास कर
मेरे पास आई।

इसके बाद हम दोनों छत पर जाकर टहलने लगे। देखते
ही देखते सूर्य भगवान् हम लोगों के दृष्टि-पथ से बाहर होगये
साँझ हुई। स्टीमर बड़े वेग से रास्ता काटता हुआ अपने
निर्दिष्ट स्थान की ओर जाने लगा। क्रमशः नागरवशी स्टेश
का घाट निकट आया। हम दोनों छत से उतर गये।

सीढ़ी के पास ही शारदाप्रसाद खड़ा था। हम दोनों को
देख कर उसने पूछा—"क्या यही मेरी माँ हैं?" उत्तर की कुछ
प्रतीक्षा न कर के उसने झट मेरी स्त्री को साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

एक अपरिचित युवा का यह अद्भुत व्यापार देख मेरी स्त्री चकित हो वहाँ से हट कर खड़ी हुई और मेरे मुँह की ओर ताकने लगी। मैंने कहा इस में एक रहस्य है। चलो कोठरी में कहूँगा। शारदा की धृष्टता पर मैं मनही मन बहुत कुढ़ा। कहाँ से यह भारी बला हम लोगों के सिर सवार हुई है। मैंने रुखाई के साथ कहा—आप इतने आतुर क्यों हो रहे हैं? ज़रा ठहर जाइए।

मैं इस एन्जिन के पास रहूँगा, यह कह कर शारदा तुरन्त वहाँ से हट गया। मैंने कोठरी के भीतर जाकर अपनी स्त्री से सब वृत्तान्त कहा। वह सुन कर बोली—मैं चरणोदक न दे सकूँगी।

मैंने कहा—इसमें क्या हानि है?

मेरी स्त्री—क्या आप ऐसे गँजेड़ी भँगेड़ी की भी बात का विश्वास करते हैं?

"नहीं करता, किन्तु उसके मन में यदि तुम पर विश्वास है तो शायद इससे उसका कुछ उपकार हो भी जाय ऐसा होते कई बार सुना भी है।"

"क्या होते सुना है? जन्मान्तर के माता पिता को स्वप्न में देखकर उनके चरणजल से रोग शान्त होते? बिना डाक्टरी इलाज के चंगा होना ज़रा काम रखता है।"

मैंने कहा—तुम्हारा कहना ठीक है, किन्तु किसी बात पर दृढ़ विश्वास करने से भी रोग शान्त हो जाते हैं।

"विश्वासो फलदायकः।"

यह सुन कर मेरी स्त्री चुप होरही। कुछ देर के बाद वह बोली—अगर यही बात है तो यों ही थोड़ा जल उसे दे आइए। विश्वास होने ही से उसे चरणोदक का फल मिल जायगा।

ऐसा करने की ज़रूरत क्या ? वह धोखा देना होगा। मैं चाय के प्याले में थोड़ा सा पानी डाला।

मेरी स्त्री ने हँसते हँसते मोज़ा निकाल कर कहा—क्या आश्चर्य है। आप जैसे भोले भाले भलेमानस को पाकर विलायत में किसी मेम ने आपसे ब्याह करके आपको लूट न लिया—यही आश्चर्य है।

मैंने हँस कर कहा—तुम्हें कष्ट भोगना लिखा था तो वह कैसे होता ? वैसा हो जाता तो तुम अब तक डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट की पत्नी होगई होती।

मेरी स्त्री ठठोली करना खूब जानती थी और दिल्लगी की बात मुँह पर आजाने से फिर उसे रोक भी न सकती थी किन्तु उससे उलट कर एक बात भी ठठ्ठे की कहो तो फिर उसे वह बरदाश्त न कर सकती थी। उसने कहा—बहुत हुआ, रहने दीजिए। अब आपकी चालाकी न चलेगी। आपकी समझ में यह एक दिल्लगी हुई।

मैंने इस बात का कुछ जवाब न देकर चाय का प्याला ले उसका पैर थाम लिया। उसने अपना पैर खींच कर तुर्शी के साथ कहा, "आप पैर क्यों छूते हैं ?" मेरे उत्तर की प्रतीक्षा न कर के झट मेरे हाथ से प्याला लेकर उसने पानी में अपने पैर का अँगूठा छुआ कर पास वाली टेबुल पर रख कर कहा—नौकर से कह दीजिये दे आवे।

मैंने कहा—नौकर क्या उसे पहचानता है। मैं ही दे आता हूँ। यह कह कर मैंने प्याला उठा लिया। उसने कहा—यह क्या करते हो, क्यों मेरे सिर पर पाप चढ़ाते हो ?

मैंने गम्भीरतापूर्वक कहा—देखो, स्त्रियों को लिखाना पढ़ाना एक दम भस्म में घी डालना है। इतना लिखा पढ़ा तो भी साधारण सी बात के लिए जी से तरफ़दारी नहीं गई।

यह कह कर मैं कैबिन से बाहर गया।

दूसरा परिच्छेद।

कांग्रेस होजाने के बाद मैं ढाका लौट आया। एक दिन दरबान हाथ में स्लेट ले कर हाज़िर हुआ। जो लोग मुझसे मिलने आते थे, पर साथ में कार्ड न लाते थे उनके लिए मैंने एक स्लेट रखवा दी थी। स्लेट पर अँगरेज़ी में लिखा था—शारदाप्रसाद चटर्जी।

दो महीने की पुरानी बात मेरे मन से एकदम उतर गई थी। मैंने समझा, शायद कोई नया पुरुष आया है। बुला भेजा। चेहरा देखते ही धक से याद हो आया। यह वही शारदा था जो अग्निबोट पर मिला था। उसने आते ही मेरे पैरों के सामने धरती पर सिर टेक कर मुझे प्रणाम किया।

मैंने पूछा—कहो, अब कैसे हो? कुछ उपकार हुआ?

शारदा मेरी बात का कुछ जबाब न दे कर छाती पर हाथ रख कई दफ़े खाँसा। फिर उसने कहा—उससे बड़ा फ़ायदा हुआ था, बल्कि यों कहना चाहिए कि बहुत दिनों तक खाँसी बिलकुल दबी रही, लेकिन फिर (खाँसने लगा) पाँच सात दिन से (बड़े वेग की खाँसी आई वह आगे न बोल सका। खाँसते खाँसते पास ही एक कुरसी पर बैठ गया)।

जब उसकी खाँसी का वेग रुका तब मैंने कहा,—चरणोदक के भरोसे न रहो, कुछ दवा भी खाओ।

"दवा मिले भी तो" फिर खाँसने लगा।

साढ़े सात बजे शाम को मेरे घर पर दोस्तों का भोज था, लोग कुछ ही देर में आ जायँगे, बीच में यह एक विघ्न सा आ गया—यह सोच कर उसे शीघ्र वहाँ से हटाने के अभिप्राय से मैंने पाकेट से पाँच रुपये निकाले। शारदा को देकर मैंने कहा—यह लो, किसी अच्छे डाक्टर से दिखा कर पथ्यपूर्वक औषध का सेवन करो। चरणोदक पीने से कहीं रोग अच्छा होता है?

इसी समय मिस्टर बोस की गाड़ी आ गई। मैंने शारदा से जल्दी में कहा—आज मैं बड़ी जल्दी में हूँ। तुम अभी जाओ।

शारदा रुपयों को अपनी जेब में रख कर चला गया।

दूसरे दिन जब मैं सो कर उठा तब दिन बहुत चढ़ आया था। मैं उठकर खड़ा हुआ और सामने उद्यान की ओर देखने लगा तो एक व्यक्ति काले सर्ज की चादर ओढ़े बाग़ में टहल रहा था। जब तक उसकी पीठ मेरी ओर थी तब तक मैं उसे पहचान न सका। चेहरा देखते ही पहचान लिया, शारदा है। क्रोध से जी जल गया। भोर होते न होते यह नटखट फिर मेरे सिर पर सवार हुआ। इतने में दरवान स्लेट ले कर आया।

चाय की टेबुल पर प्रातःकालिक समाचार-पत्र के साथ शारदा का कार्ड मौजूद था। मेरी स्त्री तब तक नीचे न उतरी थी। उसने पहले ही आकर भक्तिभाव से मुझे प्रणाम

किया और फिर हाथ जोड़ कर कहा—"कल सारी रात मैं जागता रहा, ज़रा भी नींद नहीं आई। अपने ऊपर आप का यह अहैतुक प्रेम देख कर मैं कल से चिन्तित हूँ। मैं कहाँ का रहनेवाला कौन आदमी हूँ, यह बिना जाने-बूझे मेरी दवा के लिए पाँच पाँच रुपया दे डालना आप ही का काम है। ये रुपये आप लौटा लें।" यह कह कर उसने पाकेट से रुपये निकाल कर टेबल पर रख दिये।

शारदा का यह आचरण देख कर उस पर मेरी श्रद्धा कुछ बढ़ गई। मैंने कहा—नहीं नहीं, वह रुपया लौटाने की ज़रूरत नहीं। वह मैंने तुम्हारी चिकित्सा ही के लिए दिया है।

शारदा ने खाँसते खाँसते कहा—दैवी शक्ति में ही मेरा अधिक विश्वास है। डाक्टरी कविराजी इलाज पर मेरा विश्वास नहीं। इस अवस्था में इतना रुपया वैद्य को दे डालना मैं व्यर्थ समझता हूँ।

मैंने कुछ सोच कर कहा—विश्वास एकदम न रहने से फल प्राप्त होना कठिन है।

शारदा—"मेरा हार्दिक विश्वास है, दृढ़ विश्वास है कि यदि माँजी का चरणोदक दोनों वक्त पीने को मिले और उनकी चरण धूलि सिर में लगाता रहूँ तो निश्चय है कि मैं एकदम नीरोग हो जाऊँगा। नहीं तो अब की बार बचने की आशा नहीं है।" यह कहते कहते उसकी आँखों में आँसू छल छलाने लगे।

मैं बड़ी देर तक इस बात को मन में सोचता रहा—"क्या मेरी स्त्री दोनों वक्त चरणोदक देने और प्रणाम लेने में राज़ी होगी ?" इसी समय वह खूब ज़ोर से खाँसने लगा। उसका सूखा चेहरा और दुर्बल शरीर देख कर मेरे मन में बड़ी दया

आई। मन में कहा—उसे राज़ी हो जाना चाहिये। जैसे हो मैं उसे राज़ी करूँगा। संसार में लोग अनेक प्रकार से लोगों का उपकार करते हैं। यदि इस साधारण उपाय से इसे फ़ायदा हो—इसकी जान बचे, तो वह करना ही चाहिए।

मैंने शारदा से कहा—तुम नीचे जाकर बैठो, मैं अभी तुम्हें बुला भेजूँगा।

मैं ऊपर के खण्ड में स्त्री को खोजने गया। मालूम हुआ कि वह स्नान-घर में है। आध घंटे के बाद उसके दर्शन हुए। बरामदे में छोटी सी चौकी खींच कर ले गई और उस पर केश सुखाने बैठी। मैंने कहा—शारदा फिर आया है। वही साँभर का शारदा?

"फिर क्यों आया है?"

मेरी स्त्री की स्मरण-शक्ति का क्या कहना है! मैं स्लेट पर शारदा का नाम तक देख कर उसे न पहचान सका वह नाम सुनते ही उसे पहचान गई।

मैंने कहा—उसकी खाँसी फिर बढ़ गई है।

स्त्री ने कहा—अब मैं उसे चरणोदक न दे सकूँगी। उसे चरण-जल देकर मैं एक बार धर्मविरुद्ध काम कर चुकी हूँ। न मैं पीर हूँ, न पैगम्बर, जो मेरे पैर का धोवन पीने से उसका रोग हट जायगा।

मैंने हँस कर कहा—सब लोग तुम्हारे ऐसे उच्च शिक्षा-प्राप्त नई रोशनी के तो हैं नहीं, अगर उसका वैसा ही विश्वास हो तो कोई क्या करे। उस दफ़े तो वह उसी से अच्छा हो गया था।

मैंने इस दफ़े का रङ्ग कुछ बदला देखा। वह पहले ही से अस्वीकार की भूमिका बाँधने लगी है। बहुत कहने-सुनने

से शायद वह फिर भी एक प्याला चरणामृत उसे दे दे, पर इससे तो उसका काम न चलेगा। अगर इससे कहदूँ कि कुछ दिन तक बराबर तुम्हें दोनों वक्त यह अमूल्य महौषध देना होगा तब तो यह एकदम अधीर हो जायगी। यह सोच कर भी मैं चुप न रहसका, शारदा के सम्बन्ध की सब बातें कह डालीं। जितने बड़े विद्रोह की आशङ्का थी उतना न हुआ। मैं मन ही मन शारदा के सौभाग्य की बड़ाई करने लगा। मेरी अर्धाङ्गिनी अचरज के साथ बोली—डाक्टरी कविराजी औषध में तो उसे विश्वास ही नहीं है, विश्वास है मेरे चरणोदक में। शाम सवेरे मेरा चरणोदक लेगा, उसी से अच्छा होगा!

मैंने कहा—वह तो ऐसा ही कहता है, यहाँ तक कि बिना चरणोदक के वह न बचेगा। उसकी प्रार्थना पूरी करो।

मेरी स्त्री ने मौन धारण कर सम्मति का लक्षण व्यञ्जित किया। कुछ देर बाद हम दोनों नीचे उतर आये।

यह शुभ संवाद पाकर शारदा आनन्द से अधीर हो गया। मैंने उससे पूछा—तुम्हारा घर कहाँ है?

शारदा—कहीं नहीं। यहाँ मेरी जान पहचान का कोई नहीं जिसके यहाँ ठहरूँ।

"तो कहाँ ठहरोगे?"

शारदा—जब आपने इतनी दया की है तो कुछ दिन के लिए रहने की जगह का भी प्रबन्ध कर देने की कृपा कीजिए"। यह कह कर वह चुप हो रहा।

मैंने कहा—मेरे कर्मचारियों की एक 'मेस' है, उसीमें ठहर सकते हो।

शारदा—"यह तो बड़ा अच्छा होगा। मैंने कल रात को उन्हीके यहाँ खाया-पिया है," यह कह कर वह खाँसने लगा। जब खांसी रुकी तब वह विनयपूर्वक बोला—यदि आपकी आज्ञा हो तो आज एक बार माजी के श्रीचरण का दर्शन करूँ।

मैं उसे अपनी अर्धाङ्गिनी के पास ले गया। उसने उन्हें प्रणाम किया। मेरी स्त्री सकरुण दृष्टि से उसके मुँह की ओर देखने लगी।

टेबल पर गिलास में पानी रक्खा था। शारदा ने उसे अपने हाथ में ले मेरी स्त्री का पैर धुला कर चरणोदक बनाया, फिर बड़ी भक्ति से पीकर जो थोड़ा सा बच रहा उसे सिर पर डाल लिया।

दो तीन दिन बीत गये, पर इस उपचार से उसे कुछ भी फ़ायदा न हुआ। रोग ज्यों का त्यों बना रहा। शारदा ने रोकर कहा—"अब की बार माँ प्रसन्न मन से चरणोदक नहीं देतीं। देतीं तो क्या अब तक मेरा रोग रह सकता?" यह कहते कहते उसकी आँखों से टप टप आँसू गिरने लगे।

मैंने यह बात अपनी स्त्री से जाकर कही। वह बोली—न औषध खायगा, न पथ्य से रहेगा। चरणोदक पीने से कहीं रोग अच्छा हुआ है? भला यह अनहोनी बात कैसे हो सकती है?

मैंने कहा—मानसिक शक्ति से कुछ काम हो सकता है। तुम चरणोदक देते समय मनही मन पूर्णरूप से भावना करो कि "इस जल से उसका रोग निवृत्त हो।"

स्त्री ने हँस कर कहा—बलिहारी है आपकी समझ की।

मानो विलायती बगुले का पर लगा कर आपकी अक्ल हंस बनकर आकाश को उड़ा चाहती है।

मैंने कृत्रिम ग्लानि का भाव प्रकट कर के कहा—तुम मेरी बुद्धि को हंस न बनाकर प्रकारान्तर से मुझे कौआ बनाती हो। अगर मुझे इतना काला देखा तो मुझसे ब्याह क्यों किया? मैजिस्ट्रेट साहब—

मेरी स्त्री इस बार मुस्कुराती हुई मुझे रोक कर बोली—हाँ हाँ, अगर सब आपही के ऐसे काले होते तो सारा संसार उजला हो जाता।

यह बात किसी तरह झूठ न थी। मैं भारत का एक प्रसिद्ध गौरवर्ण व्यक्ति समझा जाता था इसे विलायत की स्त्रीसभा तक ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है।

तीसरा परिच्छेद।

शारदा का शारीरिक स्वास्थ्य दिन दिन अच्छा होता दिखाई देने लगा। उसका कास रोग दूर हो चला। उसके चेहरे पर जो मुर्दनी छाई थी वह उड़ गई। चेहरे की रौनक़ दिन दिन बढ़ने लगी। शरीर में नये शोणित का संचार होने से कान्ति बढ़ने लगी। यह देख कर मैं बहुत ख़ुश हुआ। मेरी स्त्री भी उसे प्रसन्न दृष्टि से देखने लगी और उसे अपना भक्त समझ बाज़ार से सौदा वग़ैरह लाने की फ़रमायश करने लगी। जिस वस्तु के मँगाने में नौकरों पर विश्वास न होता था वह अकसर शारदा के साथ से ही आने लगी।

एक दिन मेरे एक मित्र के घर विवाहोत्सव था। उस दिन हमको उनके यहाँ का निमन्त्रण था। वहाँ अधिक रात तक रहने की बात थी। विवाह हो जाने पर प्रणयिनी परिणय नाटक होगा। घर लौटते दो बज जायँगे। यह मैंने अपने नौकर-चाकरों से कह दिया था। शारदा को विश्वास पात्र मान कर कुछ दिन से आईन के पुस्तकालय की रक्षा का भार उसी को सौंप दिया था। उससे भी कह दिया कि तुम आज लाईब्रेरी ही में सोना और सावधानी से रहना।

शारदा ने कहा--यह आपको कहना न पड़ेगा। जब तक आप न लौटेंगे तब तक मैं बराबर जागता रहूँगा।

वह बेशक जागता था, इसका सुबूत पीछे मिला। घर आते आते तीन बज गये। मेरी स्त्री कपड़े बदलने के लिए दूसरी कोठरी में गई। मैंने शयनागार का द्वार खोल कर जो दृश्य देखा उससे मैं हक्का बक्का सा हो रहा।

शारदा बड़े सन्दूक़ के सम्मुख बैठा है। उसके आस पास कितने ही सोने-चाँदी के बर्तन बिखरे पड़े हैं। आलमारी खुली है। मुझको घर में प्रवेश करते देख शारदा—"दादारे दादा" कह कर स्पष्ट स्वर में रोने लगा।

मैंने उसके पास जाकर देखा, वह आपसे आप गिरफ़्तार हो गया है। उसके दोनों हाथ लोहे के तार से बँधे हैं। वह ऐसे जकड़बन्द में पड़ा है कि अपने हाथों को हर्गिज़ नहीं छुड़ा सकता। बल्कि वह जितना ही अपने हाथ खींचने के लिये ज़ोर लगाता था उतने ही उसके हाथ और मज़बूती से बँधते जाते थे। जिस सन्दूक़ के पास वह बैठा था उसमें एक विचित्र कल लगी थी। उस सन्दूक़ का वृत्तान्त यों है कि जब मैं विला-

यत में था तब इस नीलामी सन्दूक़ को बहुत दाम देकर ख़रीदा था। एक कोठी का दिवाला निकल गया था। उसी का यह सन्दूक़ था। इस सन्दूक़ में एक विचित्र ताला था, पर कुंजी न थी। ताला खोलने की यह तरकीब थी कि धातुनिर्मित कई एक अँगरेज़ी के अक्षर बने थे, उन्हें यथास्थान सन्निवेशित करने से ताला बनाने वाले का नाम निकल आता था, साथ ही ताला भी अपने आप खुल जाता था। ताला खुल जाने पर भी सन्दूक़ को कोई सहज ही नहीं खोल सकता था। ढक्कन खोलने के पूर्व एक बटन दबाना पड़ता था। जो कोई बटन दबाये बिना ढक्कन खोलता था उसके दोनों हाथ फ़ौरन एक स्प्रिंगदार लोहे की कल से बंध जाते थे और वह हज़ार कोशिश करने पर भी अपने को नहीं छुड़ा सकता था, जब तक कि बटन न दबाया जाय। मेरी स्त्री की असावधानी से शारदा ने किसी दिन ताला खोलने का नाम जान लिया था, पर बटन दबाने की युक्ति उसे मालूम न थी। बिना बटन दबाये खोलने वाले की क्या दुर्दशा होती है, इस विषय में वह अनभिज्ञ था।

संसार में कोई मनुष्य ऐसा नहीं जिस पर पूरा विश्वास किया जाय। शारदा बड़ाही निश्छल भलामानुस सा देख पड़ता था। जो लोग कहते हैं कि मनुष्य का चेहरा देखने से स्वभाव लक्षित होता है वे नीति के पूरे तत्त्ववेत्ता नहीं। क़ानून का व्यवसाय करते करते मैं लोगों के स्वभाव का पूरा परिचय पा गया था। "स्वरूप देख कर ही कोई स्वभाव का निर्णय नहीं कर सकता है" इस मत का मैं पहले ही से विरोधी था; शारदा के इस आचरण ने मेरी विरोधबुद्धि को और भी दृढ़ कर दिया।

मैंने उसके पास जाकर रोषभरे स्वरमें कहा—तूने खूब अच्छा काम किया—बड़ी सपूती की।

क्रोध से मेरा सर्वाङ्ग जला जाता था। शारदा ने नासिका के ऊपर ज़ोर दे कर कहा—बाबा! मेरा कोई कुसूर नहीं!

यह सुन कर मेरा जी और जल उठा। इच्छा हुई कि उसके मुँह पर एक चपत जमादूँ, किन्तु मैंने अपने को रोका। इस समय मेरी स्त्री वहाँ आई। शारदा की दशा देख कर वह चौंक उठी, भय से उसका शरीर काँपने लगा। उसने मेरी ओर देख कर पूछा—"क्या मामला है?" मेरी स्त्री को देख कर शारदा ने दुगुने स्वर से रोना आरम्भ किया। मैंने कड़क कर कहा—चुप रहो सूअर,! नहीं तो अभी मारते मारते हड्डी तोड़ दूँगा।

मेरी स्त्री ने मुझसे कहा—"उस कोठरी में चलिए।" यह कह कर वह मेरा हाथ पकड़ कर धीरे धीरे दूसरी कोठरी में ले गई और एक कुर्सी पर बैठा कर वह बोली—"क्या करना चाहिये?" मैंने कहा—करना क्या? इसे पुलिस में दे दूँगा।

उसने ज़रा सोच कर कहा,—पुलिस में देने की ज़रूरत नहीं। इसे छोड़ दीजिये। लोभ में पड़ कर इसने यह गर्हित काम कर डाला है। पहला कुसूर माफ़ होना चाहिए। यदि वह अपनी इस बुरी करतूत पर पश्चात्ताप करे, अपने को सुधारने की चेष्टा करे, तो आप उसे अवसर दें। पुलिस में देने से उसका जीवन एक दम मिट्टी में मिल जायगा।

मैंने सोचा यदि शारदा चोरी करके भाग जाता तो क्षमा करना अवश्य असम्भव होता, किन्तु जब वह भागने में असमर्थ हुआ तब उसे अधिक सताना उचित नहीं। इतने दिनों से

उसकी रक्षा कर अन्त में उसे यमराज के हाथ में सौंपना ठीक न होगा। इन्हीं बातों को सोच कर मेरे मन में भी दया उपज आई। किन्तु एक दम क्षमा प्रदान करने से सामाजिक कर्तव्य में बड़ा आघात लगेगा। चोर को छोड़ देना अत्याचार के अङ्ग को पुष्ट करना है। जब मैं ही कर्तव्य का पालन न करूँगा तब और लोग कैसे करेंगे? मेरी स्त्री ने कहा—नहीं, पुलिस में देने ही से सामाजिक कर्तव्य का अनादर होगा। व्यक्तिगत कर्तव्यों पर ही सामाजिक रीति-नीति अवस्थित है। क्रोधवश एक मनुष्य के जीवन को चिरकाल के लिए बेकार न कीजिए।

मैंने शारदा को सिर्फ़ धमका कर छोड़ दिया। कलकत्ते में कांग्रेस कब हुई थी? १८९६ ईस्वी में। पूरे तीन वर्ष के बाद शारदा का पत्र उस दिन मिला। वह इस समय जमालपुर म्युनिसिपैलिटी में टैक्स दारोग़ा का काम कर रहा है। उसके मामा ने पाँच सौ की ज़मानत देकर उसे यह नौकरी दिला दी है। कुछ दिन उसका समय बड़े कष्ट में कटा था, भिक्षान्न से ही जीवनयात्रा चलती थी। उस पर जो हम लोगों का 'अहेतुक स्नेह' था, उस सम्बन्ध में उसने अनेक कृतज्ञतापूर्ण बातें लिखी हैं; और लिखा है कि मेरी खाँसी बहुत बढ़ गई है। इस दफ़े वह जीवन से निराश हो बैठा है। वह कुछ दिन यहाँ आकर रहना चाहता है, किन्तु इस बात की प्रार्थना करने का अब उसे साहस नहीं होता। उसके पत्र की अन्तिम कई पंक्तियाँ यही हैं:—

"अगर मैं आप के पास रहने योग्य रहता, अगर फिर माजी चरणोदक पीने देतीं तो उससे आरोग्य होने की बहुत

कुछ आशा थी। किन्तु अब मैं किस मुँह से यह प्रस्ताव करूं। मेरी मृत्यु होने ही से मैं उस कलङ्क से विमुक्त हो सकूँगा। उस पाप का प्रायश्चित मेरी मृत्यु के सिवा और क्या है ?" मेरी स्त्री ने वह पत्र देखकर कहा—मेरी एक बात आप मानेंगे ?

"क्या ?"

"उसको आने के लिए लिखिए।"

"वह नौकरी करता है, यहाँ आकर क्या करेगा" ?

"कुछ दिन की छुट्टी ले आवे।"

"चरणोदक देने हीं के लिए न उसे बुलाती हो! इससे बेहतर होगा कि चार पाँच औंस चरणोदक एक शीशी में भर कर पार्सल द्वारा उसके पास भेज दो।"

"नहीं नहीं, उसको एकबार देखने को जी चाहता है। आप समझते होंगे कि वह इस जन्म के लिए मेरे पास ऋणी है। वह मुझसे अपने को उपकृत मानता है; मुझसे उपकार की आशा रखता है; इसी कारण मेरी ममता उस पर बढ़ गई है। यह मेरे हृदय की एक दुर्बलता मात्र है।"

मैंने गम्भीर भाव धारण करके कहा—मैं अपने को धन्य मानता हूँ, क्योंकि मेरी स्त्री ऐसी दीनवत्सला है, जिसका चरणोदक पीने से कितने ही लोग पुनर्जीवन लाभ करते हैं।

"वाह ! आप इस तरह हँसी क्यों उड़ाते हैं! क्या मैंने कभी कहा है कि मेरा चरणोदक पीने ही से उसके प्राण बचे! मैंने उसके नैतिक जीवन की बात सोच कर कहा था। अगर आप उसे पुलिस के हवाले करते तो क्या उससे उसका सर्वनाश न होता!

मैंने कहा--तुमने नैतिक जीवन के अतिरिक्त ,उसे आधि-दैविक जीवन भी दिया है। यदि तुम उसे चरणामृत न देती तो वह इतने दिन बच नहीं सकता।

यह सुनकर मेरी स्त्री खिलखिलाकर हँसने लगी। इतना अधिक हँसने का अर्थ अच्छी तरह न समझ कर मैं अज्ञान की भाँति उसके मुँह की ओर देखता रहा। जब उसकी हँसी रुकी तब मैंने कहा--इतना क्यों हँसती हो!

"शायद आप यह समझ बैठे हैं कि शारदा मेरा चरणोदक पीने ही से अच्छा होगया था।"

"तो क्या तुम्हें दोनो वक्त प्रणाम करके अच्छा हुआ?"

"नहीं, नहीं, यह बात भी नहीं। इसमें एक रहस्य है।"

मैंने अत्यन्त उत्सुक होकर पूछा--क्या, क्या, कहो तो?

जब शुरू में दो तीन दिन देखा कि उसकी खाँसी क्रमशः बढ़ती जाती है तब मैं पानी में पैर के स्पर्श के बदले दोनों समय होमियोपैथिक दवा की दो तीन बूँदों का स्पर्श कराने लगी। काँच के गिलास में औषध तैयार करके टेबल पर रख देती थी। शारदा के आने पर कह दिया करती थी, वह रक्खा है जल ले जाओ।"

स्त्री की बुद्धिमत्ता सुन कर मैं अवाक होगया। शारदा को लिख दिया चले आओ, उसने पत्र द्वारा सूचित किया कि यह काला मुँह आप लोगों को दिखलाने का साहस नहीं होता। इस से लाचार हो कर मैंने दो शीशी होमियोपैथिक दवा ख़रीद कर उसके पास भेज दी।

एक सप्ताह के बाद पार्सल लौट आया। जिस दिन सवेरे

पार्सल वापस आया था उसी दिन शाम को एक पुलिस कर्मचारी ने आकर मुझसे भेंट की। ये साहब मेरे पूर्व परिचित थे। उन्होंने वह पत्र, जो मैंने शारदा को लिखा था दिखला कर पूछा--आप इस शख़्स का पूरा पता बता सकते हैं?

मेरे पूछने पर भेद खुला म्युनिसिपैलिटी का बारह हज़ार रुपया हज़म करके शारदा भाग गया है। यह संवाद सुनकर मेरी स्त्री अत्यन्य विस्मित हुई।



प्रियतम ।

पहला परिच्छेद

प्रियतमा के साथ तरङ्गिणी का सम्बन्ध विचित्र ही ढँग का था। उसे ठीक ठीक सखित्व नहीं कह सकते। दोनों में ननँद-भौजाई का नाता था। दूर का रिश्ता होने पर भी प्रेम घनिष्ठ था। वे दोनों परस्पर प्रणयी-प्रणयिनी की भाँति बर्ताव रखती थीं। उन दोनों में जो पत्र-व्यवहार होता था वह केवल प्रेम के कारण, दोनों के पत्र प्रेम की बातों से भरे रहते थे। पत्र में एक भी शब्द ऐसा न रहता था जिसका प्रेम भाव से सम्पर्क न हो। उनके पत्रों में प्रेम सम्बन्धी आदर, विनोद, शुभ सौभाग्य, मान, महत्त्व, अभिमान, उपालम्भ और अनुताप के शब्दों की भरमार रहती थी। भेंट होने पर दोनों एकान्त में जाकर बैठतीं और घुल घुल कर प्रेमालाप करती थीं। किन्तु तृतीय व्यक्ति के सामने वे दोनों चुप हो रहतीं, एक भी शब्द मुँह से न निकालती थीं। तरङ्गिणी ने कई मर्तबा प्रियतमा के गले से लिपट कर पूछा—"प्यारी सखी, सच सच बताओ, तुम मुझे ज़्यादा प्यार करती हो या अपने पति को" ? प्रियतमा कहती है "तुमको"। एक दिन प्रियतमा ने अपने स्वामी पर विशेष अनुराग प्रकट किया था इस कारण तरङ्गिणी ने उस दिन अन्न जल ग्रहण न किया; दिन भर भूखी रही। प्रियतमा ने बहुत अनुनय-विनय करके सखी को प्रसन्न किया। प्रियतमा उसी दिन से उसके साथ कपट व्यवहार करने लगी।

तरङ्गिणी सत्रह वर्ष की है। उसके पहरने की साड़ी लाल किनार की है, बिलकुल महीन सूत की है और दोनों हाथों में सोने की चूड़ियाँ हैं, परन्तु सिर सिन्दूर से ख़ाली है। वह आठ वर्ष की उम्र में ब्याही गई थी, नवें वर्ष में बेचारी विधवा हो गई। हा अभाग्य! तरङ्गिणी जब पहले पहल ससुराल आई तब उसकी संगिनी साथिनी, जो समझिए, उसकी सास और ददिया सास (श्वशुर की माँ) थीं। प्रियतमा उसकी एक पड़ोसिन थी, किन्तु पहली बार तरङ्गिणी की उससे भेंट न हुई। उस समय वह भी अपनी ससुराल में थी। जब वह कुछ दिन के बाद नैहर आई तब तरङ्गिणी ने उसे देखा। पहली बार की भेंट में ही तरङ्गिणी का दिल उससे मिल गया।

विधवा बालिका (तरङ्गिणी) ने अपने तृषित हृदय का समस्त प्रेम सखी (प्रियतमा) को समर्पित किया। तरङ्गिणी कभी उसको प्रिय, कभी प्रियवर, और कभी प्रियतम कहती थी। पत्र में भी वह उसे प्रियतम ही लिखती थी। प्रतिदिन सन्ध्या समय दोनों अपने अपने कोठे की छत पर चढ़ कर परस्पर एक दूसरे को देख कर प्रसन्न होतीं। इसके सिवा तरङ्गिणी दूसरे तीसरे प्रियतमा को पत्र भी लिखती थी। तरङ्गिणी की ससुराल थी, किन्तु प्रियतमा का नैहर था। प्रियतमा जब चाहती तरङ्गिणी के पास चली आती थी। सदर दर्वाज़े से आना होता था पीछे का दरवाज़ा खोल कर तालाब के किनारे के रास्ते से बाग़ के भीतर होकर तरङ्गिणी के घर की खिड़की में पहुँचने का अच्छा सुभीता था। यह पर्दे की राह दोनों के लिए बराबर थी, परन्तु तरङ्गिणी की सास उसे कहीं जाने-आने न देती थी। इसमें कुछ नुक़सान न था। तरङ्गिणी का घर अपेक्षाकृत उत्तम

और निर्जन होने के कारण वहीं दोनों सखियों को प्रेमालाप तथा क्रीड़ा-कौतुक करने की विशेष सुविधा होती थी।

तरङ्गिणी का अनुराग प्रियतमा पर उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। प्रियतमा को बिना देखे उसे क्षणभर भी कल न पड़ती थी। यहाँ तक कि वह पल भर के लिए भी प्रियतमा से अलग होना न चाहती थी। प्रियतमा बड़ी धारता, दया और सहिष्णुता के साथ उसके प्रेम का दुःसह्य अत्याचार सह कर उसको प्रसन्न रखती थी। वह सोचती कि मेरे पति हैं, प्रेम के पात्र हैं, पर मेरी प्यारी सखी के कोई नहीं। इसका मन भङ्ग करना ठीक नहीं। इस लिए हर हमेश इच्छा न रहने पर भी वह मौखिक आदर दिखाकर उसका मन रखती थी।

वह तरङ्गिणी को प्यार से कभी तरी, कभी तरणी और कभी स्नेहतरणी कहती थी। उसने अपनी ससुराल में एक बार "मृणालिनी" अभिनय देखा था। इस लिए वह कभी कभी तरङ्गिणी को गले लगाकर हँसते हँसते यह गीत गाती थी—

"तरलतरङ्ग विरह-सागर की अति भीषण गति धारे।
"मेरी प्रीतिनाव उसमें पड़ कैसे लगे किनारे॥"

प्रियतमा तरङ्गिणी का सिर्फ़ आदर ही करके न रह जाती थी जिन प्रत्युत बातों के लिए तरङ्गिणी उसके साथ हठ करती उसे वह लाचार होकर करती थी। अगर किसी दिन प्रियतमा तरङ्गिणी के साथ प्रणय-कलह नहीं करती तो वह कहने लगती कि "तुम क्या मुझे हृदय से चाहती हो जो मुझपर मान-अभिमान करोगी?" कुछ दिन प्रियतमा को यह कृत्रिम मान-अभिमान, ईर्ष्या, ग्लानि बड़ी बेजा जंचती थी; किन्तु धीरे धीरे

सब अभ्यास हो गया। "कर्तव्य-पालन कर रही हूँ" यह समझे उसे कोई बात असंगत न मालूम होती थी।

दूसरा परिच्छेद

साँझ होने के कुछ ही पूर्व तरङ्गिणी एक सूनी कोठरी में बैठ कर आप ही आप गुन गुना कर गा रही थी—

"मैंने किया यह अज्ञान!

मान मन में ठान कर उसका किया अपमान।
चल दिया प्रीतम हमारा दे मिला कोई आन॥

तरङ्गिणी के कण्ठ से निकलती हुई यह धीमी तान भ्रमर के गुञ्जार की भाँति सुन पड़ती थी। आज सवेरे जब प्रियतमा तरङ्गिणी से मिलने आई थी तब तरङ्गिणी ने क्रोध कर के उसके साथ उमँग कर बातें नहीं कीं—न उससे बैठने ही को कहा। इससे प्रियतमा अपना अपमान समझ, रोती सी हो कर चली गई। और दिन वे दोनों दिन में आठ दस बार कोठे की छत पर चढ़ कर परस्पर मुखावलोकन करतीं, किन्तु आज तरङ्गिणी दिन भर प्रियतमा को देखने की इच्छा से छत पर बैठी रही, पर प्रियतमा की सूरत एक बार भी न देख पड़ी। साँझ होते देख तरङ्गिणी छत से उतर आई! सूर्यास्त होने में विलम्ब न था। तरङ्गिणी ने प्रियतमा को एक पत्र लिखना चाहा किन्तु आज सवेरे सखी विमुख हो लौट गई थी, दूसरे प्रियतमा ने उसके पूर्व दिन के पत्र का कुछ उत्तर भी न दिया था। पत्र का उत्तर मिले बिना दूसरा पत्र लिखने में तरङ्गिणी आगा

पीड़ा करने लगी और अपने प्रातःकाल के अशिष्ट व्यवहार पर बार बार पछताने लगी। फिर यह सोच कर वह मन को धीरज देने लगी कि प्रियतमा का भी कुछ कम दोष नहीं है। उसके स्वामी आये हैं, इससे क्या उसे दिन में एक बार भी छत पर आने का अवसर न मिला? मैंने जो उस पर क्रोध किया यह भी तो उसीका दोष था? उसने नियमित समय पर मेरे पत्र का उत्तर क्यों नहीं दिया? क्या स्वामी ने उसके हाथ बाँध रक्खे थे या क़लम तोड़ दी थी? या स्याही फेंक दी थी?

तरङ्गिणी टेबल के पास कुरसी पर बैठी थी। गाल पर हाथ रक्खे वह इन बातों को सोचने लगी। क्रमशः अँधेरा हो चला। टेबल पर दासी एक लम्प रख गई। तरङ्गिणी ने दराज से चिट्ठी लिखने का रंगीन काग़ज़ और लिफ़ाफ़ा निकाला। चिट्ठी लिखी। तरङ्गिणी लिखना पढ़ना अच्छा जानती थी। विधवा होने पर छः वर्ष तक वह अपने नैहर में रही। उसके भाई ने उसे यत्न-पूर्वक पढ़ना लिखना सिखाया था। उन्होंने यह सोच कर उसके पढ़ाने लिखाने में मन लगाया था कि बहन कुछ पढ़ लिख लेगी तो इसे धर्म अधर्म का कुछ ज्ञान हो जायगा और शास्त्र चर्चा में समय बिता कर यह दारुण बालवैधव्य का दुःख सहने में समर्थ हो सकेगी।

जब चिट्ठी लिखी गई तब तरङ्गिणी ने उसे लिफ़ाफ़े में बन्द किया। लिफ़ाफ़े पर नाम लिखने के पूर्व उसने फिर एक बार सोचा कि उसके पास चिट्ठी भेजूँ या न भेजूँ। यह चिट्ठी भेजना क्या है मानो पैर पकड़ कर दया की भिक्षा माँगनी है! जिसने समझ बूझ कर कान मूँद लिया है उसके आगे रोना व्यर्थ है।

वह यह सोच ही रही थी कि एकाएक उसका सिर घूमने लगा। आँखों के सामने अँधेरा सा छागया। हिस्टिरिया (मिरगी) का पूर्व लक्षण दिखाई देने लगा। पन्द्रह वर्ष की उम्र से कभी कभी उसे हिस्टिरिया हो जाता है। अधिक पढ़ने, अधिक सोचने या बड़ी देर तक जी ख़राब रखने से यह रोग उसे धर दबाता है। आज तो दिन भर उसकी तबीयत ख़राब रही। डाक्टर ने उपचार बता दिया था कि रोग का पूर्व लक्षण जान पड़े तो ठण्डा पानी पीना, और सिर तथा आँखों पर ठण्डे पानी के छींटे देना। घर के एक कोने में पानी रक्खा था, तरङ्गिणी ने पानी पी कर आँख-मुँह धोया। सिर पर भी पानी डाला। परन्तु रोग का दौरा किसी भी तरह नहीं रुका। वह कुरसी पर बैठी ही बैठी अचेत हो गई। हाथ पैर पटकने लगी। कुछ ही देर में वह कुरसी सहित लुढ़क कर ज़मीन पर गिर पड़ी। वह एकदम बेहोश हो गई। तरङ्गिणी के इस रोग से घर भर के लोग परिचित थे और हमेशा सावधान रहते थे। पास वाले कमरे में एक दासी थी। वह कुछ गिरने का शब्द सुन कर झट दौड़ आई। तरङ्गिणी की दशा देख उसी घड़ी उसने नीचे जाकर ख़बर दी।

परसों तरङ्गिणी के ससुर के चचेरे भाई अपनी स्त्री और बेटे को लेकर घर आये हैं। उनके पुत्र सुधीरचन्द्र का उपनयन होने वाला है। तरङ्गिणी की सास उस समय घर में न थी। वह डोली में बैठ कर पड़ोस की स्त्रियों को निमन्त्रण देने गई थी। घर में थी केवल वही नई आई हुई छोटी चाची। वह दौड़ कर तरङ्गिणी को देखने गई।

उसकी एक बहन को भी यह रोग था इस लिये वह बेहोशी

दूर करने की बहुत कुछ तदबीर जानती थी। उसने दासी की सहायता से तरङ्गिणी को उठाकर पलँग पर लिटाया और उसको होश में लाने का प्रयत्न करने लगी। एकाएक उसकी दृष्टि निकट-वर्ती टेबल पर रक्खे लिफ़ाफ़े पर जापड़ी। उसने दहने हाथ से तरङ्गिणी को पंखा झलते झलते बाँये हाथ से लिफ़ाफ़ा उठा लिया और उँगलियों के सहारे चिट्ठी निकाल कर लिफ़ाफ़े को टेबल पर फेंक दिया। चिट्ठी को चिराग़ के सामने खोल कर देखा। "प्रियतम" शब्द को देखते ही उसका माथा ठनका। हाथ-पैर भारी हो गये। छाती धड़कने लगी। उसने कलेजा थाम कर दासी से कहा—"तुम पंखा झलो, मैं अभी आती हूँ।" वह पंखा फेंक कर वहाँ से चली गई।

उसके स्वामी हृदयनाथ मेरठ शहर के प्रधान डाकृर थे। डाकृरी की बदौलत उन्होंने बहुत धन पैदा किया था। ये मुसलमानी खाना मज़े में खाते थे, फिर भी अपने को पूरा हिन्दू मानते थे। यह आज कल की नहीं, बहुत दिनों की बात है। अभी उनके सिर में लम्बी चोटी लटक रही है। स्त्रीशिक्षा के वे बड़े विरोधी हैं। उनकी पहली स्त्री इस संसार से विदा हो चुकी है। सुधीर उसीके गर्भ से उत्पन्न है। दूसरी स्त्री के अभी तक कोई सन्तान नहीं हुई। होने की आशा भी नहीं, क्योंकि उसकी उम्र पचीसवें साल तक पहुँच गई है। वह मोटी इतनी है कि तोंद निकल आई है।

हृदयनाथ एक कमरे में बैठे न मालूम क्या लिख रहे थे। वे अपनी स्त्री को एकाएक अपने पास आते देख चौंक पड़े। उनको स्त्री ने वह चिट्ठी उनको देकर कहा—पढ़िए।

हृदयनाथ ने चश्मा लगी आँखों से अपनी स्त्री के मुँह की ओर देख कर कहा—क्या है?

स्त्री—पढ़िए, आप ही मालूम होजायगा ।

हृदयनाथ—किसने लिखा है ?

स्त्री—किसी ने लिखा हो, आप एक बार पढ़िए तो ।

हृदयनाथ धीमे स्वर में चिट्ठी पढ़ने लगे । उसमें लिखा था-

"प्रियतम,

मैं न जानती थी कि तुम्हारा हृदय पत्थर से भी कठोर है । यही तुम्हारा मुझ पर प्रेम है ? मेरा मान-अभिमान सब तुम्हारे प्रेम पर निर्भर है । मैं रिस करूँगी, तो क्या कोई मुझे मनावेगा तक नहीं ? कल सबेरे जो मैंने तुमको पत्र लिखा था उसका जवाब तुमने क्यों नहीं दिया ? इसी से मैं रूठी थी. इसीसे तुमसे भेंट होने पर भी मैं तुमसे उमङ्ग के साथ नहीं मिली । मैंने क्यों मुँह भारी किया था, यह क्या तुम्हें नहीं जान पड़ा ? न जान पड़ा तो मुझसे रूठने का कारण पूछना चाहिए था । तुम्हारे चले जाने पर मुझे बड़ा कष्ट हुआ । मैं तुमको देखने के लिए आज दिन भर छत पर बैठी रही, पर तुमने आज अपनी छत पर एक बार भी पैर न रक्खा । मैंने तुम्हारे सोच में अब तक मुँह में पानी तक नहीं डाला । देखो, जब तुमने मेरी ख़बर न ली तब हार कर मैं ही तुमको चिट्ठी लिखने बैठी हूँ । प्रियतम, जान पड़ता है, कि तुम्हारी प्रीति की तरणी पुरानी हो गई है, इसीसे इतना अनादर है ।

तुम्हारी प्रीति की प्यासी.

वही त०"

पत्र पढ़कर हृदयनाथ ने पूछा—यह किसकी चिट्ठी है ?

उनकी स्त्री ने कहा—किसकी है ? छोटी बहू की है ।

"सच कहो । क्या यह उसीके हाथ की लिखी है ?"

"हाँ, हाँ, आप ही की छोटी बहू के हाथ की लिखी हुई है । आख़िर उस हत्यारिन ने यही किया । कुल में कलङ्क लगाया ! यह तो मैंने तभी समझ लिया था । विधाता ने जिसका सिन्दूर हरण कर लिया उसे लाल किनार की साड़ी से प्रेम क्यों ? गहना पहरने की ज़रूरत क्यों ? पान किस लिए ?"

स्त्री की वक्तृता में बाधा देकर हृदयनाथ ने कहा—तुम ठीक जानती हो ? ये उसीके हस्ताक्षर हैं ?

"आपकी बात सुनने से मेरा जी जल उठता है । क्या यह नई बात है ? क्या ये अक्षर आज पहले ही पहल देखे हैं जो न पहचान सकूँगी ? आज चार वर्ष से तो यह कुलकलङ्किनी मुझे पत्र लिखती है ।"

"तो अब क्या करना चाहिए ?"

"करना क्या चाहिए ? झाड़ू मार कर घर से निकाल दीजिए । काशी भेज दीजिए ।"

"लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे ?"

"लोग सुनने से क्या बाक़ी रक्खेंगे ? आप किस किसका मुँह बन्द करेंगे ? यह बात भी कहीं छिपी रहती है ?"

हृदयनाथ वह पत्र स्त्री को लौटाकर ज़रा सोचते रहे । फिर बोले—विश्वास नहीं होता । ऐसा होना संभव नहीं ।

"तो कैसा होना संभव है ? आप बिलकुल सीधे सादे हैं; सबको अपनी ही स्त्री की भाँति सती साध्वी समझते हैं ।"

हृदयनाथ के होठों पर कुछ हँसी का आभास झलक पड़ा । उन्होंने कहा—मैं विश्वास नहीं कर सकता कि छोटी बहू

बिल्कुल पाप में लिप्त होगई है। तुम जो कहती हो वही बात कदाचित् सही हो, तो भी वह अभी लों धर्मच्युत नहीं हुई। होने का उपक्रम मात्र हुआ है।

"उपक्रम मात्र हुआ है, इसका क्या अर्थ ? आप समझते हैं कि अभी केवल काग़ज़ी घोड़े ही दौड़ रहे हैं ?"

"हाँ, मैं तो ऐसा ही समझता हूँ।"

"जैसी आपकी बुद्धि है वैसी बातें हैं। चिट्ठी में तो स्पष्ट ही लिखा है।"

"क्या लिखा है ?"

"तो आपने चिट्ठी क्या पढ़ी ख़ाक ? आपने स्वयं पत्र पढ़ा है। मैंने सिर्फ़ आपको पढ़ते सुना है। चिट्ठी में तो साफ़ लिखा है 'तुमसे जब भेंट हुई तब मैं उमङ्ग के साथ नहीं मिली।' क्या सिर्फ़ चिट्ठी पत्री ही चलती है ? भेंट मुलाक़ात भी होती है, सब होता है।"

इसी समय दासी दौड़ी आई और हाँफती हुई बोली—छोटी माँ ! जल्दी चलो; देखो, बहू की बेहोशी बढ़ती जाती है।

छोटी माँ दासी के साथ उसे देखने गई। हृदयनाथ अकेले बैठ कर भाँति भाँति की बातें सोचने लगे। उनका स्वभाव कुछ ठंडा था। उनकी चित्तवृत्ति सहसा उत्तेजित न हो जाती थी। किसी विषय में उन्हें एकाएक विश्वास न होता था, किन्तु जब उनकी धारणा स्थिर हो जाती थी तब वे किसी तरह उसकी उपेक्षा न करते थे। विधवा बहू के सम्बन्ध में वे नाना प्रकार के तर्कवितर्क करने लगे। "जो जन्म ही की बेवा है उसके लिए, सांसारिक सुख के प्रलोभन को अलग कर ब्रह्मचर्य-

व्रत को निर्दोष रखना, नितान्त कठिन है। फिर तरङ्गिणी तो कुछ लिखी पढ़ी है। बहुत लोग जो स्त्रीशिक्षा का विरोध करते हैं उसका एक यह भी विशेष कारण है कि स्त्री को जहाँ कुछ लिखना पढ़ना आया तहाँ वह सहसा अयुक्त प्रीति की ओर झुक पड़ती है। स्त्रीशिक्षा से लाभ के बदले विशेष हानि होने ही की संभावना है।" हृदयनाथ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देख कर अत्यन्त विवश हो गये। स्त्रीशिक्षा का विरोध उनके मन को आलोड़ित करने लगा। वे सोचने लगे—बड़े भाई से यह कहना उचित है या नहीं। न कहने से प्रतीकार की कोई संभावना नहीं। तरङ्गिणी को यहाँ रखना भी अब किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं है। अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। अभी तक यह बात ज़ाहिर नहीं हुई है, पर इसके प्रकट होने में अब अधिक विलम्ब नहीं है। जब बात फैल जायगी तब हम लोग समाज में मुँह दिखलाने योग्य न रहेंगे। बेटे-बेटी का ब्याह होना कठिन हो जायगा। उसे अन्यत्र भेजने में भी तो कुशल नहीं। वह जहाँ जायगी वहीं अपना मुँह काला करेगी।

जब रात के आठ बजे तब हृदयनाथ की भौजाई और माँ लौट आईं। उन दोनों के प्राण छोटी बहू में ही बसते थे। तरङ्गिणी की मूर्च्छा की ख़बर सुन कर वे तुरन्त ऊपर गईं। जाकर देखा, बहू की मूर्च्छा अभी तक नहीं हटी। दासी और हृदयनाथ की स्त्री उसकी शुश्रूषा कर रही थीं।

सब कहती थीं—ऐसा तो कभी न होता था। इतनी देर तक मूर्च्छा कभी न रहती थी। आज न मालूम क्या हो गया?

कब मूर्च्छा आई, मूर्च्छा आने के बाद क्या क्या उपचार किया गया है, इन बातों की भली भाँति जाँच पड़ताल करने के बाद बूढ़ी

माँ बोलीं—"बड़ा अन्याय हुआ है।" छोटी बहू (हृदयनाथ की स्त्री) को लक्ष्य करके कहा—"इतनी देर तक दासी के भरोसे रोगी को छोड़कर चला जाना अच्छा नहीं हुआ।" दासी ने कहा—माई! मेरी देह में क्या उतनी ताक़त थी कि अकेली मैं बहू को सँभाल सकती? मैंने दबाकर रखने की बहुत कोशिश की; फिर भी यह हाथ पैर फेंकते फेंकते चारपाई से उछलकर धड़ाम से नीचे गिर गईं। तभी से मुँह से थोड़ा थोड़ा लोहू गिरने लगा है।

घर के मालिक विश्वनाथ ने घर आकर सब बातें सुनीं। उन्होंने हृदयनाथ से कहा—तुम घर ही पर थे, इतनी देर से कुछ उपचार न किया? जाओ, जाओ, अब भी जाकर देखो। क्रमशः लक्षण ख़राब होते जाते हैं।

हृदयनाथ बड़े भाई की बात कैसे टालें। अछताते पछताते उठे और ज़बरदस्ती तरङ्गिणी को देखने गये। ज़रा जाँच करके कहा—गिर जाने से इसके कलेजे में सख़्त चोट लगी है।

रात भर सब लोग तरङ्गिणी की सेवा शुश्रूषा और दवा-पानी में लगे रहे।

तीसरा परिच्छेद

प्रियतमा के पति का नाम है मदनमोहन। गरमी की तातील में कालिज बन्द होने पर वह कल सबेरे अपनी ससुराल आया है। तरङ्गिणी के साथ प्रियतमा के सखित्व की बात उसे पत्र-द्वारा पहले ही से मालूम थी। पहली रात को भेंट में दोनों एक

दूसरे को पाकर तन्मय हो रहे थे। सारी रात दोनों अपने चिर-सन्तप्त हृदय की आग बुझाने ही में लगे रहे। भोर हुआ, तो भी प्रेम-कहानी का अध्याय पूरा न हुआ।

तरङ्गिणी के विषय में कोई बात करने का अवसर न मिला। दूसरे दिन, रात के दस बजे, जब प्रियतमा अपने प्रियतम के पास आई तब प्रथम प्रेमालाप होने के कुछ ही देर बाद मदन-मोहन ने कहा—अपनी अन्तरङ्गिणी सखी की प्रेमपाती न दिखावेगी ?

प्रियतमा—वह कैसे दिखा सकती हूँ ? उसने मना कर दिया है। कह दिया है, पत्र किसी को मत दिखाना।

मदन—मालूम होता है, मैं भी 'किसी' में ही गिना जाता हूँ ! अस्तु, तुमको दिखलाना होगा।

प्रियतमा—अच्छा, तरङ्गिणी से पहले पूछ लूँ।

"अगर वह आज्ञा न दे।"

"न देगी तो कैसे दिखलाऊँगी ?"

मदन ने रिसाकर कहा—न दिखाओगी तो मत दिखाओ मैं तुम्हारा कोई नहीं, वही सब कुछ है।

प्रियतमा इसका कुछ जवाब न देकर चुप हो रही। दूसरे दिन उसने तरङ्गिणी से सब समाचार कहा। तरङ्गिणी ने गिड़गिड़ा कर कहा—"नहीं, नहीं, मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ। मेरी चिट्ठी उन्हें न दिखा देना।" जब प्रियतमा रात को मदनमोहन के पास गई तब उन्होंने पूछा—क्या हुक्म मिला ?

प्रियतमा—नहीं, वह किसी तरह राजी नहीं हुई। उसने

बार बार निहोरा करके कहा कि 'मेरा पत्र उन्हें मत दिखलाना।'

इससे मदनमोहन के मन में बड़ी ग्लानि हुई। मारे ग्लानि के वह बेचारा युवा नायक बालक की भाँति रोने लगा।

उसको रोते देख कर प्रियतमा झट पेटी से चिट्ठियों का बंडल निकाल लाई और स्वामी को देकर बोली—यह लो, देखो, इसके लिए रोने-धोने का काम नहीं।

मदनमोहन ने चिट्ठियों का पुलिन्दा दूर फेंक कर कहा—मैं नहीं देखना चाहता।

इस अपमान से मर्माहत होकर प्रियतमा नीचे बैठ कर आँचल से आँखें ढाँप कर रोने लगी।

उस अवस्था में उसको कुछ देर देख मदनमोहन का क्रोध शान्त हुआ। वह स्त्री के पास जा कर बोला—क्यों झूठ-मूठ को रो रही हो?

इससे प्रियतमा का रोना और बढ़ गया। वह और भी सिसक सिसक कर रोने लगी। मदन का धीरज अब हाथ से जाता रहा। वह अपने हाथ से उसकी आँखें पोंछ कर सादर आश्लेषण-पूर्वक, अनेक प्रणय-वाक्यों से उसे मनाने लगा। कुछ देर में जब वह प्रकृतिस्थ हुई तब मदन बिखरी हुई चिट्ठियाँ चुन कर ले आया और एक एक चिट्ठी के ऊपर दृष्टि डाल कर बोला—तरङ्गिणी की हस्तलिपि बड़ी अच्छी है।

"हाँ, बहुत स्पष्ट, पुरुष के हाथ की लिखावट जान पड़ती है।"

"अच्छा, तुम इनमें से दो चार चिट्ठियाँ छाँट दो, मैं पढ़ूँगा।"

प्रियतमा ने एक पत्र की ओर निर्देश कर के कहा—इस को पढ़िए।

मदनमोहन उस पत्र को पढ़ने लगा। इधर प्रियतमा ने और भी कई चिट्ठियाँ चुन कर मदनमोहन को दीं। मदनमोहन एक एक कर सब पत्र पढ़ गया। पत्र पढ़ कर वह उदास हो गया। प्रियतमा ने पूछा—आप क्या सोच रहे हैं?

मदन—देखो, अब तुम अपनी सखी के साथ ऐसा भाव मत रक्खो।

प्रियतमा ने पूछा—क्यों?

मदन—न रखना ही अच्छा है। यदि तुम्हारे और तरङ्गिणी के इस पत्रव्यवहार की बात हम न जानते होते तो यह चिट्ठियाँ जैसी हैं उन्हें देखने से अवश्य मन में सन्देह उत्पन्न होता।

"क्या सखी से इस प्रकार का प्रेम बुरा है?"

मदन—बुरा है या नहीं, इसकी समालोचना का प्रयोजन नहीं है। मुझे छोड़ और किसीसे तुम प्रेम का सम्बन्ध नहीं जोड़ सकतीं। किसी सखी को इतना अधिक प्यार करने से मेरे प्यारे प्रेम के अंश में न्यूनता आ जायगी। तुम्हारा प्रेम बँट जाने से मैं घाटे में रहूँगा।

प्रियतमा ने मुस्कुराकर कहा—आपको क्या हो गया है?

मदन—हँसी की बात नहीं है। इन पत्रों को पढ़ कर मेरा जी बिगड़ गया है। सखी सखी के बीच इस तरह आशिक़-माशूक़ की भाँति चिट्ठी का लिखा जाना कभी सपने में भी न सुना था।

"वह नित्य मुझको पत्र लिखती है। यदि उसको उत्तर न दूँ तो वह नाराज़ होती है।"

"नाराज़ होती है तो होने दो।"

प्रियतमा—"वह बड़ी मानिनी है, बात बात में क्रोध करती और मुँह फुलाती है। कल उसने मुझको एक पत्र लिखा था समय न मिला इससे मैं उसके पत्र का उत्तर नहीं दे सकी। मैं प्रतिदिन साँझ को टहलने की इच्छा से छत पर जाती हूँ वह भी अपने कोठे की छत पर आती है । उस समय हम दोनों में देखा-देखी हो जाती है । कल सन्ध्या समय वह छत पर नहीं आई । आज सवेरे मैं विना किसी से कुछ कहे उसके घर गई थी । उसने मुझसे बैठने तक के लिए न कहा। मुझसे एक बात भी न की,बल्कि किसी काम का बहाना कर के दूसरे कमरे में चली गई। मैंने उसके पास जाकर कहा,"सखी, इतनी नाराज़ किस लिए ? जानती ही हो, मुझे समय नहीं मिलता, तब तुम जान के क्यों अजान बनती हो ?" उसने कहा—"हाँ, हाँ, मैं जानती हूँ, तुम्हारे प्राणप्यारे आये हैं, इसी से तुम्हें फ़ुरसत नहीं मिलती । हम तो ठहरी वेवा, हम को हमेशा ही फ़ुरसत रहती है ।" यह बात मुझे बहुत बुरी लगी। मैं उसी घड़ी वहाँ से चली आई । आज साँझ को भी छत पर नहीं गई, कल का बदला चुका लिया। क्या मैं क्रोध करना नहीं जानती ?

मदनमोहन ने कहा—अब इन बातों को जाने दो।

प्रियतमा उनका आशय समझ कर और ही तरह की बातचीत करने लगी। मदनमोहन भी उसका उचित उत्तर प्रदान कर रहस्य का आनन्द लूटने लगे। फिर दोनों सो रहे। अभी इन की नींद पूरी भी न होने पाई थी कि प्रियतमा की माँ ने द्वार पर आकर प्रियतमा को पुकारा। वह तुरन्त हड़बड़ा कर उठी। झटपट उसने द्वार खोल दिया। तब रात्रि बीत चुकी थी।

उसकी माँ ने कहा—बेटी, तुमसे एक बात कहनी है।

प्रियतमा ने शङ्कित होकर पूछा—क्यों माँ, क्या हुआ है ?

माँ ने उसे उसारे में ले जाकर कहा—तरङ्गिणी बहुत बीमार हो गई है। उसकी दासी तुमको बुलाने आई है।

भय, आश्चर्य और विषाद से अधीर होकर प्रियतमा बोली—माँ, उसे कौन बीमारी हुई है ? दासी कहाँ है ?

"उस कमरे में है। तुमको अपने साथ ले जाना चाहती है।"

माँ-बेटी दोनों एक कमरे में गईं। वहाँ तरङ्गिणी की टहलनी खड़ी थी। प्रियतमा को देख कर वह रोते रोते बोली—बिट्टी, मालूम होता है. छोटी बहू अब न बचेंगी। तुमको एक बार देखना चाहती हैं। जब जब होश होता है, तुम्हारा ही नाम लेती हैं। तुम्हीं को पुकार कर चुप हो रहती हैं। चलो, जल्दी चलो।

यह सुन कर प्रियतमा का शरीर थर थर काँपने लगा। वह माँ से अनुमति लेकर उसी क्षण दासी के साथ तरङ्गिणी को देखने गई। जब वे दोनों तरङ्गिणी के घर के दरवाज़े के पास पहुँचीं तब एकाएक रोने-चिल्लाने की आवाज़ उनको सुन पड़ी। दोनों कलेजा थाम कर वहीं बैठ गईं और हाय हाय करने लगीं। प्रियतमा वहीं से लौट आई, दासी गला फाड़ फाड़ कर रोती और सिर पीटती हुई भीतर गई।

चौथा परिच्छेद

एक महीने के अनन्तर हृदयनाथ, घर के लोगों को साथ ले, मेरठ गये। घर में रहे उनके बड़े भाई और उनकी बूढ़ी माँ। जेठ का महीना है। मेरठ में कैसी सख़्त गरमी पड़ती है, यह

वहाँ के रहने वालों का जी जानता है। सूर्यदेव प्रचण्ड रू
धारण कर मानो दिन भर आग बरसाते हैं। पृथ्वी लोहे के तवे
की भाँति तप जाती है। दस बजते बजते लोगों का मार्ग में
चलना बन्द होने लगता है। दोपहर को तमाम दूकानें बन्द हो
जाती हैं। सड़क लोगों से शून्य होने के कारण श्मशान की भाँति
प्रतीत होने लगती है। आफ़िस-अदालत का कार्य सवेरे होता
है। संध्या होने के कुछ पहले सड़क पर लोग फिर निकलने
लगते हैं।

एक अँधेरी सी कोठरी में दोपहर के समय हृदयनाथ
चारपाई पर लेटे हुए थे और सोने की चेष्टा कर रहे थे। और
कमरों की अपेक्षा यह कोठरी कुछ ठण्डी थी, इसलिए मध्याह्न
के समय सब इसी कोठरी में आकर विश्राम लेते थे। द्वार और
खिड़कियों में खस की टट्टियाँ लगी थीं। घर के भीतर ही बैठ
कर एक लड़का-नौकर पंखा खींच रहा था। हृदयनाथ की
गृहिणी बाल-बच्चों को लेकर कोठरी के एक कोने में पड़ी थीं।
उनकी भावज शीतलपाटी पर, तकिये के सहारे, बैठी देवर से
गप कर रही थीं। प्रसङ्गवश तरङ्गिणी की बात छिड़ी। हृदयनाथ
की भावज़ ने खेदपूर्वक कहा—हाय! वह क्षण भर की बीमारी में
इस तरह दग़ा देकर चली जायगी—यह मैं न जानती थी।

हृदयनाथ—उसके लिए सोच करने से अब क्या होगा!
जो होनी थी हुई। उसके जीने ही से क्या सुख होता?

"यह क्यों कहते हो?"

हृदयनाथ—मैं बहुत दिनों से आपसे एक बात कहना
चाहता था, परन्तु कहने का साहस न होता था। वह भले
मर्यादा से चली गई, यह सब प्रकार अच्छा ही हुआ।

उनकी भावज ने अचम्भे में आकर पूछा—मेरी समझ में न आया ? क्या हुआ था ? समझा कर कहो।

हृदयनाथ कुछ देर चुप रहे, फिर बोले—अब कहना व्यर्थ है। उसका चाल चलन ख़राब हो गया था।

यह सुन कर वे मानो आकाश से गिर पड़ीं। वे बोलीं—छोटे बाबू! यह क्या कहते हो ? ऐसा न कहना। वह स्वर्ग को गई, हम लोग नरक में हैं। वह साक्षात् सती का अवतार थी।

हृदयनाथ ने एक लम्बी साँस ले कर कहा—मैंने उसके हाथ की लिखी चिट्ठी अपनी आँख से देखी है।

"कैसी चिट्ठी ?"

"सो अब क्या कहूँ ?"

"किसको लिखी थी ?"

"यह मैं नहीं जानता कि किस पापिष्ठ ने हमारे कुल को कलङ्कित किया था। भगवान जानें।"

भावज ने उत्तेजित होकर कहा—बाबू! तुम भूलते हो! ऐसा होना कभी सम्भव नहीं।

हृदयनाथ पूर्ववत् म्रियमाण हो कर बोले—वह चिट्ठी अब तक मेरे पास रक्खी है।

"देखूँ! कहाँ है ?"

हृदयनाथ ने धीरे धीरे उठकर बकस खोल कर चिट्ठी निकाली।

भावज उनके हाथ से चिट्ठी ले कर खिड़की के पास गईं। ख़स के परदे को हटा कर उजेले में उन्होंने अच्छी तरह पत्र को

देखा । इसके बाद वे शान्तभाव धारण कर अपने [स्थान पर] आ बैठीं । पत्र हृदयनाथ को लौटा कर बोलीं—ठीक तो है । पत्र देख कर चित्त ठिकाने आया ।

हृदयनाथ बड़े विस्मित होकर बोले—यह क्यों ?

भावज ने धीरे धीरे कहा—उसने यह पत्र अपनी सखी प्रियतमा को लिखा था । वह उसी चटर्जी की लड़की पिरितिया है । उसके साथ उसकी बड़ी घनिष्ठता थी । दोनों में रोज़ ही चिट्ठी-पत्री आती जाती थी । आह ! पिरितिया को वहू प्राण से भी बढ़ कर मानती थी । पिरितिया ससुराल जाने के दिन जब मुझसे मिलने आई तब वहू के लिए रोते रोते उसकी आँखें सूज गईं थीं ।

हृदयनाथ के सिर से पसीना चूने लगा और साँस बड़ी शीघ्रता से चलने लगी । उन्होंने दबी ज़बान से पूछा—तो चिट्ठी के ऊपर "प्रियतम" क्यों लिखा था ?

वहू उसे यही तो कहती थी । पिरितिया उसे तरणी कहती थी और वह पिरितिया को 'प्रियतम' कहती थी ।

हृदयनाथ का चेहरा सफ़ेद हो गया । घर में उजेले के अभाव से उनके मुख की विवर्णता पर किसी ने लक्ष्य न किया । कुछ देर गम्भीर-चिन्ता में निमग्न होकर आप ही आप बोले—हाय ! यह बात अगर मैं पहले जानता—

भावज ने तुरन्त कहा—बाबू ! पहले जानने से क्या होता ! क्या उसे पकड़ रखते ? इसीसे क्या उसकी चिकित्सा ध्यान लगा कर नहीं की थी ?

हृदयनाथ के मुँह से एक भी शब्द न निकला । मानो उनका गला बैठ गया था ।

भावज बारंबार पूछने लगी—तुम किस हिकमत से उसे बचा सकते ?

हृदयनाथ ने दीर्घनिःश्वास लेकर कहा—जिसकी आयु पूरी हो जाती है उसे कोई कैसे बचा सकता है ? जिसके भाग्य में जो कुछ भला-बुरा लिखा है वह विना हुए नहीं रहता। सभी लोग अपने अपने कर्म के अनुसार फल भोगते हैं। "स्वकर्मसूत्रग्रथिता हि लोकाः।" विधि के लिखने को कोई नहीं मिटा सकता।

इस उत्तर से उनकी भाभी को सन्तोष न हुआ। उनका दिल न भरा। वे अब भी एकान्त में बैठ कर तरङ्गिणी की बात सोचते-सोचते भाँति भाँति की आशङ्का करती और आँसू बहाती हैं।



वन्यशिशु।

पहला परिच्छेद

कुमुदनाथ पहली दिसम्बर को जाड़े के कपड़े लेकर शिमले को रवाना हुए। साथ में स्त्री और दो वर्ष का एक बालक था। यात्रा का यह अत्युत्तम दिन किसी बड़े ज्योतिषी ने बता दिया था! किन्तु विधाता की विचित्र गति है, वह कब क्या करता है कोई नहीं जानता। वह शुभ के अशुभ और अशुभ को शुभ से बदल देता है। यही कारण है कि कुमुदनाथ की यह शुभ घड़ी की यात्रा अत्यन्त अनिष्ट-कारिणी हुई। ऐसी कुयात्रा कभी उनके जीवन भर में न हुई थी।

कुमुदनाथ कोई बरस भर से बीमार थे। मलेरिया ज्वर ने उन्हें इतना सताया कि वे अस्थिचर्मावशेष हो रहे। डाकृर ने उन्हें जाड़े के दिनों भर पश्चिम का जल-वायु सेवन करने का परामर्श दिया।

कुमुदनाथ की स्त्री का नाम कलावती था। उसका जन्म-स्थान शिमला पहाड़ था। नौ दस वर्ष की उम्र तक वह शिमले ही में रही थी। उसका पिता शशिकान्त मिश्र शिमले में कोई काम करता था। कलावती ने स्वामी को शिमला चलने की सलाह दी—सलाह ही न दी बल्कि इसके लिए उसने हठ भी किया।

कुमुदनाथ ने कहा—हरे! हरे! जाड़े के दिनों में शिमला?

कलावती—आप जितना डरते हैं उतना डर असल में है नहीं। शिमले का जाड़ा बड़ा ही सुन्दर और रहने योग्य होता है।

आपने बर्फ़ गिरना कभी नहीं देखा, वह भी वहाँ देख लीजिएगा। वह एक दर्शनीय वस्तु है; जिसे देख कर आप बहुत ख़ुश होंगे।

कुमुदनाथ ने डाक्टर से शिमला जाने की राय पूछी। डाक्टर ने कहा—जाने में कोई हानि नहीं। अन्य स्थानों की अपेक्षा वह जगह स्वास्थ्य के लिए अच्छी है; हाँ, ख़ूब हिफ़ाज़त से रहना चाहिए।

डाक्टर के परामर्शानुसार शिमला आकर वे बड़ी सावधानी से रहने लगे। तीन सप्ताह मज़े में कटे। शिमले के कलक्टरी आफ़िस में कुमुदनाथ का एक सहपाठी था। नाम उसका यदुनाथ था। उसने एक बहुत सुन्दर मकान कुमुद के लिए पहले ही से ठीक कर रक्खा था। कुमुदनाथ उसीमें बड़े आराम से रहने लगे। पहले कुछ दिन कमज़ोरी के सबब वे बहुत चल फिर नहीं सकते थे। वे कभी कभी चारपाई पर लेटे लेटे शिमले का नक़शा हाथ में लेकर काल्पनिक पर्यटन का सुख अनुभव करते थे; कभी झरोखे के सामने कुरसी पर बैठ कर सड़कों से जाते हुए ऊँट, टमटम, फ़िटिन आदि की शोभा देखते थे। देख कर उनको बड़ा हर्ष होता था। उनकी दृष्टि में सब बातें नई मालूम होती थीं। विशेष कर पहाड़ी लोगों का सफ़ेदी मायल सुर्ख़ चेहरा देख कर उनके आनन्द की सीमा न रहती थी। पहाड़ियों के वेश-विन्यास, चाल-चलन, घर-द्वार सभी उनके लिए आश्चर्यकारक थे। जिधर वे देखते थे उधर ही उनकी दृष्टि खिंच जाती थी।

सबसे बढ़ कर आश्चर्य तो उन्हें पाला देख कर हुआ। २०वीं दिसम्बर को बहुत बर्फ़ गिरी। कुमुद उसे देख बालक की

भाँति आनन्द से अधीर हो उठे। स्वामी को आनन्द में मग्न देख कलावती भी आनन्दित हुई।

आज २५वीं दिसम्बर को बड़ा दिन है। सवेरे आठ बजे यदुनाथ चोग़ा पहने, बूट के ऊपर पट्टी बाँधे, हाथ में एक लम्बी छड़ी लिये, बालूगंज में कुमुदनाथ के घर पहुँचे। कुमुदनाथ अभी अभी सो कर उठे हैं। उन्हें देख कर यदुनाथ ने हँसकर पूछा—कहिए, अब तबीअत कैसी है? कुछ ताक़त आती है?

कुमुद०—हाँ, बहुत कुछ फ़ायदा देखने में आता है। अब दोनों समय आध सेर तीन पाव मांस खाता हूँ। वह मज़े में पच जाता है।

यदुनाथ भौं सिकोड़ कर नैराश्य का भाव व्यञ्जित करते हुए बोले—बस, आध सेर तीन पाव मांस! वह भी दोनों वक़्त में!

कुमुदनाथ ने हँसकर कहा—महाशय! कल उस समय भी यहाँ आपका निमन्त्रण है।

यदुनाथ बड़े सीधे आदमी थे। व्यङ्ग की बात सहसा उनकी समझ में न आती थी। उन्होंने आश्चर्ययुक्त होकर पूछा—क्या? क्या कहा?

कुमुदनाथ ने ख़ुलासा कह दिया। सुन कर यदुनाथ लड़के की तरह हँसे और बोले—भला यह अनवसर का निमन्त्रण क्यों दे बैठे?

कुमुद०—आप हमारी आध सेर तीन पाव मांस खाने की बात सुन कर निराश हुए हैं। मैं देखना चाहता हूँ कि आप कितना खाते हैं।

यदुनाथ फिर ज़ोर से हँसे । इसी समय नौकर चाय ले आया । हँसी रुकने पर यदुनाथ ने कहा—मैं एक समय में कोई डेढ़ सेर गोश्त मज़े में हज़म कर जाता हूँ । अब इससे अधिक नहीं खाया जाता । पहले जब मैं रावलपिंडी में था तब मुझे ख़स्सी बकरे का सिर खाने का शौक़ हुआ था । मैंने प्रति दिन एक बकरे का सिर खाना शुरू किया । ४० दिन तक बराबर खाया । चालीस दिन बाद चर्बी से मेरा बदन फटने लगा । एक डाक्टर ने मेरे भोजन की व्यवस्था देख कर मुझे रोका । उन्होंने कहा—शरीर में मेदे का भाग बढ़ जाने से हृद्रोग हो जायगा ।

यदुनाथ का यह पूर्व वृत्तान्त सुन कर कुमुदनाथ बहुत ख़ुश हुए । उन्होंने कहा—कल आपके लिए बकरे का एक सिर भी मौजूद रहेगा ।

फिर दोनों स्वस्थ होकर गरमा-गरम चाय पीने लगे । यदुनाथ ने पूछा—अब तो आप बख़ूबी टहलते फिरते होंगे ?

"बख़ूबी तो नहीं, पर थोड़ा थोड़ा टहलने लगा हूँ । कल जैको टिब्बे पर घूम आया हूँ ।"

यदुनाथ—ज़रा आप और तन्दुरुस्त हो लें तो मैं आपके साथ साथ घूमने चलूँगा । अभी आप मेरे साथ न घूम सकेंगे, थक जायँगे ।

पहले प्याले को ख़ाली करके यदुनाथ ने चाय का दूसरा प्याला लिया । अब तक घर में बत्ती जल रही थी, जिसकी रोशनी कुछ कुछ बाहर आ रही थी । यह देख नौकर ने परदा हटा कर बत्ती बुझा दी ।

चाय का दूसरा प्याला पी कर यदुनाथ जाने को उद्यत हुए ।

कुमुदनाथ ने कहा—बैठिए, इतनी जल्दी क्यों है ?

यदु०—एक काम है।

कुमुद०—योग ध्यान तो नहीं करना है ?

यदुनाथ गुप्त रीति से योगाभ्यास किया करते हैं, यह बात शिमले के प्रायः सभी सभ्य लोग जानते थे।

यदुनाथ शर्मिन्दगी की हँसी हँस कर बोले—वह सब हो चुका।

"तो फिर ?"

"आज एक और काम है। सवेरे खा-पीकर एक बार तारा-देवी के दर्शनार्थ जाना है। स्त्रियाँ बहुत दिनों से वहाँ जाना चाहती हैं।"

"तारादेवी जाना है तो मुझसे पहले क्यों नहीं कहा! मेरी स्त्री भी वहाँ जाने के लिए व्यग्र हो रही है। वह स्थान यहाँ से कितनी दूर होगा ?"

"यही छः सात मील।"

"रिक्शा गाड़ी वहाँ तक जाती है ?"

"हाँ, पहाड़ के नीचे तक जाती है।"

"किस समय चलने से साँझ तक लौट आ सकते हैं ?"

"बारह बजे यहाँ से चलना ठीक होगा।"

सब सलाह हो गई। यदुनाथ ने कहा—कुछ पहले अर्थात् ग्यारह बजे चलना अच्छा होगा। आज सौभाग्यवश दिन बहुत साफ़ है, आकाश भी निर्मल है। पाला गिरे आज पाँच दिन हुए हैं। सम्भव है कि रास्ता भी चलने योग्य हो गया होगा।

"ग्यारह बजे मेरे और आपके लिए सवारियाँ यहाँ आ

पहुँचेगी।" यह कह कर यदुनाथ छड़ी हाथ में ले, हँसते, जूता मचमचाते हुए चले गये।

कुमुदनाथ सोचने लगे—अरे दादा! यह आदमी है या राक्षस! न मालूम यह उतना कैसे पचाता है?

कुछ देर बाद उस कमरे में कलावती आई। उसने तारादेवी जाने का प्रस्ताव सुन कर उतना हर्ष प्रकट न किया। वह बोली—आपने साथी क्यों ढूँढ़ा? हम और आप दोनों ही चलते तो रास्ते में गप शप का भी अवसर मिलता। ऐसे जाने से आपसे कुछ कहने भी न पाऊँगी।

कुमुद०—विदेश में बिना साथी के कहीं जाना ठीक नहीं। वे यहाँ की सब बातों से परिचित हैं। उनका सब समझा बूझा है। वे अच्छी तरह सब जगह दिखा लावेंगे।

कलावती ने कोमल स्वर में कहा—यहाँ के सब स्थान मेरे भी देखे-भाले हुए हैं।

तब दस बजने ही पर था। इन लोगों ने झट-पट स्नान-भोजन किया। लड़के को दूध पिलाया और उसकी आँखों में काजल डाला। उसे भूषण-वसन पहनाये और आप दोनों भी पोशाक पहन कर जाने को तैयार हो गये।

साढ़े ग्यारह बजे यदुनाथ सब के साथ फाटक पर आ गये। यात्रा के समय कलावती को कोई अशकुन न हुआ, न उसकी दहनी आँख फड़की और न छींक हुई। यद्यपि भावी अमङ्गल का एक भी लक्षण उसे न देख पड़ा, तो भी न मालूम जाते समय उसका चित्त एकाएक उदास क्यों हो गया। अब उसे जब जब तारादेवी की यात्रा की घटना स्मरण हो आती है तब तब उसका शरीर काँपने लगता है।

शिमला शहर की सीमा के बाहर आ कर कुमुदनाथ, सवारी से उतर कर, यदुनाथ के साथ पैदल चलने लगे। यह देख कर ललनाओं को भी पैदल चलने का शौक़ हुआ। वे भी सवारी से उतर पड़ीं। कुछ दूर जाते जाते थक गईं और फिर सवारी पर बैठ गईं।

यदुनाथ ने मुसकुरा कर कहा—स्त्रियों का नाम अबला बहुत ठीक है, क्योंकि उनमें कोई क्षमता नहीं होती। सभी कामों में वे असमर्थता दिखलाती हैं। इस पहाड़ के ऊपर चढ़ना क्या उनका काम है?

कलावती सङ्गिनियों के साथ बातचीत करके प्रसन्न है। उसके मन में अब कोई उदासीनता नहीं है।

दो बजे उन लोगों की सवारी तारादेवी के पहाड़ के पास पहुँच गई। तारादेवी का मन्दिर पर्वत के शिखर पर है। पहाड़ की चोटी धरती से दो सौ फ़ुट ऊँची थी। वे लोग सवारी को वहीं छोड़ पहाड़ पर चढ़ गये।

मन्दिर के भीतर पत्थर की बनी तारादेवी की मूर्ति थी। उसके सर्वाङ्ग में सिन्दूर पुता हुआ था। स्त्रियों ने भक्तिभाव से पूजा की। कुमुदनाथ को साथ ले यदुनाथ मन्दिर के चारों ओर घूमकर पहाड़ की प्राकृतिक शोभा देखने लगे। एक तरफ़ बड़ी गहरी ख़ंदक थी, दूसरी ओर सघन निकुञ्ज था जो निर्जन शान्त और तपस्या करने योग्य था। पास ही बर्फ़ से ढका हुआ हिमालय का शृङ्ग दिखाई देता था, जो मध्याह्नकालिक सूर्य की प्रखर धूप पड़ने से चमचमा रहा था।

मन्दिर के पुजारी ने इन लोगों से गप शप करना आरम्भ किया। उनका घर होशियारपुर ज़िले में था। मन्दिर की आ

बिलकुल सामान्य थी। पहाड़ी लोग रुपया पैसा न देते थे। कोई गेहूँ, कोई बाजरा, कोई आलू और कोई मधु आदि सामान्य वस्तु दे जाते थे। संयोग से जब कोई राजा-महाराजा या सेठ-साहूकार आ जाते थे तब एक ही बार विशेष द्रव्य मिल जाता था। वहाँ पानी का बड़ा कष्ट था। नीचे बावली में झरने का पानी संचित रहता था। वहीं से कलसा भर कर लाना पड़ता था। इसी समय थोड़ी ही दूर पर एक पेड़ के नीचे एक बालक के रोने का शब्द सुन पड़ा। एक पहाड़ी जाति का बालक धूप में पड़ा सो रहा था। वह उठ बैठा और रोने लगा।

पुजारी ने उसकी ओर देख कर कहा—बाबू जी! क्या कहें, आज दो दिन से इस बालक को लेकर बड़े संकट में पड़े हैं।

दोनों मित्र (कुमुद और यदुनाथ) धीरे धीरे उस बालक के पास गये। उसके बदन पर किसी पशु के चमड़े का कुरता था, सिर पर ऊन सहित चमड़े की एक अजीब टोपी थी और गले में जानवरों की हड्डियों की अनेक मालायें थीं। उसकी उम्र दो वर्ष की होगी। पुजारी ने कहा—दो दिन हुए, मुझे यह बालक जंगल में रोता हुआ मिला था। शायद किसी पहाड़ी स्त्री का है, पर आश्चर्य यह है कि अब तक इसे कोई खोजने नहीं आया। इसे कौन खिलावे-पिलावे, कौन इसका लालन-पालन करे?

कुमुदनाथ ने यदुनाथ से कहा—इसको हम लोग अपने साथ ले जायँगे।

यदु०—पागल हुए हो? इसको ले जाकर क्या करोगे?

कुमुद०—इसे पालेंगे।

यदु०—अगर इसकी माँ यहाँ इसको खोजने आवे?

कुमुद०—पुजारी को अपना पता बता जायँगे। अगर माँ बच्चे की तलाश करेगी तो बच्चा उसे लौटा देंगे।

यह कह कर कुमुदनाथ अपनी स्त्री को बुला कर एकान्त में ले गये। उन्होंने सब वृत्तान्त उससे कहा। पहले वह उस बालक के पालन का भार लेने को राज़ी न हुई। कुमुदनाथ ने असहाय बालक का पक्ष लेकर स्त्री को बहुत समझाया बुझाया। उससे कहा—देखो, ये लोग निरे असभ्य हैं। इन लोगों को बच्चे खोने का दुःख थोड़े ही होता है। अगर होता तो माँ अब तक इसे खोजने क्यों न आती? यहाँ रहने से यह लड़का दो एक दिन में मर जायगा।

इस बात से कलावती के हृदय में दया उमड़ आई। वह उस बच्चे को ले चलने के लिए राज़ी हुई। अपने बालक के लिए वह जो बोतल में दूध ले गई थी उसमें से उसने थोड़ा सा वन्यशिशु को पीने को दिया।

अब दर्शन-पूजन का कार्य्य समाप्त हुआ। पहाड़ से उतरने का समय आया। चार बजने में विलम्ब न था। पाँच बजे तो सूर्यास्त ही हो जायगा। कलावती ने अपने बच्चे को उसके बाप की गोद में दिया, और जंगली लड़के को नौकर ले चला। सात बजे रात को ये लोग शिमले लौट आये।

दूसरा परिच्छेद

दूसरे दिन कलावती ने जंगली बालक को गरम पानी से नहला धुला कर, उसके गले से हड्डियों की माला हटा दी, फ़लालेन का कुरता पहनाया और आँखों में काजल डालकर भद्र मनुष्य के बालक

की भाँति कर दिया। कुमुदनाथ ने कहा—इसका नाम विपिन-विहारी हुआ।

कुमुदनाथ का लड़का अब पहाड़ी बच्चे के साथ कुछ कुछ हिलने मिलने लगा। अब तक उसका भयङ्कर स्वरूप और विचित्र पोशाक देख कर भय से वह उसके पास न जाता था।

सन्ध्या समय यदुनाथ का निमन्त्रण था। उन्होंने समय पर आकर प्रमाणित कर दिया कि हम वृथा वाक्यालाप नहीं करते, जो कहते हैं उसे कर दिखाते हैं। भोजन कर चुकने पर उन्होंने कुमुदनाथ से कहा—आप कहाँ का एक जंगली लड़का उठा लाये हैं। यह आपने अच्छा नहीं किया। एक दिन इसका फल आपको भोगना होगा।

कुमुदनाथ ने हँस कर कहा—महाशय, यह बाघ का बच्चा तो है ही नहीं जो बड़ा होने पर भी अपना जातीय स्वभाव न भूलेगा। मनुष्य का बच्चा है, सुधरते सुधरते सुधर ही जायगा।

यदुनाथ इस बात का खण्डन न कर सके। ज़रा चुप रह कर ख़ूब ज़ोर से हँस कर बोले—हाँ, आपका कहना ठीक है, अच्छा इसे आदमी बना कर देखिए, यह जंगली जानवर आपका कहना मानता है या नहीं।

जंगली लड़के ने दिन भर अच्छी तरह से खेल कूद किया, परन्तु दूसरे दिन सवेरे देखा गया तो उसका शरीर बहुत गरम था, उसे ज्वर हो आया था।

दिन भर वह लड़का ज्वर में अचेत पड़ा रहा। सन्ध्या समय कुमुदनाथ ने डाकृर को बुलाया। डाकृर ने कहा—ज़्यादा ठंड लग जाने से इसका हृत्पिण्ड ख़राब हो गया है।

उन्होंने एक नुसख़ा लिख दिया। दवाई के ज़ोर से वह दो दिन तक बचा रहा, पर तीसरे दिन किसी तरह न बचा।

२९वीं दिसम्बर को रात के दो बजे के समय कलावती की गोद में उसका प्राण-विसर्जन हुआ। कलावती बहुत रोई। रोते रोते उसकी आँखें सूज गईं। वह विलाप करने लगी—हाय! किसका बच्चा! कहाँ आकर मरा! हम लोग क्यों इसे लाये? न लाते तो अच्छा होता! न मालूम कौन भूत सिर पर सवार हुआ! क्यों ऐसी कुबुद्धि उपजी? झूँठ मूँठ का दोष हम लोगों के माथे चढ़ा। अगर अब उसकी माँ आवे तो क्या होगा? क्या जवाब दूँगी?

संगी के खो जाने से कुमुदनाथ का बच्चा कुछ उदास हुआ। वह रह रह कर अपने माँ-बाप से पूछता—विपिन कहाँ गया?

जंगली बालक की मृत्यु से दोनों स्त्री-पुरुष दिन भर शोक-समुद्र में निमग्न रहे। रात के नौ बजने का समय है। कुमुदनाथ भोजन कर के सोने जा रहे थे। इसी समय नीचे डाकिये का कण्ठस्वर सुन पड़ा। वह कुमुदनाथ के नौकर को चिट्ठी देकर चला गया। कुमुदनाथ टकटकी लगाये प्रतीक्षा कर रहे थे कि अब नौकर पत्र लाकर देता है, अब आता है, पर वह न आया। उन्होंने उसको पुकारने के लिए खिड़की का द्वार खोला। अत्यन्त ठंडी हवा के साथ साथ एक अस्पष्ट कोलाहल का शब्द उनके कान में पड़ा। क्या मामला है, जानने के लिए कुमुदनाथ लालटेन लेकर नीचे उतरे। देखा, उनका नौकर एक पहाड़ी युवती को ख़ूब ज़ोर से पकड़े खड़ा है। वह पूर्ण रूप से बल-प्रयोग कर के छुड़ाने की चेष्टा कर रही है। उसने कुमुदनाथ को देखते ही आँचल के भीतर से एक तीक्ष्ण छुरी (खुखड़ी)

निकाली । यह देख कुमुदनाथ पीछे की ओर खिसक गये । उनके नौकर बहादुरा ने उस औरत को छोड़ दिया । वह खुले सदर द्वार से निकल भागी ।

बहादुरा अत्यन्त उत्तेजित होकर बोला—बाबू—चोर !

कुमुदनाथ ने उस पर दोषारोपण करके कहा—ओफ़ ! तुमने छोड़ क्यों दिया ? अगर तुम उसके दोनों हाथ पकड़े रहते तो वह छुरी न निकाल सकती ।

बहादुरा ने कहा—उसके बदन में बड़ी ताक़त थी । अगर मैं उसे दोनों बाहों से लिपट कर न पकड़ रखता तो उसे पकड़ रखना मुशकिल था ।

कुमुदनाथ ने सोचा—चोर कुछ चुरा न सका, आया और भाग गया, कुछ लेने न पाया, यहां ख़ैर हुई । चोर पकड़ लिया जाता तो पुलिस के सिपुर्द करना होता और इस बात को लेकर एक बखेड़ा खड़ा होता । इस प्रकार सोचते-विचारते वे ऊपर जाकर लेट रहे । कलावती सब वृत्तान्त सुन कर बोली—चोर डाकू कोई न था, वह आपके नौकर की आशना थी । पकड़े जाने के भय से उसने बात बना कर आपसे कुछ कह दिया है ।

कुमुदनाथ—तो उसके पास खुखड़ी क्यों थी ?

कलावती—क्या आप नहीं जानते हैं ? यह पहाड़ी स्त्रियों की एक रीति है । वे एक छुरी हमेशा अपने पास रखती हैं ।

दूसरे दिन सबेरे उठ कर कुमुदनाथ ने डांट डपट दिखा कर नौकर से पूछा; किन्तु उसने किसी तरह उस पहाड़ी युवती को अपनी माशूक़ा क़बूल न किया ।

तीसरा परिच्छेद ।

आज का दिन अच्छा है । आकाश निर्मल है । जाड़े की धूप बहुत प्यारी मालूम होती है । कुमुदनाथ का एक नौकर दो बजे बच्चे को गाड़ी में बिठा कर हवा खिलाने बाहर ले गया । कलावती ने नौकर को बार बार ताकीद कर दी कि घंटे भर के भीतर ही बच्चे को टहला कर ले आना ।

तीन बज गये फिर भी बच्चे को लेकर नौकर न लौटा । साढ़े तीन बजे दोनों उत्कण्ठित हो उठे । कलावती और कुमुदनाथ बालक की खोज में किसी दूसरे भृत्य को भेजने का परामर्श कर रहे थे, इसी समय पुलिस आफ़िस से एक लिफ़ाफ़ा आया । विशेष घटना होने के कारण दारोग़ा साहब ने कुमुदनाथ को थाने में बुलाया है । एक तो लड़का अब तक लौटा नहीं, दूसरे पुलिस का यह पत्र आ गया । समीपस्थ संकट की आशङ्का से दोनों घबरा उठे ।

कुमुदनाथ मामूली कपड़े पहन कर तुरन्त थाने की ओर रवाना हुए । सूने घर में कलावती, बाणविद्ध हरिणी की भाँति, व्याकुल हो कर छटपटाने लगी ।

कुछ देर के बाद कलावती ने बहादुरा को थाने में भेज दिया और उससे समझा कर कह दिया कि बाबू को आने में विलम्ब हो तो तुम झटपट लौट कर ख़बर दो कि क्या मामिला है ।

कुमुदनाथ ने थाने में जाकर देखा, लोगों की भीड़ लगी है । बरामदे में गाड़ी रक्खी है, उस पर एक लड़का बैठा बैठा रो रहा है । एक कान्स्टेबल उसकी रक्षा के लिए तैनात है ।

कुमुद बाबू ने बच्चे को गोद में उठा लिया। उसका मुँह चूमा, और उसकी आँखे पोंछ दीं तब लड़के का जी कुछ ठिकाने आया।

दारोग़ा ने सलाम करके कुमुदनाथ से कहा—बाबू साहब! आज आपका सत्यानाश हो चुका था, पर भगवान् ने बड़ी ख़ैरियत की। एक ख़ूँख़ार बाघिन स्त्री इस बच्चे को मारने पर उद्यत हुई थी। आपके नौकर ने उसे रोका, इससे नाराज़ हो उस हत्यारिन ने उसी को छुरी मार कर घायल किया है।

कुमुदनाथ—वह नौकर कहाँ है?

दारोग़ा—उसको रिपन अस्पताल में भेज दिया है।

"बचने की आशा है?"

"चोट हलकी है, बच जायगा। वह बच्चे का ख़ून कर डालती, किन्तु ख़ुदाबख़्श सिपाही ने उसे पकड़ लिया।"

कुमुदनाथ बहुत विस्मित हुए। भय से उनका शरीर क़ाँपने लगा। उन्होंने अनुमान किया कि कल रात में शायद वही पहाड़िन युवती थी। दारोग़ा से पूछा—वह ख़ूनी औरत कहाँ है?

दारोग़ा साहब कुमुदनाथ को हवालात में ले गये। वे देखते ही पहचान गये कि यह वही औरत थी। वह इनके ऊपर इतना क्यों बिगड़ी है, इसका कारण कुछ भी इनकी समझ में न आया। तब उन्होंने दारोग़ा से पूछा—यह मेरे लड़के को क्यों मारना चाहती थी? इसका सबब आप जानते हों तो कृपा करके कहिए। क्या इसने इस अत्याचार का कोई कारण भी बताया है?

दारोग़ा—वह कहती है, तारादेवी के पहाड़ पर उसका

लड़का खो गया था। आपने उसे वहाँ से लाकर मार डाला है। इसी से वह राक्षसी उसका बदला लेना चाहती है।

कुमुद०—हा भगवन्! मैंने उसे मार डाला है! मैंने—

दारोग़ा—आपके नौकर के इज़हार से सब हाल मुझे मालूम हो चुका है। जान पड़ता है, शायद आप यहाँ पहले पहल आये हैं। यह जाति बड़ी भयानक होती है। ये जंगली जाहिल लोग यह थोड़े ही समझेंगे कि आप धर्म के ख़याल से उनके लड़के को पालने के लिए लाये थे। उन लोगों का यही विश्वास है कि आप उस बच्चे को मार डालने ही को लाये थे और आपने उसे मार डाला है।

कुमुदनाथ ने बहादुरा की गोद में बालक को देकर पहले ही घर भेज दिया था। इस समय अपना इज़हार थाने में लिखा कर वे अपने घर चले आये।

कलावती ने रोते रोते कहा—मेरे बच्चे का आज पुनर्जन्म हुआ। न मालूम कैसे बुरे मुहूर्त में हम लोग घर से चले थे। चलिए, शीघ्र यहाँ से अपने देश को लौट चलिए। मैं क्षण भर भी अब यहाँ रहना नहीं चाहती।

दूसरे दिन देखते ही देखते सारा आसमान मेघों से भर गया। वर्षा हो जाने पर पाला पड़ना शुरू हुआ। जिधर देखिए उधर ही ढेर की ढेर बर्फ़ दिखाई देने लगी। यह देख कर बच्चे को बड़ा ही कौतुक जान पड़ता था। वह खिड़की की राह हाथ निकाल कर बर्फ़ को छूना चाहता था।

एक तो जाड़े का मौसम, दूसरे बदली का दिन, काले बादलों ने दिन को रात बना दिया। अभी चार भी न बजे थे।

तो भी घर में रोशनी जला दी गई। कुमुदनाथ ने कहा--आज झट पट भोजन कर लेना चाहिए।

आज लड़का दिन भर खेल-कूद कर अब सो गया है। कुमुदनाथ छः बजे भोजन करने बैठे। कलावती उनके निकट आग प्रज्वलित करके बैठी और बातें करने लगी।

भोजन करके कुमुदनाथ बाहर बरामदे में आये। देखा तो सामने से होकर एक स्त्री बिजली की तरह बड़ी तीव्र गति से निकल गई।

वह और कोई न थी, वह हत्यारिन युवती थी जो कुछ देर पूर्व प्रहरी को मार कर हवालात से निकल आई थी।

कुमुदनाथ पल भर के लिए उत्तेजित हो उसके पीछे दौड़े। नीचे उतर कर उन्होंने जो भीषण दृश्य देखा उससे उनके होश उड़ गये। बहादुरा नौकर का सिर कटा पड़ा है। लोहू से सारा घर लथपथ हो रहा है। कुमुदनाथ को आगे बढ़ने का साहस न हुआ। वे पागल की तरह सीढ़ियों पर गिरते पड़ते ऊपर गये। शयनगृह में जा कर देखा, कलावती बीच घर में धरती पर लोट रही है और फूट फूट कर रो रही है। वह राक्षसी उनके बच्चे पर भी हाथ साफ़ कर गई है। कुमुदनाथ की रही सही आशा भी जाती रही। वे आँखों पर हाथ रख मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

बाहर शीतकाल की सन्ध्या है। घने अँधेरे में लगातार बर्फ़ गिर रही है।



काशीवासिनी।

पहला परिच्छेद।

दानापुर स्टेशन से दानापुर शहर पाँच मील पर है। जहाँ स्टेशन है वह जगह 'खगोल' के नाम से मशहूर है।

खगोल बाज़ार से कुछ अन्तर पर स्टेशन के मालगुदाम के छोटे बाबू गिरीन्द्रनाथ रहते हैं। मकान साधारण है। मिट्टी की दीवाल और फूस का छप्पर है। साढ़े तीन रुपया मासिक किराया देना पड़ता है।

गिरीन्द्र नौकर होते ही सङ्ग-दोष से भ्रष्टचरित्र हो गया था। दस वर्ष तक उसने यथेच्छ मद्यपान आदि दुराचार किया। अब दो वर्ष से वह कुछ सँभल गया है, अर्थात् उसने ब्याह कर लिया है। स्त्री देखने-सुनने में अच्छी, सुघर और उम्र में कुछ सयानी थी, यही देख कर उसने ब्याह किया था। नाम उसका चम्पा था। रंग ख़ूब गोरा न होने पर भी उसका चेहरा अच्छा था। शरीर लावण्ययुक्त था। इसी उम्र में बेचारी एक अपरिचित स्थान में ससुराल का सुख भोगने आई है। घर में न सास है, न ननँद, न अड़ोस पड़ोस में कोई नातेदार है जो उसके सुख-दुःख में शरीक हो। स्वामी के, आफ़िस, चले जाने पर ऐसा कोई नहीं जिसके साथ बैठ कर वह दो चार बातें करे। घर में सिर्फ़ एक बूढ़ी टहलनी भजुआ की माँ थी।

वह दिन-रात घर में रह कर बहू की सेवा-टहल में हाज़िर रहेगी, इस शर्त पर वह वेतन से १) रु० ज़्यादा पाती है। खगोल में एक बंगाली महाशय बहुत दिनों से सकुटुम्ब रहते थे। उन्होंने इस बाई को पुरानी और विश्वासपात्री बता कर सिफ़ारिश

कर दी है। वह पुरानी थी-इस विषय में तो किसी को कुछ सन्देह हो ही नहीं सकता था। उसके बाल बिलकुल सफ़ेद थे। शरीर स्थूल होने पर भी चमड़ा सिकुड़ गया था। यही उसके बुढ़ापे का प्रमाण था। वह विश्वासपात्री भी मालूम होती थी क्योंकि बाज़ार से कोई सौदा मोल लाने में अनिच्छा दिखलाती थी। गिरीन्द्र बाबू सीधे स्वभाव के मनुष्य थे। वे स्वयं बाज़ार जाकर सौदा ख़रीद लाते थे। उतनी देर भजुआ की माँ बरामदे के कोने में पड़ी पड़ी खाँसा करती थी।

जाड़े का समय है। तीन बज चुके हैं। अब साँझ होने में विलम्ब नहीं है। चम्पा शयनगृह से निकल कर बरामदे में आई। भजुआ की माँ यथा-स्थान चटाई पर पड़ी काले कम्बल में मुँह छिपाये नासिका की ध्वनि से चम्पा की क्या ख़ूब निगरानी कर रही है! चम्पा उसकी ओर देख कर धीमी आवाज़ में बोली--राम राम! क्या यह अभागिनी सारी दुनिया की नींद लेकर ही संसार में आई है।

इसी समय बाहर से किसी ने कर्कश स्वर में पुकारा-'बाबू ओ बाबू!' चम्पा दौड़ कर किवाड़ों के पास गई। किवाड़ भीतर से बन्द थे। उसने किवाड़ के एक छिद्र से देखा—रेल का कुली सिर पर।एक पेटी और हाथ में एक गठरी लिये खड़ा है। उसके पीछे एक अधेड़ विधवा स्त्री है।

चम्पा तुरन्त लौट कर दाई को पुकारने लगी। जब कई बार के पुकारने पर भी उसकी निद्रा भङ्ग न हुई तब चम्पा उसके बदन पर हाथ रख कर "ओ भजुआ की माँ ३" कह कर ख़ूब ज़ोर से हिलाने लगी। तब जाकर उसकी नींद टूटी। "मैं जागती ही तो थी" कह कर वह उठी। चम्पा के कहने पर उसने जाड़े से काँपती काँपती जाकर द्वार खोल दिया।

कुछ देर बाद वह विधवा भीतर उसारे में आ खड़ी हुई और स्थिर दृष्टि से चम्पा के मुँह की ओर देखने लगी। चम्पा ने समझा, शायद मेरे स्वामी की कोई रिश्तेदार होगी। परन्तु किसी के आने की बात न थी। वह उसे प्रणाम करे या न करे—यह सोचने लगी।

आई हुई स्त्री ने पूछा—क्या यह गिरीन्द्रनाथ का घर है?

चम्पा—हाँ।

"तुम उनकी पत्नी हो?"

चम्पा ने दृष्टि फेर कर स्वीकारसूचक सिर हिलाया। इसके बाद उसने साहस कर के पूछा—मैं आप को न पहचान सकी। आप कहाँ से आ रही हैं?

"मैं काशी से आ रही हूँ। मेरा टिकट रेलगाड़ी में कहीं खो गया, इससे रेल के कर्मचारी ने मुझे गाड़ी से उतार दिया। सुना है कि दूसरी ट्रेन रात को आवेगी। मैं अकेली स्त्री वहाँ कहाँ रहती, इसलिए एक भले मानुस का घर खोजते खोजते यहाँ आई हूँ।"

चम्पा—अच्छा किया। हाथ पैर धोकर बैठिए।

भजुआ की माँ ने पानी दिया। उसने हाथ पैर धोये। चम्पा ने एक दरी लाकर बरामदे में बिछा दी। इसके बाद उसने आगता से पूछा—आप गाड़ी में कब सवार हुई थीं? मालूम होता है, अभी तक कुछ खाना-पीना नहीं हुआ।

उसने हँस कर कहा—नहीं हुआ है तो अब होजायगा।

चम्पा ने दाई को पुकार कर कहा—झटपट चूल्हा जला कर बाज़ार जाओ, थोड़ा सा अरवा चावल ले आओ।

यह सुन कर आगत-स्त्री ने मीठे स्वर में कहा—"अरवा चावल मँगाने की आवश्यकता नहीं। मेरी गठरी में चावल हैं, तुम उसके लिए फ़िक्र मत करो।" यह कह कर वह बरामदे में आ बैठी। चम्पा को भी अपने पास बिठाकर बड़े प्यार के साथ पूछा—बेटी, तुम्हारा नाम क्या है?

"मेरा नाम चम्पा है।"

"नैहर कहाँ है?"

"शिवपुर।"

"वहाँ तुम्हारे माँ-बाप सभी होंगे?"

चम्पा उदासी के साथ बोली—"मेरे बाप तो तभी विदा हो गये जब मैं सौरी में थी। मैं एक वर्ष की हुई तब मेरी माँ भी मर गई।" यह कह कर चम्पा उठ गई। चूल्हा जलाने में विलम्ब होते देख दाई को बक झक करने लगी और ख़ुद आग सुलगाने बैठी।

काशी-वासिनी भी वहाँ से उठ कर रसोई-घर में आई। चम्पा ने रेशमी कपड़ा पहन कर रसोई का बर्तन चूल्हे पर चढ़ाया। दोनों वहीं बैठ कर वार्तालाप करने लगीं।

काशी-वासिनी ने पूछा—तुम्हारा ब्याह हुए कितने दिन हुए?

"मेरा ब्याह इसी वैशाख में हुआ है।"

"तब तो थोड़े ही दिन हुए हैं। यहाँ कब आई हो?"

"यहाँ आये दो महीने हुए।"

"तुम्हारे स्वामी आफ़िस कै बजे जाते हैं?"

स्वामी का नाम सुन कर उसे लज्जा हुई। उसने सिर झुका

कर आसन को हाथ से सकोड़ते सकोड़ते धीरे से कहा—नौ बजे।

"आफ़िस से कब आते हैं?"

"किसी दिन छः बजे आते हैं, किसी दिन सात बज जाते हैं।"

"कितना महीना पाते हैं?"

"तीस रुपये।"

"इसके अतिरिक्त कुछ ऊपरी आमदनी भी होगी?"

चम्पा ने लजा कर कहा—क्या मालूम?

काशी-वासिनी मन ही मन ख़ुश हुई।

दूसरा परिच्छेद।

आज और दिनों की अपेक्षा कुछ सवेरे अर्थात् सायंकाल होते ही चिराग़-बत्ती के समय गिरीन्द्रनाथ आफ़िस से आ गया। उसे आते देख चम्पा ने हुलस कर कहा—"आज तो बहुत जल्दी आ गये"। गिरीन्द्र ने मुस्कुरा कर कहा—हाँ प्यारी, तुम बिना सङ्गी-साथी के अकेली दुखी होती होगी, यही सोच कर मैं जल्दी चला आया।

चम्पा—आज तो मैं अकेली नहीं हूँ। आज आपके घर एक नया मेहमान है। क्या आपको मालूम नहीं?

गिरीन्द्र—नहीं, कौन आया है?

चम्पा—जब आपको मालूम नहीं है तब न बताऊँगी।

गिरीन्द्र—तो तुम्हारा कोई—!

चम्पा ने अनखा कर कहा—आप की पूर्वपरिचिता कोई विधवा आई है। वह काशी से चल कर तीन बजे की ट्रेन से अपने देश को जा रही थी। टिकट खोजाने से यहाँ उतार दी गई।

गिरीन्द्र ने विस्मित हो कर पूछा—काशी से जा रही थी? क्या साथ में कोई न था? उसकी उम्र कितनी होगी?

चम्पा—साथ में कोई न था। उम्र तीस चालीस वर्ष की होगी।

चम्पा का अनुमान सुन कर गिरीन्द्र हँस कर बोला—तीस और चालीस में कितना अन्तर होता है, यह तुम तब समझ सकोगी जब तुम्हारी उम्र तीस वर्ष की होगी।

यह हास-परिहास की बात देर तक जारी न रहा। गिरीन्द्र का भाव बदल गया। वह रुखाई के साथ बोला—यहाँ इतने लोगों के रहते राँड़ मेरे ही घर क्यों आई?

चम्पा अकचका गई। काशीवासिनी को अपने घर में टिकाने से पति रुष्ट होंगे यह तो उसने एक बार भी न सोचा था, वरन् वह बड़ी उमङ्ग के साथ यह संवाद पति को सुनाने आई थी।

गिरीन्द्र ने फिर पूछा—देखने में कैसी है?

चम्पा—आप इतनी जिरह क्यों कर रहे हैं?

गिरीन्द्र ने भौं सिकोड़ कर कहा—काशी से एक स्त्री अकेली हमारे घर चली आई, उस पर भी वह विधवा है, इसी को सोच रहा हूँ।

चम्पा उसका आशय समझ कर बोली—नहीं, नहीं, जो आप सोच रहे हैं वह बात नहीं है। वह भली औरत है।

गिरीन्द्र—तुम भोली-भाली हो, भले ही उसे अच्छी समझ लो। अच्छा, यह तो बताओ, वह कब जायगी? कुछ कहा है?

चम्पा—नहीं, यह तो उसने नहीं कहा।

गिरीन्द्र—रात को एक बजे उसे गाड़ी मिलेगी।

चम्पा—इतनी रात को वह कैसे अकेली स्टेशन जायगी? उसे कौन पहुँचा देगा?

गिरीन्द्र ने खड़े हो कर कहा—मैं पहुँचा दूँगा। यह पाप जितना शीघ्र यहाँ से हटे उतना ही अच्छा है। मैं खुद उसे स्टेशन तक पहुँचा दूँगा।

चम्पा मुँह लटका कर बैठ रही। गिरीन्द्र बाहर जा कर मुँह हाथ धो आया। चम्पा तब भी उसी तरह सिर झुकाये, गाल पर हाथ लगाये बैठी रही। गिरीन्द्र ने कहा—बात क्या है, कुछ समझ में नहीं आती।

चम्पा ने कहा—जो आदमी घर में आया, उसे कैसे निकाल देंगे? उन्होंने जाने की चर्चा नहीं की है। जायँगी कि रहेंगी, यह कुछ नहीं कहा। उनसे कैसे कहूँगी कि आप रात के एक बजे की ट्रेन से जाने की कृपा करें?

गिरीन्द्र रुष्ट होकर बोला—उसके लिए तुम कोई चिन्ता न करो। उसका प्रबन्ध मैं कर लूँगा।

इसके अनन्तर गिरीन्द्र ने बकस खोल कर बोतल और गिलास निकाला। बोतल का काक खुलते ही सारा घर उत्कट गन्ध से भर गया। गिरीन्द्र ने धीरे धीरे आधी बोतल खाली कर दी।

मद्य के प्रभाव से उसके चेहरे का रूखापन जाता रहा। वह मौज में आकर उल्लासपूर्वक चम्पा के साथ बातचीत करने लगा।

ज़रा देर में काशी-वासिनी बाहर उसारे में आ खड़ी हुई। गिरीन्द्र एकाएक कमरे से निकला और काशी-वासिनी की ओर लक्ष्य करके बोला—"अहा, आज आपके आगमन से मेरा घर पवित्र हुआ। मैं आनन्दित हुआ। धन्य मेरा भाग्य!" यह कह कर उसने उसे विनयपूर्वक प्रणाम किया।

काशी-वासिनी कुछ न बोली।

गिरीन्द्र ने झूमते हुए पूछा—आपका निवासस्थान?

"अब मेरा स्थान काशी ही समझिए।"

"कहाँ जाने का विचार था?"

"विचार तो देश जाने का था, बहुत दिनों से एक बार देश देखने की लालसा लगी थी। आज उसी इरादे से चली थी, पर टिकट खो जाने से अकस्मात् यहाँ उतरना पड़ा। इसीसे सोचा कि—"

गिरीन्द्र ने रोक कर कहा—अच्छा किया, बहुत अच्छा किया। इसे आप अपना घर समझिए। आज यहाँ रहिए, कल दिन के तीन बजे की पैसंजर गाड़ी से चली जाइएगा।

"आज रात को एक बजे की गाड़ी में—"

"भला यह भी कुछ बात है! आप बूढ़ी हैं, इस जाड़े में आधी रात को क्या मरने जायँगी? कुछ विशेष प्रयोजन तो नहीं है?"

"नहीं, प्रयोजन तो कुछ नहीं है।"

इसके बाद गिरीन्द्र कश्मीरे का कोट पहन, दुशाला ओढ़, कर, हाथ में छड़ी ले, पान चाबता हुआ सैर करने निकला। दस बजते बजते घर लौटा। काशी-वासिनी सो गई थी। टहलनी गाढ़ निद्रा में निमग्न थी। चम्पा भी उसके आने की राह देखते देखते सो गई थी। गिरीन्द्र के बार बार पुकारने पर चम्पा चौंक उठी और झट जाकर द्वार खोल आई।

द्वार खुलते ही गिरीन्द्र ने चम्पा को गले लगाकर बड़े प्यार से उसका मुँह चूमा। मुँह से मद्य की बू आती थी, पर चम्पा को अब सह्य हो गई थी।

चम्पा ने कहा—आज इतनी रात क्यों ?

"एक आनन्द का संवाद है।"

"क्या ?"

"बदली हुई है, ताड़ीघाट की।"

"तलब बढ़ी है ?"

"हाँ, पाँच रुपये।"

"बस, इतना ही !"

इस तरह बातें करते हुए दोनों भीतर आये। गिरीन्द्र ने हँस कर कहा—तलब बढ़ावे चाहे न बढ़ावे, वहाँ चार पैसे बाहर से खाने को मिल जाते हैं।

चम्पा—कब जाना होगा ?

गिरीन्द्र—तीन चार दिन के बाद।

भोजन करने के लिए पूछने पर गिरीन्द्र ने कहा—दोस्तों के यहाँ से भर पेट खा आया हूँ। भूख नहीं है।

चम्पा भोजन कर आई। देखा, स्वामी गाढ़ निद्रा में अचेत पड़े हैं।

दूसरे दिन सवेरे सात बजे गिरीन्द्र की आँख खुली। प्रातः-कृत्य करते धरते आठ बज गये। काशी-वासिनी को देख उसने रुष्ट हो कर चम्पा से पूछा—यह औरत रात की गाड़ी से नहीं गई?

चम्पा—वाह! क्या कहना है! आप ही ने कल उसे जाने नहीं दिया। वह रात के एक बजे की गाड़ी से जाना चाहती थी।

गिरीन्द्र अपनी भूल पर भौंहें चढ़ा कर चुप हो रहा। फिर बोला—आज तीन बजे की पैसञ्जर आने के पहले ही मैं कुली भेज दूँगा। इस पाप को बिदा कर देना। इसके जाते समय सावधान रहना। कुछ लेकर न भाग जाय।

चम्पा उदासी भरे विशाल नेत्रों से स्वामी की ओर देखने लगी।

गिरीन्द्र के आफ़िस चले जाने पर चम्पा ने काशीवासिनी से कहा—आइए! अब स्नान कर लें।

स्नान करते समय दोनों में ख़ूब गप्पें उड़ीं। चम्पा जब से ससुराल—ससुराल क्या, एक बेजान पहचान की जगह में—आई है तब से एक दिन भी इस तरह दिल खोल कर किसी स्त्री से बातें करने का अवसर उसे न मिला था। भजुआ की माँ के साथ टूटी फूटी हिन्दी में बातें करते करते उसकी जान पर आ बनती थी।

स्नान कर के काशीवासिनी पूजा करने बैठी। गङ्गाजल न था—कूपजल में ही "इदं गङ्गोदकम्" कह कर पूजा का काम चला लिया गया।

भोजन कर चुकने पर पुष्पोद्यान में कुए के समीप बैठ कर दोनों ने बाल सुखाये और कुछ विश्राम किया। तदनन्तर चम्पा बाल बाँधने की समग्री ले आई। इतने दिन से वह आप ही अपने बाल बाँधती थी। अपने हाथ से क्या अच्छी तरह बाल बाँधे जा सकते हैं? काशीवासिनी ने उसके केश-कलाप की दुर्व्यवस्था देख कर खेद प्रकट किया। उसने अपने हाथ से अच्छी तरह कंघी कर चम्पा के बाल बाँध दिये।

इतने में दो बज गये। अब कुली आता होगा, यह सोच कर काशीवासिनी जाने को तैयार हुई और करुणस्वर में बोली—बेटी, एक ही दिन में तुम्हारे ऊपर इतनी ममता हो गई है कि तुम्हें छोड़ कर जाने में कष्ट मालूम होता है।

चम्पा को भी वैसा ही मालूम हो रहा था। उसे यह सोच कर अत्यन्त कष्ट होने लगा कि विदेश में इतने दिन बाद एक स्वजातीय स्त्री का समागम हुआ भी तो ज़रा देर के लिए। इस नवागन्तुक स्त्री के स्नेह-व्यवहार से यही मालूम होता था जैसे यह उसकी कोई विशेष आत्मीया हो। इसके चले जाने पर फिर चम्पा को उसी तरह सारे दिन अकेली बैठ कर जीवन व्यतीत करना होगा।

चम्पा ने कहा—आज न जाइएगा तो क्या होगा? दो दिन और न यहाँ ठहर जाइए। इतने दिन में यही दो दिन आप से बातें कर के जी का बोझ हलका किया है। बिना संगी साथी के क्या जी लगता है? अकेले बैठे बैठे जी अकुला जाता है, कभी कभी तो रुलाई आ जाती है।

काशी-वासिनी—मैं तुम्हारे अनुरोध से कुछ दिन ठहर जाती परन्तु तुम्हारे पति के मन में कुछ सन्देह हो तो?

चम्पा ने मुँह से कहा—"सन्देह क्या होगा ?" किन्तु उसका चित्त कुछ शिथिल हो गया। वह सोचने लगी, काशी-वासिनी का अनुमान ठीक है। सचमुच मेरे स्वामी इससे नाखुश हैं। कुली आवेगा तो उसे लौटा सकती हूँ, परन्तु पीछे वे अधिक क्रोध न करें ? फिर, उसने चित्त को ढाढ़स दिया। क्रोध करेंगे तो करें। यह कुछ ऐसा निन्दित कर्म तो हइ नहीं जिसके लिए वे मुझे अपराधिनी समझें। मैं अकेली गृहस्थी का भार सिर पर लादे लादे मर रही हूँ। कोई मीठी बात कहने वाली तक नहीं। घर में कोई आदमी नहीं. जिससे दो बातें कर के दिल बहलाऊँ। क्या मैं एक गृहागत सुशील स्त्री को दो दिन रख नहीं सकती ? यदि स्वामी घर आकर असन्तोष करेंगे तो मैं उनसे यह कहूँगी, वह कहूँगी, मान ठान कर रूठ जाऊँगी, इन बातों को वह मन ही मन गढ़ने लगी।

दो बज गये, पर कुली न आया, तीन बज गये तो भी कुली का दर्शन न हुआ। चम्पा दीर्घ निःश्वास लेकर कुशल मान प्रसन्न हुई और स्थिर-चित्त होकर फिर काशी-वासिनी के साथ उमङ्ग भरे भाव से वार्तालाप करने लगी।

जब थोड़ा सा दिन रहा तब चम्पा बाज़ार से कुछ जलपान को मँगाने के लिए दासी को भेजने लगी। यह देख काशी-वासिनी ने कहा—राम, राम, तुम बाज़ार से जलपान के लिए मँगा कर क्यों खाती हो ? घर में नहीं कुछ बना सकती ?

चम्पा—अरे ! इतना झंझट कौन करे।

काशी-वासिनी—झंझट क्या है ? मैं आज अपने हाथ से बना कर तुम्हें दिखा देती हूँ। उसने दासी से ज़रा ठहर जाने को कहा और अपनी सन्दूकची से एक रुपया निकाल कर चीनी, मैदा और घी आदि सब वस्तुएँ थोड़ी थोड़ी मोल मँगाईं।

चम्पा—"यह क्या ? आप क्यों रुपया देती हैं ? मैं देती हूँ।" यह कह कर उसने दासी से कहा—"उनका फेर दो।" काशीवासिनी की दासी रुपया देने गई। उसने तरह लेना स्वीकार न किया। कहा—मैंने तुम लोगों के एक रुपया ख़र्च किया ही तो कौन बड़ी बात की। तुम तो मेरी इतनी ख़ातिर करते हो। एक रुपया क्या चीज़ है।

चम्पा—हम से आप का क्या आदर-सत्कार हो सके हम किस लायक़ हैं। तो भी मुझसे जहाँ तक बन पड़ेगा आप सेवा करूँगी। आप यह रुपया रख लीजिए।

"देखो बेटी, मेरे साथ ऐसा बर्ताव करोगी तो मैं आज रात को एक बजे की गाड़ी से चली जाऊँगी।"

चम्पा अब अधिक हठ करना उचित न समझ, बोली अच्छा, आप जिसमें ख़ुश रहें वही कीजिए। परन्तु मैं अन्याय कहूँगी।

दाई रुपया लेकर सौदा लाने बाज़ार गई।

तीसरा परिच्छेद।

आज गिरीन्द्रनाथ बहुत देर करके घर आया। आठ बजे का समय था। उसने आते ही काशीवासिनी को देख कहा—मुझसे बड़ी ग़लती हुई, अपराध क्षमा करें। आफ़िस कामों में फँस जाने से कुली भेजने का स्मरण न रहा। जब दिन कष्ट उठाया है तब एक दिन और सही। कल मुझे आफ़िस से छुट्टी है। कल मैं स्वयं जाकर आपको गाड़ी में बिठा दूँगा।

काशीवासिनी को इस प्रकार अनुनय-वाक्य से प्रसन्न कर के गिरीन्द्र चम्पा के कमरे में गया। चम्पा ने मारे ख़ुशी के उसको गले लगाना चाहा। परन्तु मद्य की गन्ध से वह ठिठक गई और बोली—आप की यह चाल अच्छी नहीं। अधिक रुपया कमाने ही से क्या होगा? वहाँ जाकर आप और भी बिगड़ जायँगे। जहाँ आपके हाथ में चार पैसे आये कि आप अपने को वाजिदअली शाह से भी बढ़कर समझने लगते हैं। जो काम न करना चाहिए। वही करते हैं।

गिरीन्द्र—प्यारी, तुम्हारा कहना किसी क़दर बुरा नहीं। वहाँ ये सब बातें न होंगी। वह स्टेशन छोटा है। वहाँ क्या केलनर कम्पनी की दूकान है? सच जानो, मैं वहाँ जाकर गङ्गा-स्नान करूँगा, बस एकदम सब छोड़ दूँगा।

चम्पा—तो आप कल आफ़िस न जायँगे?

गिरीन्द्र—नहीं, मेरा यहाँ का काम ख़तम हो गया। काग़ज़-पत्र भी सब दुरुस्त हैं। स्टेशन के बाबू लोगों ने कहा है कि परसों भोज देना होगा। कल भोज की सब सामग्री ठीक करनी होगी।

गिरीन्द्र हाथ-पैर धोकर बोला—आज मैं जलपान न करूँगा, और कहीं टहलने भी न जाऊँगा। बस, जो कुछ रोटी साग हो ले आओ, एक ही बार खा लूँगा।

पूरी, मोहनभोग, मछली और भाँति भाँति की तरकारी जो काशीवासिनी ने अपने हाथ से बनाई थी वह सब चम्पा ले आई। गिरीन्द्र भोजन करके अतीव तृप्त हुआ।

उसने चम्पा से कहा—उनसे पूछो तो, वे कलिया पकाना जानती हैं?

चम्पा ने उनसे पूछ आकर कहा—हाँ, कुछ कुछ जानती हैं।

गिरीन्द्र ने कहा—मैंने एक बात सोची है। यदि उनसे एक दिन ठहरने के लिए कहा जाय तो क्या वे न रहेंगी? अगर वे रह सकें तो उन्हें परसों भोज के समय तक ठहरा लिया जाय। एक बार उनसे पूछो तो, वे क्या कहती हैं?

चम्पा मन ही मन पुलकित होकर बोली—आप ही पूछिए।

गिरीन्द्र ने दाँत से जीभ काट कर कहा—इस दशा में क्या मैं उनसे बात कर सकूँगा? कुछ अंट संट मुँह से निकल जाय तो वे क्या कहेंगी?

चम्पा—"यह दूसरे से कहिए! आज घर आते ही आपने किसके साथ बातें की थीं?" यह कह कर उसने काशीवासिनी से जाकर रहने का प्रस्ताव किया। वह राज़ी होगई।

दूसरे दिन सवेरे उठकर गिरीन्द्र ने भोज की फ़ेहरिस्त लिखी। काशीवासिनी ने फ़ेहरिस्त सुनकर उसमें जो कुछ घटाने-बढ़ाने का प्रस्ताव किया वह गिरीन्द्र को बहुत पसन्द आया। उसने चम्पा को एकान्त में बुलाकर कहा—देखो, यह औरत बड़ी चालाक है। यह न समझो कि यह केवल धर्म-कर्म लेकर ही काशी-सेवन करती है।

चम्पा क्रुद्ध होकर बोली—ऐसा न कहिए। आपका हृदय बड़ा अशुद्ध है।

बाज़ार से दो कोस पर गुरगाँव नाम की बस्ती में देवी की मूर्ति है। बलिदान के लिए वहाँ बकरा भेजा गया।

रात के आठ बजे भोज का समय निर्दिष्ट था। भोज निर्विघ्न समाप्त हुआ। भोजन-सामग्री एक से एक बिलदए और

स्वादिष्ट बनी थी । यदि खानेवालों का होश हवास ठिकाने रहता तो वे लोग एक स्वर से पाककर्ता को धन्यवाद दिये बिना न रहते ।

चौथा परिच्छेद ।

आज रविवार है । आज रात की गाड़ी से गिरीन्द्र ताड़ीघाट जायगा । काशीवासिनी ने चम्पा से कहा—मैं अब देश न जाऊँगी । यहाँ से काशी ही लौट जाऊँगी ।

चम्पा—अच्छा, तो आप भी हम लोगों के साथ ही चलिए । ताड़ीघाट से शायद चार पाँच स्टेशन और आगे जाना होगा ।

भोजन करने के बाद गिरीन्द्र ने चम्पा से कहा—तीस रुपया निकालो तो बाज़ार का जो कुछ मेरे ज़िम्मे देना बाक़ी है वह बेबाक़ कर आऊँ ।

चम्पा सुन कर अवाक् हो रही । कुछ देर के बाद बोली—आपने एक एक पैसा कर के मुझसे सब ले लिया । अब मेरे पास रुपया कहाँ है ?

गिरीन्द्र—क्यों ? उस दिन जो अस्सी रुपया रखने के लिए दिये थे ?

"परसों बाज़ार जाते समय आप तीस रुपया ले गये थे । जो बाक़ी बचा था वह भी कल सन्ध्या समय दो तीन दफ़े करके मैं आपको सब दे चुकी । आप समझते हैं कि रुपया अब तक धरा ही है ?" यह कहकर उसने सन्दूक़ खोल कर देखा । पूँजी में दो रुपये चौदह आने रह गये थे ।

गिरीन्द्र ने कहा—कैसे बनेगा ? मेरे पास भी तो कुछ नहीं है।

चम्पा चुप हो रही। ज़रा ठहर कर बोली—मैं क्या करूँगी? मेरा इसमें क्या कुसूर है। मद्य ही आपको कंगाल बनाये हुए है। उस समय तो कुछ ज्ञान रहता नहीं, रुपया लाओ, रुपया लाओ, यही सूझता है।

गिरीन्द्र कुछ रुष्ट होकर बोला—अच्छा, तुम रहने दो। मैं जाता हूँ, किसी से उधार माँगता हूँ।

काशीवासिना बाहर बैठी उन दोनों की बातचीत सुन रही थी। उसने चम्पा को बुला कर कहा—उन्हें मना कर दो, मेरे पास रुपया मौजूद हैं, मेरा देश जाना मुलतवी रहा।

चम्पा ने स्वामी से जाकर यह हाल कहा। उसने कहा—यह भी कोई बात है ? उनसे जान न पहचान, मैं उनसे रुपया कैसे लूँगा ?

यह सुन कर काशीवासिनी भीतर आकर बोली—बाबू, इसमें हर्ज क्या है ? आप ताड़ीघाट में जाकर स्थिर हूजिए, मैं कुछ दिन बाद फिर आपके पास आऊँगी। आप लोगों से भेंट भी होगी और अपना रुपया भी लेती जाऊँगी।

गिरीन्द्र ज़रा सोच कर बोला—तो आप कृपा करके काशी न जाकर मेरे साथ ताड़ीघाट चलिए। वहाँ पाँच छः दिन में कोई प्रबन्ध करके आपको रुपया दे दूँगा।

काशीवासिनी—अच्छा, यह बात पीछे होगी। आपको कितना चहिए ? तीस ? अगर ज़्यादा चाहिए हो तो भी मैं दे सकती हूँ, कितने की ज़रूरत है ?

गिरीन्द्र—नहीं, मैं ज़्यादा नहीं चाहता, तीस मिलने ही से काम चल जायगा।

काशीवासिनी ने पेटी खोल कर दस दस रुपये के तीन नोट दे दिये।

उसी दिन, रात के ग्यारह बजे की गाड़ी से, गिरीन्द्रनाथ अपनी स्त्री और काशीवासिनी को साथ ले ताड़ीघाट को रवाना हुआ। भजुआ की माँ रोने लगी। गिरीन्द्र ने उसे भी साथ ले जाना चाहा, किन्तु उसने जाना स्वीकार न किया।

स्टेशन पर जाकर काशीवासिनी ने चम्पा से कहा—बेटी, बाबू से कहो कि मेरे लिए काशी का टिकट ले लें, वहाँ कुछ ज़रूरी काम है।

गिरीन्द्र ने उससे ताड़ीघाट में रहने के लिए बहुत आग्रह किया, पर वह राज़ी न हुई।

ताड़ीघाट जाने को दिलदारनगर जंक्शन में गाड़ी बदलनी पड़ती है। गिरीन्द्र कुछ रात रहते स्त्री को लेकर दिलदारनगर में रेलगाड़ी से उतर गया। काशीवासिनी सीधे बनारस चली गई।

पाँचवाँ परिच्छेद

गिरीन्द्रनाथ सात बजे सवेरे सकुशल ताड़ीघाट स्टेशन पर पहुँचा। गाड़ी से उतर कर वह क्वार्टर में, जो उसके रहने के लिए पहले ही से निर्दिष्ट था, गया। अपने सामान को ठिकाने रख कर वह स्टेशन मास्टर से भेंट करने गया।

चम्पा ने स्नान करने के लिए धोती निकालने को पेटी खोली। उसके गहना रखने का पीतल का डिब्बा बराबर इसी पेटी में रहता था। कपड़ा निकालते समय देखा, गहने का डिब्बा नहीं है।

चम्पा के मन में विश्वास था कि वह किसी सन्दूक़ में ज़रूर होगा। उसने एक एक कर सब सन्दूक़ों को खोल कर देखा, डिब्बा न मिला। तो भी जी न मानता था, उसने दो तीन दफ़े हरेक सन्दूक़ को खोल कर सब चीज़ों को अलग अलग रख कर डिब्बे को ढूँढ़ा, पर उसका कहीं पता नहीं। तब वह हताश हो कर रोने लगी।

वह देर तक बिलख बिलख कर रोती रही। स्टेशन-मास्टर की लड़की अपने छोटे भाई को गोद में लिये बहू (चम्पा) को देखने आई थी। वह चम्पा को रोते देख बिना कुछ पूछे पांव अपने घर को लौट गई।

इतने में गिरीन्द्र भी आ गया। उसने चकित होकर पूछा-यह क्या?

चम्पा ने रोते रोते सब कह सुनाया।

सुन कर गिरीन्द्र सिर पर हाथ रख कर बैठ रहा। कुछ देर के बाद उसने कोमल स्वर में चम्पा से पूछा—अच्छी तरह ढूँढ़ कर देखा है?

चम्पा—हाँ, अच्छी तरह खोजा है। जब कहीं न मिला तब हताश होकर बैठी हूँ।

"पिछली बार उसे कब देखा था?"

"कल जब खगोल से मैं चलने लगी तब एक रङ्गीन टुकड़े में

डिब्बे को बाँध कर इसी काले रङ्ग वाली पेटी में बन्द करके रख दिया था। यह मुझे ब.खूबी याद है।"

"कोई दूसरी चीज़ निकालने के लिए गाड़ी में वह काली पेटी तुमने खोली भी थी?"

"हाँ, एक दफ़े खोली थी। जब जाड़ा मालूम होने लगा तब पेटी खोल कर उसमें से शाल निकाली थी।"

"उस समय गहने का डिब्बा निकाल कर बाहर तो नहीं रहने दिया?"

चम्पा—नहीं, कभी नहीं। शाल ऊपर ही रक्खी थी। मैंने धीरे से निकाल ली, और सब चीज़ें उसमें ज्यों की त्यों रक्खी रहीं।

गिरीन्द्र—कुञ्जी कहाँ थी?

चम्पा—कमर में।

गिरीन्द्र—गाड़ी में ऊँघ तो ज़रूर गई होगी?

चम्पा—हाँ, दो एक बार ज़रा पलकें लग गई थीं।

गिरीन्द्र—तो निश्चय ही काशीवासिनी ले गई।

चम्पा चुप हो रही।

गिरीन्द्र कहने लगा—जब तुम सो गई होगी तब उसने धीरे धीरे तुम्हारी कमर से कुञ्जी ले कर पेटी से गहने का डिब्बा निकाल लिया होगा। तुम उसका नाम जानती हो?

चम्पा—नहीं। वह बूढ़ी थी, इस लिहाज़ से मैं उसका नाम न पूछ सकी।

गिरीन्द्र—अच्छा, यह मालूम है कि काशी में वह कहाँ रहती है?

चम्पा—किसी मठ में रहती है।

गिरीन्द्र नाराज़ हो कर बोला—काशी में नौ सौ निन्यानवे मठ हैं—किस मठ में रहती है, वह मठ कहाँ है सो मालूम है?

चम्पा—नहीं।

गिरीन्द्र—मैंने उसी दिन कह दिया था कि इन लोगों का विश्वास न करो। ये सब घर की निकाली हुई हैं, इन्हें एक तरह काशी की वेश्या ही समझो। तीस रुपये का लालच दे कर सर्वस्व हरण कर लिया।

चम्पा—आप चाहे जो कहिए, पर उन्होंने हर्गिज़ नहीं लिया। वे क्यों लेंगी? शायद मैं ही खगोल में छोड़ आई हूँ।

गिरीन्द्र को किसी तरह चम्पा की बात पर विश्वास न हुआ। उसने कहा—इस व्यर्थवाद को जाने दो, मैं ऐसी वाहियात बातों के भरोसे नहीं रह सकता। तुम संसार के छल-प्रपञ्च की बात क्या समझो? अच्छा यह बताओ, उस औरत, ने किसी दिन तुम्हारा गहना देखा था?

चम्पा डरते डरते बोली—देखा तो था, उसी भोज के दिन। उन्होंने कहा—'तुम्हारे गहने नहीं देखे, देखूँ कैसे हैं'। मैंने पेटी से निकाल कर सब ज़ेवर दिखा दिया।

गिरीन्द्र—"तो अब कोई सन्देह न रह गया। मैं चला पुलिस को तार देता हूँ।" यह कह कर गिरीन्द्र स्टेशन को गया। चम्पा अकेली बैठ कर रोने लगी।

छठा परिच्छेद।

दो सप्ताह बीत गये। इस अरसे में स्त्री और स्वामी को गहने का शोक एक प्रकार से भूल गया। वे दोनों अब परस्पर

पूर्ववत् हँसने बोलने लगे हैं। इस नई जगह में आ कर गिरीन्द्र अच्छा रुपया कमाने लगा। इसी से, जान पड़ता है, उसे गहना खो जाने का दुःख अब उतना नहीं रहा।

जिस दिन पुलिस को तार दिया गया था उसी दिन दिलदारनगर से जमादार आकर गहने की फ़ेहरिस्त और उसके सम्बन्ध की सब बातें गिरीन्द्र से पूछ कर लिख ले गया। किन्तु तब से पुलिस की कार्रवाई का कुछ हाल मालूम न हुआ।

साढ़े ग्यारह बजे का समय है। गिरीन्द्रनाथ आफ़िस गया है। चम्पा भोजन करने बैठी है। इसी समय दिलदारनगर से गाड़ी आई। गिरीन्द्रनाथ का घर प्लैटफ़ार्म के नीचे ही था। द्वार पर खड़े होने से गाड़ी के यात्रियों का अनायास ही दर्शन होता था। चम्पा की यह एक विचित्र टेव थी कि जब जब पैसेंजर गाड़ी आती थी, वह देखने के लिए दौड़ती थी। प्रतिवार ट्रेन का देखना उसने अपना एक कर्तव्य समझ लिया था। न देखने से मानो उसके कर्तव्य की हानि होगी। गाड़ी आने का शब्द सुन कर चम्पा आगे की थाली छोड़, जूठे हाथ, जूठे मुँह, गाड़ी देखने गई। द्वार बन्द था। उसने किवाड़ के पास खड़ी हो एक छिद्र में आँख लगा कर देखा, काशीवासिनी गाड़ी से उतर कर प्लैटफ़ार्म पर खड़ी है। एक कुली उसका असबाब गाड़ी से उतार रहा है। काशीवासिनी ने न मालूम कुली से क्या पूछा, कुली ने गिरीन्द्रनाथ के घर की ओर उँगली उठाई।

चम्पा दौड़ कर आँगन में गई और मुँह-हाथ धोया। उसकी छाती धड़कने लगी। वह चकित दृष्टि से काशीवासिनी के आने की राह देखने लगी। उसके मन में एक आनुपूर्विक आह्लाद होने लगा। कई बार उसने मन ही मन भगवान् से

मनाया कि मेरे स्वामी ने जो काशीवासिनी को चोरी का इल-ज़ाम लगाया है वह उसको मालूम न हुआ हो। चम्पा को पूरा विश्वास था कि काशीवासिनी ने मेरा गहना नहीं लिया है। उसको अपने यहाँ आते देख चम्पा का यह विश्वास और दृढ़ हुआ। अगर उसने चुराया होता तो कभी अपने मन से यहाँ न आ सकती।

वह इस प्रकार सोच ही रही थी कि काशीवासिनी उसके पास पहुँच गई। "माँ, आप आई हैं?" कह कर चम्पा ने प्रणाम किया। उसने चम्पा के सिर पर हाथ रख कर बड़े प्यार से आशीर्वाद दिया।

चम्पा ने कहा—आप स्नान कीजिए, तब तक मैं रसोई चढ़ाती हूँ।

"स्नान तो मैं करूँगी, पर रसोई चढ़ाने की कोई ज़रूरत नहीं। आज एकादशी है।"

चम्पा ने काशीवासिनी के मुँह की ओर ध्यान से देखा। उसके चेहरे से उदासी झलकती थी। मुँह का भाव बहुत गम्भीर था। बात बात में उसकी आँखों में आँसू भर आते थे। चम्पा ने पूछा—आपका मन इतना उदास क्यों है?

"जानती नहीं हो?"

चम्पा कुछ भय और विस्मय से आक्रान्त होकर बोली—क्या?

"तुम लोगों को मुझ पर सन्देह हुआ है कि मैं तुम्हारे गहने का डिब्बा ले गई हूँ। तहकीक़ात के लिए पुलिस को भेजा है। क्या यह तुम्हें मालूम नहीं?"

चम्पा लज्जा से सिर झुका कर चुप हो रही, फिर बोली—

अगर मैं सौगन्द खाकर भी कहूँगी कि मेरे मन में कभी यह सन्देह नहीं हुआ तो भी क्या आपको विश्वास होगा?

काशीवासिनी ने खेद-युक्त स्वर में कहा—बेटी, तुमको न सही, तुम्हारे पति को तो मुझ पर सन्देह हुआ है।

चम्पा—पुलिस आपका पता लगा लेगी, इसे वे असंभव मानते थे। आज भी उन्होंने कहा है, काशी में लाखों मन्दिर हैं—कितने ही स्थान-धारी साधु वैष्णव हैं—किसका पता कौन जानता है?

"पुलिस ने तो मुझ ही को ढूँढ निकाला। क्या उसने मुझ पर थोड़ा ज़ोर-ज़ुल्म किया है? दो सौ रुपया नक़द घूँस दी है तब जाकर छुट्टी मिली है।"

चम्पा—हम लोगों के साथ स्नेह करने का उचित फल पाना चाहिए था, वह आप पा गईं।

काशीवासिनी ने पूछा—गिरीन्द्रनाथ कब आवेंगे?

चम्पा—शाम को।

घंटों तक यों ही बात चीत होती रही। आकाश में बादल घिर आने से धूप छिप गई। काशीवासिनी ऊपर की ओर दृष्टि करके बोली—आज पानी न बरसे तो अच्छा है।

चम्पा—सो क्यों?

"मैं आज ही जाऊँगी।"

"आज ही जायँगी?"

काशीवासिनी ने हँस कर कहा—तुम निरी छोकरी हो! तुम्हारे स्वामी मुझे चोरी की इल्लत लगा कर गिरफ़ार कराना चाहते हैं और तुम्हारी इच्छा है कि मैं यहाँ रहूँ। मैं ढाई बजे की

गाड़ी से लौट जाऊँगी। हमारे मठ के बहुत लोग श्रीक्षेत्र जाते हैं। कल मैं भी उन लोगों के साथ श्रीक्षेत्र को जाऊँगी।

चम्पा—उधर से कितने दिनों में लौटोगी?

"क्यों? लौटती बार क्या अब तुमसे भेंट होगी"? यह कहते कहते काशीवासिनी की आँखें डबडबा गईं। कुछ देर के बाद बोली—एक काम करोगी?

चम्पा—क्या?

"मेरा कुछ ज़ेवर मेरे पास मौजूद है, तुम उसको यदि पहनो तो मैं नज़र भर कर देखलूँ।" यह कह कर उसने पेटी खोल कर छोटा सा हाथीदाँत का सन्दूक़चा निकाला। चम्पा ने अचरज भरी दृष्टि से देखा, इसके भीतर सोने का बहुमूल्य जड़ाऊ ज़ेवर था।

काशीवासिनी ने कहा—ये गहने तुम ले लो।

ज़ेवरों में हीरे, मोती और मानिक आदि रत्न जड़े थे। उनकी चमचमाहट से चम्पा के चपल नेत्र चौंधिया गये। तो भी वह अपने को रोक कर बोली—मैं कैसे ले सकूँगी?

का० वा०—क्यों?

चम्पा—मैं आपके इतने बहुमूल्य ज़ेवर क्यों लेलूँ?

का० वा०—मैं देती जो हूँ।

चम्पा—आप देती हैं सही, पर मुझे लेने का क्या अधिकार है? मैं न ले सकूँगी।

इतने में सारा आकाशमण्डल मेघ से भर गया। बूँदाबाँदी होने लगी। दिन का प्रकाश अँधेरे का अनुकरण करने लगा। चारों ओर धुँधलापन छा गया। मालूम होता था कि अब साँझ होने में विलम्ब नहीं है।

काशीवासिनी ने एक बार आकाश की ओर देखकर चम्पा से कहा—अगर लेने का अधिकार हो?

चम्पा—अधिकार, क्या अधिकार?

काशीवासिनी ने सिर नीचा कर कहा—वह बतलाऊँगी, वही बतलाने के लिए आई हूँ।

चम्पा की छाती धड़क उठी। वह चकित होकर चुपचाप काशीवासिनी के मुँह की ओर ताकने लगी।

काशीवासिनी ने पूछा—क्या तुम्हारी माँ सचमुच मर गई है?

चम्पा ज़रा ठिठक कर बोली—क्यों?

का० वा०—यौंही पूछती हूँ।

चम्पा—लोग तो ऐसा ही कहते हैं।

का० वा०—"तो मैं तुम से ख़ुलासा क्यों न कह दूँ। मैं ही तुम्हारी अभागिन माँ हूँ।" यह कहते ही काशीवासिनी की आँखों से झर झर कर आँसू गिरने लगे।

चम्पा सुनकर सहम गई। वह चित्र की भाँति निश्चेष्ट हो रही। वह मन ही मन थोड़े दिन की एक घटना सोचने लगी। उसकी अन्नपूर्णा नाम की एक फूफी थी। वह तीर्थाटन करके बहुत दिनों बाद घर लौटी थी। वह रात को विस्तरे पर पड़ी पड़ी अपनी चाची के साथ जहाँ तहाँ की बातें कर रही थी। उसने समझा था कि चम्पा सो गई है, पर वह सोई न थी। दम साधे चुपचाप सब सुन रही थी। उसने जो कुछ सुना उससे उसकी आँखों के सामने सारा ब्रह्माण्ड घूमने लगा। वह इतने दिनों से जानती थी कि मेरी माँ मर गई है, पर आज

सुना कि वह अब तक जीती है। अन्नपूर्णा ने किसी तीर्थ में एकाएक उसे देखा, और उससे भेंट की। जिस माँ के स्मरण को, पुण्यतम समझ कर, कन्या जन्म ही से भक्तिपूर्वक हृदय में धारण किये थी, उसी माँ का स्मरण यथार्थ में गर्हित है, उसकी माँ कलङ्किनी है, यह उसने तब जाना। इस बात को जानकर उस रात में चम्पा को अवर्णनीय कष्ट हुआ। चम्पा समझ गई, यह वही माँ है! उसका हृदय काँप उठा। वह अपनी आँखों के सामने एक अपूर्व घटना देख स्तब्ध हो रही।

काशीवासिनी तब भी रोती ही थी। कुछ देर में जब उसका जी कुछ ठिकाने आया तब उसने पूछा—मेरे जीवित रहने की बात जामाता जानते हैं?

"नहीं।"

"तुमने कब सुना था?"

"ब्याह होने के बाद।"

"क्या अन्नपूर्णा फूफी की ज़बानी?"

"हाँ।"

का० वा०—मैंने भी उन्हीं के मुँह से सुना कि तुम्हारा ब्याह हो गया। जमाई दानापुर-स्टेशन के मालगोदाम में काम करते हैं। विजययात्रा के दिन तुम दानापुर आओगी, यह भी उन्हींने कहा था।

चम्पा—तो मालूम होता है तुम जान बूझ कर दानापुर गई थीं? देश जाने की बात तुमने झूठ मूठ कही थी? क्यों?

चम्पा ने यह बात कुछ कठोर स्वर में कही।

काशीवासिनी ने रोते रोते कहा—अपनी सन्तान को क्या कोई भूल सकता है?

यह सुन कर चम्पा की आँखों में आँसू भर आये। यह अपनी माँ है, यह न जानने पर भी उसके प्रति जो मातृवत् भाव उत्पन्न हुआ था, वही उसके आगे आ खड़ा हुआ। वह रोती रोती सी होकर बोली—तुम मेरी माँ हो, यह बात तुमने मुझे क्यों जताई?

का० वा०—न जानूँ क्यों मुझ से न रहा गया?

चम्पा आवेश में आकर एक बार कहा चाहती थी कि जता दिया तो अच्छा ही किया, नहीं तो इन आँखों से माँ को कब देखने पाती। परन्तु तुरन्त ही उसके मन का भाव बदल गया। उसने मन में कहा—इस माँ का मुँह न देखती तो अच्छा था।

इस दुविधा में पड़ कर वह कुछ न बोली। चुप हो रही।

गाड़ी आने का समय हुआ। काशीवासिनी ने कुली से कह दिया था। वह असबाब लेने आया।

चम्पा ने कहा—गहना लिये जाओ, यह मैं न पहनूँगी। कन्या के मुँह की ओर देख कर काशीवासिनी उसके मन का भाव समझ गई। बोली—जो तुमने सोचा है, वह बात नहीं है। इसे तुम ख़ुशी से पहनो, नहीं तो मैं ही तुम को न देती। इस जीवन में एक बार जो पाप किया था उसका प्रायश्चित्त आज चौदह वर्ष से कर रही हूँ। ये भूषण मेरे पाप की कमाई के नहीं हैं। क्या तुम नहीं जानती कि मैं बड़े घर की स्त्री थी?

चम्पा—मैं उनकी सम्मति लिये और उनको सब हाल सुनाये बिना नहीं ले सकती।

"अच्छा वही सही, अगर वे तुमको न पहनने दें तो इन भूषणों को तुम किसी धर्मकार्य में लगा देना।"

काशीवासिनी यह कह कर जाने के लिए उठ खड़ी हुई। चम्पा की मातृभक्ति उथल पड़ी। उससे न रहा गया—"माँ फिर दर्शन देना" कहकर वह माँ के पैरों पर गिर प्रणाम कर के रोने लगी।

माँ उसकी आँखें पोंछ कर "सावित्री हो, सती हो, रानी हो" ऐसा अशीर्वाद दे कर के चली गई।



कलिकाल की कन्या ।

पहला परिच्छेद ।

चैत का महीना है। सूर्यास्त होने में अब देर नहीं है। कोई घड़ी भर दिन होगा। गोपाल बाबू की बैठक में विनयकुमार शतरंज खेल रहे थे। इसी समय उनका छोटा लड़का दौड़ा हुआ आया और बोला—बाबू जी, शीघ्र घर चलिए, तार आया है।

बैठक में जितने लोग थे सभी तार का नाम सुन कर चौंक उठे। देहात में हमेशा तार नहीं आता। कभी आता भी है तो अनिष्ट संवाद लेकर ही।

विनयकुमार खेल छोड़ कर अँगोछे से सिर का पसीना पोंछ उठ खड़े हुए। जल्दी जूता पहन, बड़ी तेज़ी से घर आये। देखा, तार का चपरासी दर्वाज़े के उसारे में बड़ी लाठी लिये गम्भीर भाव से बैठा है। दूर स्टेशन से आने के कारण वह पसीने से भीगा है। कितने ही बालक बालिका कुतूहल-वश चारों ओर से उसको घेरे खड़े हैं।

विनयकुमार ने रसीद पर दस्तख़त कर के काँपते हुए हाथों से लिफ़ाफ़ा खोला। ख़बर पढ़ते ही उनके मुँह पर प्रसन्नता का चिह्न दिखाई दिया। वे तार लेकर घर में भीतर गये। देखा, उनकी स्त्री बड़ी देर से तार का समाचार जानने के लिए उत्कण्ठित हो रही है। विनयकुमार ने कहा—ख़बर अच्छी है।

"क्या ?"

"विनोद घर आ रहा है।"

"विनोद बाबू आ रहे हैं? कहाँ से? कब आवेंगे?"

"यह तो नहीं लिखा। मुकामा से तार दिया है। शायद कल किसी समय यहाँ पहुँच जाय।"

विनयकुमार और विनोदविहारी दोनों सहोदर भाई हैं। विनोद जब डेढ़ दो वर्ष का था तभी माता-पिता दोनों का देहान्त हो गया था। विनयकुमार की स्त्री ही ने विनोद को पाल पोस कर बड़ा किया था।

विनोद जब बड़ा हुआ तब बड़ा उद्दण्ड हो गया। बे माँ-बाप के लड़के अक्सर आवारा हो जाते हैं। संयोग ही से कोई सुधरता है। कुसङ्ग में पड़कर विनोद अव्वल दरजे का गुंडा निकला। इस कारण विनयकुमार उससे बहुत नाराज़ रहते थे। विनयकुमार ने उसको सुधारने की अनेक चेष्टायें कीं। मीठी मीठी बातों से उसे बहुत समझाया बुझाया, पर उसने बड़े भाई की नसीहत पर ध्यान न दिया। एक दिन विनयकुमार ने क्रोध से विनोद को ख़ूब पीटा। इससे अपनी बेइज़्ज़ती समझ विनोद उसी दिन घर से भाग गया। एक दो करके सात दिन बीत गये। विनोद न लौटा। विनयकुमार ने कई जगह उसको ढूँढ़ा। जब कहीं न मिला तब उन्होंने समाचारपत्र में विज्ञापन देना आरम्भ किया। "विनोद का ठीक ठीक पता बताने वाले को २५) रु० पुरस्कार दिया जायगा"। यह घोषणा कर देने पर भी विनोद का पता न लगा। देखते देखते महीना बीत गया, वर्ष बीत गया, इसी तरह तीन वर्ष बीत गये। 'विनोद के लापता होने से हम स्वजनसमाज में मुँह दिखाने योग्य न रहेंगे'! यह सोच विनयकुमार के मन में हरदम बना रहता था। इसी अवसर पर अकस्मात् ख़बर आई कि वह घर आ रहा है।

इससे विनयकुमार के आनन्द की सीमा न रही। इसी .खुशी में शामको तुलसी के नीचे शिरनी चढ़ाई गई। दीप-मालिका की गई। विनोद के आने की ख़बर गाँव भर में फैल गई। बन्धुबान्धवगण उत्सुकता से विनोद के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

दूसरे दिन दोपहर के वाद विनोद की सवारी गाँव में आ पहुँची। विनोद घोड़ागाड़ी से उतरा। उसके हाथ में सब्ज़ बानात से मढ़ा हुआ एक कैश-बक्स था। कोचवान और घर के नौकर ने गाड़ी से असबाब उतारा।

विनोद ने घर में जाकर भाई और भाभी को प्रणाम किया। बाल-बच्चों को गोदी में विठा कर लाड़ प्यार किया। इसके अनन्तर उसने भाभी को भीतर बुलाकर कैश-बक्स सौंपा और धीरे से कहा—इसे .खूब हिफ़ाज़त से अपने लोहे के सन्दूक़ में रख दो।

भाभी ने देखा, बक्स बहुत भारी है। वह बड़ी .खुशी से उसे सन्दूक़ में बन्द करते करते बोली—बबुआ, इतने दिन कहाँ थे?

"मोतिहारी में।"

"इतने दिन बाद हम लोगों की सुध आई?"

"भाभी, नौकरी छोड़ कर कैसे आता?"

"क्या वेतन मिलता है?"

"एक सौ बीस रुपये महीना।"

"ब्याह कर लिया?"

"ब्याह! ब्याह करके क्या करूँगा?"

भाभी ने हँस कर ठट्ठा करना चाहा इसी समय विनय-

कुमार ने आकर कहा—विनोद दिन भर का भूखा है; जाओ, पहले झटपट रसोई चढ़ा दो, फिर बातचीत होती रहेगी।

विनोद को मुँह-हाथ धोते और लोगों से मिलते-जुलते साँझ हो गई। धीरे धीरे गाँव के लोगों से विनयकुमार का दालान भर गया। दोनों भाई मित्र-मण्डली के बीच जा बैठे। गुरुजनों का पदस्पर्श करते करते विनोद का कन्धा पिराने लगा। सभी लोग विनोद को देख कर ख़ुश हुए। किसी किसी ने कहा—इतने दिन घर आने का नाम तक न लिया, एक चिट्ठी तक न भेजी; हम लोग बहुत सोच में थे कि क्या हुआ, कहाँ गया! पर लड़का बहादुर है, इसमें सन्देह नहीं। आज कल के ज़माने में एक सौ बीस रुपये की नौकरी मिलना क्या सहज बात है।

गाँव के जो भाग्यहीन युवक बी० ए० पास करके कलकत्ते की किसी महाजनी कोठी में तीस रुपये की क्लर्की के लिए उम्मेदवारी कर रहे थे, जो एम० ए० पास कर के पचास रुपये मासिक वेतन की नौकरी तलाश रहे थे, उनकी चर्चा चली। वृद्ध चक्रवर्ती महाशय बोले—भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्। बी० ए० पास करने से भी कुछ नहीं होता, जो अदृष्ट में लिखा होगा वही होगा।

कुछ लोग वृद्ध महाशय की बात का अनुमोदन करने लगे—"आपका कहना सही है। इसमें सन्देह क्या।" किन्तु एक नई सभ्यता के बाबू ने कहा—अदृष्ट तो प्रबल हई है, उसके साथ साथ उद्योग और बुद्धि भी होनी चाहिए।

एक व्यक्ति ने अपना मन्तव्य प्रकट किया—"विनोद बुद्धिमान् है और उद्योगशील है, यह हम पहले ही से जानते हैं।" गोपाल सरकार ने इस मत की पुष्टि करके कहा—लड़कपन में कुछ

अल्हड़पन सा था। ऐसे कितने ही लड़के होते हैं जिनमें बड़े होने पर अल्हड़पन नहीं रहता। हमारा विनोद भी अब सुधर गया। ख़ुशी की बात है। इसकी यह नौकरी हमेशा क़ायम रहे, वेतन की वृद्धि हो, पद की उन्नति हो। यही हम लोगों का हार्दिक आशीर्वाद है।

भाई की ओर स्नेह भरी दृष्टि से देख कर विनयकुमार बोले—सरकार महाशय, आप लोग यही आशीर्वाद कीजिए। आपही लोगों की कृपा से आज मेरे मुँह की लाली रही।

दूसरा परिच्छेद।

दूसरे दिन सबेरे विनोदविहारी ने बरामदे में बैठ कर भतीजे-भतीजियों को अपने पास बुलाया और कहा—तुम लोगों के लिए मैं जो सौग़ात लाया हूँ उसे, मालूम होता है, तुम लोगों ने अभी तक नहीं देखा।

लड़के मारे ख़ुशी के उछल कर कहने लगे—"काका, क्या क्या लाये हो? पहले मुझे दो, उठो।" यों कहते हुए, किसी ने उसका हाथ पकड़ा, किसी ने पैर पकड़े, कोई गर्दन पकड़ कर लटक गया। विनोद उठा और बक्स खोल कर उसने किसी को बन्दर, किसी को लालरङ्ग का बैल, तथा किसी को मेम की पुतली दी। नये नये खिलौने पाकर लड़के मारे ख़ुशी के नाचने लगे। विनोद ने मुस्कुराती हुई भाभी की ओर देख कर कहा—भाभी, तुमने तो पूछा ही नहीं कि तुम्हारे लिए क्या लाया हूँ?

भाभी ने हँस कर कहा—क्या लाये हो?

विनोद—बतलाओ तो क्या लाया हूँ?

"मैं क्या जानूँ?"

"कौन चीज़ मिलने से तुम प्रसन्न होगी?"

"मैं किस चीज़ से प्रसन्न होऊँगी? अच्छा बताती हूँ। मैं बन्दर न लूँगी, वह तो मेरे घर ही में है।"

विनोद ने कृत्रिम क्रोध कर के कहा—भाभी, वाह! मेरे भाई को बन्दर बनाती हो?

भाभी—यह देखो, क्या मैंने किसी का नाम थोड़े ही लिया है? आप ख़ुद कहते हैं। मैं क्या करूँ?

विनोद ने कहा—तो मेम की पुतली भी तुम न लोगी क्योंकि वह तो तुम आप ही हो।

भाभी ने कहा—सचमुच, मैं मोम की मेम नहीं चाहती। अगर तुम असली सजीव मेम की पुतली ब्याह कर ला देते तो मैं ख़ूब प्रसन्न होती।

"जो लाया हूँ उसे देख कर तुम और भी अधिक आनन्दित होगी। इसीलिए तो मैं इतने दिन से घर न आता था; रुपया जमा करता था। मेरा कैश-बक्स निकालो तो तुम्हें दिखाऊँ।

भाभी ने सन्दूक़ खोल कर कैश-बक्स बाहर निकाला। विनोद ताली खोजने लगा। कोट के इस पाकेट में उस पाकेट में हाथ डाला, कुंजी न मिली। साथ में जो दो स्टील-बक्स थे उन्हें खोल कर उनमें की वस्तुओं को उलट पुलट कर देखा, पर कैश-बक्स की कुञ्जी का कहीं पता न चला। विनोद उदासी के साथ—"मैं ज़रूर गाड़ी में कुञ्जी छोड़ आया" कह कर सिर पर हाथ रख बैठ रहा और अफ़सोस करने लगा। भाभी सान्त्वना देकर बोली—बबुआ, जाने दो कुञ्जी खो गई तो खो

गई, उसके लिए इतना सोच क्यों करते हो? धन तो तुमने गँवाया नहीं—बक्स घर ही में है। कुञ्जी मिलेगी तो मिलेगी, नहीं तो बक्स का ताला तोड़ा जायगा, इससे अधिक और क्या होगा?

विनोद सूखी हँसी हँस कर बोला—भाभी, जो कुछ है उसी में है, ज़रूरी ख़र्च के लिए एक पैसा भी बाहर नहीं है।

भाभी--तुम्हें जब जो दरकार हो, मुझसे ले लेना।

विनोद—बिना कलकत्ते गये अब यह बक्स न खुलेगा। बक्स न खुलने का खेद नहीं है, खेद यही है कि इतने हौसले से तुम्हारे लिए गहना गढ़ा कर लाया था पर तुमको अभी दिखला तक न सका।

भाभी—इसके लिए खेद न करो। आज न सही दो दिन बाद ही देखलूँगी। क्या लाये हो, कहो न, भला कान से भी तो सुनूँ।

"तुम्हारे लिए दस तोले सोने की जड़ाऊ चूड़ियाँ लाया हूँ।"

उनकी भौजाई मारे ख़ुशी के फूल कर कुप्पा हो गई। विनोद मन ही मन प्रसन्न होकर बोला—भाभी, चाय बना सकोगी? सवेरे चाय पीने की बुरी आदत पड़ गई है।

यह सुन कर भाभी का मन विनोद के गौरव पर कुतूहला-क्रान्त हुआ। मेरे देवर यहाँ तक शौक़ीन हो चले हैं। वह कुछ अप्रतिभ सी होकर बोली—यहाँ तो चाय पीने की चाल नहीं है, चाय है भी नहीं।

विनोद—चाय मेरे पास है। सिर्फ़ गरम पानी और थोड़ा सा दूध-चीनी मिलने ही से काम चल जायगा।

यह सुन कर वहाँ जितने बालक थे सब उछल कूद कर कहने लगे—काका, मैं भी चाय पीऊँगा, मुझे भी चाय देना।

चाय के उपयुक्त पात्र न होने से एक मिट्टी के बर्तन में गरम पानी लाया गया। उसी में थोड़ी सी चाय डाल कर पत्थर के कटोरे से ढक दिया गया। लड़के कोई कटोरा, कोई गिलास, कोई थाली लेकर बैठ गये। जब चाय बन गई तब उसमें दूध और चीनी मिला दी गई। फिर कपड़े से चाय छान कर बहू ने सब को परोस दी। बालक-बालिकाओं के पेट में थोड़ी बहुत चाय पहुँची हो चाहे न पहुँची हो पर ज़मीन में अवश्य फैल गई जिससे मक्खियाँ भिनभिनाने लगीं।

तीसरा परिच्छेद।

पास ही एक गाँव के ज़मींदार अतुलचन्द्र महाशय के चौदह वर्ष की एक अविवाहिता कन्या थी। अच्छे कुल-शील का सजातीय सुन्दर लिखा पढ़ा होशियार नवयुवक कुमार विनोदविहारी गाँव में उपस्थित है। इसलिए घर के समीप ऐसे सकलगुण-सम्पन्न वर के होते कन्यादान की बातचीत अन्यत्र होना कब संभव था?

जिस दिन विनोद घर आया उसके दूसरे ही दिन दोपहर को अतुलचन्द्र ने अपने आदमी की मारफ़त विनयकुमार के पास ब्याह का पैग़ाम भेजा। विनयकुमार ने कहला भेजा, यदि यह सम्बन्ध हो जाय तो इससे बढ़ कर हर्ष का विषय और क्या होगा? घर वालों से राय ले लेना भी ज़रूरी है। सब से सलाह करके आपको ख़बर दी जायगी।

विनयकुमार भीतर आकर बोले—लड़की तो मेरी आँखों देखी है। बहुत अच्छी है। अगर दान दहेज़ देने में कृपणता न करे, हम लोगों की मर्यादा रक्खे, तो उसके घर लड़के की शादी करने में कोई बाधा नहीं। इसी वैशाख में शादी हो जाय।

लड़की हज़ार बार की देखी क्यों न हो, ब्याह की बातचीत होने पर एक दफ़े कन्या-निरीक्षण के लिए जाना होता ही है। इसलिए विनयकुमार बन्धु-बान्धवों को साथ ले शुभ मुहूर्त में लड़की देखने गये। अतुलचन्द्र ने विनयपूर्वक उनकी अभ्यर्थना की, पूर्ण सत्कार किया। जब लेन-देन की बात चली तब अतुल-चन्द्र हज़ार रुपये से आगे न बढ़े।

वर के तरफ़दार, इस अयुक्तता पर हँसी न रोक सके, बोले—जो लड़के एन्ट्रेन्स पास कर के एफ़० ए० में पढ़ते हैं उनका एक हज़ार रुपया बँधा है। कहिए उनकी कौन बड़ी योग्यता रहती है? अगर वे नौकरी करने की चेष्टा करें तो १५, २० रुपया मासिक वेतन का काम मिल जाना उनके लिए परम सौभाग्य है।

लड़कीवाले ने कहा—यह आप क्या कहते हैं, वह बात ही दूसरी है। जो लड़का अभी पढ़ रहा है उसकी दिनों दिन उन्नति की आशा रहती है। संभव है, वह किसी दिन हाईकोर्ट का जज भी हो जाय। और जो किसी काम में लग जाते हैं, उनकी उन्नति एक प्रकार सीमा-बद्ध हो जाती है। कहिए यह बात है कि नहीं?

इस प्रकार परस्पर वाद-विवाद होने के बाद अतुलचन्द्र ने दो हज़ार तक देना स्वीकार किया। वर-पक्ष ने कहा—हज़ार रुपया नक़द, हज़ार रुपये का ज़ेवर और एक हज़ार का दहेज़, सब मिला कर तीन हज़ार न मिलेंगे तो हम लोग पान न उठावेंगे।

अतुलचन्द्र ने कहा—अच्छी बात है। सोच समझ करके जैसा होगा आपको कहला भेजूँगा।

"अच्छी बात है" कह कर वर के तरफ़ वाले घर लौट आये। दूसरे दिन अतुलचन्द्र के यहाँ से संवाद आया कि हम किसी तरह ढाई हज़ार रुपये तक पहुँचेंगे। इतने पर यदि मंज़ूर हो तो अच्छा, नहीं तो इस से ज़्यादा हम न दे सकेंगे।

विनयकुमार ने कहला भेजा—रुपया कुछ चीज़ नहीं, जिसमें बेटी वाले प्रसन्न रहें वही हम लोग हृदय से चाहते हैं। अतुलचन्द्र नामी रईस हैं, वे जो ख़ुशी से देंगे वह मुझे क़बूल है। ढाई हज़ार ही दें। उनके साथ सम्बन्ध करने की मुझे बड़ी लालसा है। वे अब ख़ुशी से ब्याह का दिन स्थिर करें। ढाई हज़ार पर विनोद का फलदान चढ़ गया।

विनोद तो पहले ही से राज़ी था। किन्तु हज़ार रुपये का गहना सुन कर वह बड़ी चिन्ता में पड़ा। उसने अपनी भाभी से कहा—हज़ार रुपये का गहना कितना होगा? तुम्हारे लिए जो मैंने चूड़ियाँ बनवाई हैं उसमें दो सौ पचहत्तर रुपया पौने तेरह आना लग गया है। हज़ार रुपये का सोना क्या चालीस भर से ज़्यादा होगा?

भाभी—हज़ार रुपये में क्या कुल गहने बनेंगे? बहुत होंगे तो नौ अदद, इससे अधिक न हो सकेंगे। इसके बाद तुम्हारी हज़ार वर्ष की उम्र हो, तुम्हारी नौकरी क़ायम रहे, तो धीरे धीरे सब हो जायगा।

विनोद ने ज़रा सोच कर कहा—देखो भाभी, तुम्हें एक काम करना होगा। उन से कहला भेजो कि वे गहना न देकर उसका मूल्य एक हज़ार रुपया ही दे दें। उस में एक हज़ार रुपया अपनी

ओर से लगा कर मैं अपनी पसन्द से गहना गढ़ाऊँगा। कलकत्ते तो जाना ही होगा बक्स खुलवाने के लिए।

भाभी ने मन में सोच कर कहा—तुम्हारा विचार बुरा नहीं है। उनसे यही कहा जाय कि रुख़सत के समय हम बहू को गहने पहना कर मायके भेजेंगी।

विनोद—कलकत्ते जाकर गहना बनवाने में कै दिन लगेंगे? कहो तो भाभी?

भाभी—कै दिन लगेंगे? नीबूतला स्ट्रीट में सरला बहन रहती है। उसके घर जाना, वहीं सुनार को बुला कर सात दिन में सब ज़ेवर बनवा लेना। वे जब गहना गढ़वाती हैं तब इसी तरह सुनार को अपने यहाँ बिठा कर बनवा लेती हैं।

विनोद—कन्या के पिता इस प्रस्ताव पर राज़ी हो जायँगे?

भाभी—"राज़ी क्यों न होंगे?" कह कर वह उठी और अपने स्वामी से जाकर उसने यह बात कही। विनयकुमार ने कहा—"राज़ी न होने का तो कोई कारण नहीं देखता।" किन्तु विनोद का बढ़ा हुआ हौसला देख कर वे बेचारे मन ही मन सोचने लगे—मेरे भाई को बड़ी नौकरी मिली है न, इसी से मिजाज़ बहुत बढ़ गया है।

अतुलचन्द्र ने यह प्रस्ताव मान लिया। स्वर्णशून्य कर के लड़की को ब्याह कर बिदा करना उचित न समझ उन्होंने जो दो चार गहने अत्यावश्यक समझे लड़की को दिये। इसके अतिरिक्त गहने के लिए हज़ार रुपये नक़द दिये। आख़िर सब ख़र्च तीन हज़ार ही हुआ। बड़ी धूमधाम के साथ विवाह हो गया। कन्या का नाम शशिकला था।

चौथा परिच्छेद।

विनोद की भावज ने नई बहू की माँ से कहा—"गहना बनने में कुछ समय लगेगा, इस लिए हम बहू की बिदा दो सप्ताह से पहले न कर सकेंगी।" बहू की माँ ने कहा—"अच्छा, दो सप्ताह के बाद ही रुख़सत करना, हर्ज क्या है? यहीं तो नज़दीक मेरा घर है। अगर यह न मानेगी तो मैं इस बीच में एक दिन पालकी भेज दूँगी, थोड़ी देर के लिए मेरे पास भेज देना। मैं उसी दिन साँझ को फिर इसे भेज दूँगी।" वहाँ पास ही एक युवती खड़ी थी। उसने कहा—"अब पहले की तरह लड़की ससुराल आने पर ऊपर के मन से भी तो नहीं रोती। दो ही दिन में स्वामी से हिल मिल जाती है।" वहाँ जितनी औरतें बैठी थीं सब हँसने लगीं। नई बहू ने डेढ़ हाथ लम्बा घूँघट लटका कर सिर नीचा कर लिया।

विवाह हुए आज सात दिन हो गये तो भी विनोद कलकत्ते जाने का नाम नहीं लेता। जिन स्त्रियों से भौजाई का सम्बन्ध था वे सब आँखें नचा कर विनोद से मज़ाक करने लगीं। एक ने विनोद की ओर देख कर बिहारी का यह दोहा पढ़ा—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास एहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल॥"

दूसरी ने कहा—

"प्रेम पयोनिधि में धँसि कै हँसि कै कढ़िवो हँसि खेल नहीं फिर।"

तीसरी ने हँस कर कहा—

"तुम चाहो न चाहो भले ही हमें, हम तो तुम्र हाथ बिकाये गये।"

इसी समय विनोद की भाभी ने आकर कर—हँसी-दिल्लगी

की बात सुनने में बहुत अच्छी मालूम होती है। पर जो काम की बात है वह शायद आज कल के नवयुवकों को अच्छी नहीं लगती। सबसे ज़रूरी काम है अभी बहू का गहना बनवा देना। अब इसमें विलम्ब करना उचित नहीं है। बहू की फूफो से कल महल्ले में भेंट हुई थी। उन्होंने पूछा कि शशिकला के ज़ेवर बन कर आगये ? देखती हूँ, कुछ दिन में महल्ले भर की औरतें उलाहना देने लग जायँगी।

विनोद ने मुस्कुरा कर कहा—भाभी, तुम मुझको भगाना चाहती हो ? मेरा रहना क्या तुम्हें अच्छा नहीं लगता ? बड़ी भलाई करती हो ?

भाभी—समझती हूँ, सब समझती हूँ। अच्छा एक काम करो, जिसमें दोनों बातें बनी रहें। सबेरे की गाड़ी से कलकत्ते चले जाओ। दिन भर में वहाँ का जो काम हो—जैसे सोना ख़रीदना, सुनार को बुला कर उसे गहने की नाप-जोख देना इत्यादि काम—कर के गहना गढ़वाने का भार सरला बहन को सौंप कर साँझ की गाड़ी से लौट आना। आधी रात को मज़े में यहाँ आजाओगे। मैं तुम्हारे सोने के कमरे में भोजन की सामग्री रख दूँगी।

विनोद-भाभी, तुम्हारा ख़याल बहुत दूर तक जा पहुँचा।

भाभी—अब तो हम लोग बूढ़ी हुईं, किन्तु एक दिन हमारा मन भी ऐसा ही था। अभी तक ख़ूब याद है—

वह और कुछ कहना चाहती थी, पर उसने ज़बान रोक ली।

विनोद—कहो, कहो, क्या कह रही थीं ?

"नहीं, कुछ ऐसी बात नहीं" कह कर भाभी ने मुँह फेर लिया। लज्जा की हँसी उसके होठों पर आ गई।

विनोद ने बड़ी ज़िद की कि जब तक मैं भाभी से पेट की बात न कहला लूँगा, न मानूँगा।

भाभी ने कहा—मैंने जो सोने के कमरे में खाने की सामग्री रख देने की बात तुमसे कही है, इस पर मुझे एक पुरानी बात याद आ गई। किसी से न कहो तो मैं कहूँ।

विनोद—किसी से न कहूँगा।

भाभी—हमारा जब नया नया ब्याह हुआ था तब एक बार तुम्हारे भाई अदालत में गवाही देने हुगली गये। अधिक रात बीते उनके लौटने की बात थी। उनके शयनागार में खाने-पीने की सामग्री रख दी गई। मैं नींद में सो गई थी। तुम्हारे भैया ने आकर मुझे जगाया फिर उन्होंने मुझे पास बिठा कर एक साथ भोजन करने के लिए बाध्य किया।

यह सुन कर विनोद को बड़ी ख़ुशी हुई। उसने कहा—मेरे भैया यहाँ तक रसिकशिरोमणि हैं यह मैं न जानता था। मैं तो उन्हें बराबर कालिकापुराण पढ़ते देख कर बहुत भोला भाला समझता था।

आख़िर निश्चय हुआ कि कल प्रातःकाल विनोद कलकत्ते जायगा।

देखते देखते साँझ हुई। खाना पीना हुआ। शयन का समय उपस्थित हुआ। खुली खिड़की के समीप पलँग खींच कर विनोद नववधू के साथ लेट रहा। बाहर बाग़ीचा है। चटकीली चाँदनी रात है। ठंडी हवा मन्द मन्द खिड़की की राह से घर में आ रही है।

विनोद और दिन बड़ी उमंग के साथ प्रेमालाप करता था।

आज चुपचाप पड़ा है। शशिकला उसे चिन्तित सा देख कर धीरे से बोली—आप क्या सोच रहे हैं?

विनोद—अपने दुःख सुख की बात सोच रहा हूँ।

उस दुःख को सुनने के लिए चौदह वर्ष की बालिका व्याकुल हो उठी।

विनोद ने कहा—अगर मैं अपने दुःख की बात तुमसे कहूँगा तो मुझ पर अभी जो तुम्हारी भक्ति और श्रद्धा है वह न रहेगी।

शशिकला—यह आप क्या कहते हैं? ऐसी कौन स्त्री होगी जो अपने स्वामी की अभक्ति कर के सिर पर पाप चढ़ावेगी।

विनोद बड़े ध्यान से अपनी स्त्री के मुँह की ओर देखने लगा। उसके कपोल पर एक टेढ़ी लट पड़ी हुई अपूर्व शोभा दे रही थी। उसकी सीधी चितवन से उसके हृदय का सरल भाव उमड़ा पड़ता था।

विनोद ने कहा—"मैं बड़ा ठग हूँ। मैंने तुम सबों को ठग लिया है।" यह सुन कर नववधू चकित होकर विनोद को देखने लगी।

विनोद ने कहा—मैं मोतिहारी में न नौकरी करता हूँ, और न एक सौ बीस रुपये मासिक वेतन पाता हूँ।

शशिकला ने आश्चर्य-युक्त होकर पूछा—तो फिर आप कहाँ नौकरी करते हैं?

विनोद—कहीं नहीं। इलाहाबाद में रेल के आफ़िस में नौकरी करता था। वह भी छूट गई। जीवन-निर्वाह का जब कोई उपाय न देख पड़ा तब ब्याह करके कुछ रुपया जमा करने की बात

सोच कर यह सब प्रपञ्च रचकर मैं घर आया था। मुझे पूरा विश्वास था कि बड़ी तनख़्वाह की नौकरी की बात सुनकर मेरा ब्याह होने में विलम्ब न होगा। इसके बाद रुपया पैसा लेकर भाग जाने का विचार था।

अभी दस मिनट पहले बालिका ने बड़ी सरलता और उत्साह से कहा था कि कौन ऐसी स्त्री होगी जो अपने स्वामी की अभक्ति करेगी। किन्तु प्रातःकाल हो जाने पर जैसे रात का गाढ़ अन्धकार अदृश्य हो जाता है वैसे ही स्वामी का प्रकृत परिचय पाने से उसकी स्वामिभक्ति कहाँ अन्तर्हित हुई यह उसने न जाना। उसके हृदय में बड़ी चोट लगी। वह चुप हो रही।

दुलहिन के कन्धे पर हाथ रख कर विनोद ने कहा—मैंने ब्याह होने के पहले जो कहा था—"कलकत्ते जाकर गहना गढ़वाऊँगा।" सो इसी मतलब से कहा था। गहना बनवाने का बहाना कर के मैं अब तक कभी का भाग गया होता। तुम्हीं ने मेरे उस विचार पर पानी फेर दिया है।

शशिकला झट उसके हाथ को कन्धे पर से हटा कर उठ बैठी और बोली—मैंने क्या किया है?

"तुमने सोने की ज़ंजीर से मुझे बाँध लिया है। तुमको छोड़ कर मैं जा नहीं सकता और रह भी नहीं सकता। यहाँ रहने में अब कुशल नहीं है। रहने से दो एक दिन में सब बात खुल जायगी। तब मैं लोगों के सामने मुँह दिखाने योग्य न रहूँगा।"

क्रोध, घृणा और लज्जा से बालिका का कोमल हृदय भर गया। तो भी उसने साहस कर के पूछा—भाग कर कहाँ जाते?

"कोयले की खान का काम लेने जाता। अब भी वहीं जाऊँगा। वहाँ जाकर ठेकेदारी का काम करूँगा। काम बड़े परिश्रम का है, पर लाभ भी पूरा है।"

शशिकला एकाएक बोल उठी—मैं भी साथ चलूँगी !

विनोद भी पलँग पर बैठ गया; बड़े उल्लास से उसने कहा—तुम मेरे साथ चलोगी ? सच कहो ?

शशिकला—सच कहती हूँ, मैं ज़रूर चलूँगी। न चलूँगी तो क्या यहाँ बैठ कर लोगों के ताने सहूँगी। यह बात क्या छिपी रहेगी ? देश भर में फैल जायगी। जिसके मुँह में जो आवेगा वही कहेगा। मैं बैठी बैठी कैसे सुनूँगी ?

विनोद के चेहरे पर उदासी छा गई। वह गम्भीर चिन्ता में डूब गया। कुछ देर बाद उसने कहा—अच्छा, तो हम तुम दोनों एक साथ भाग चलेंगे।

शशिकला—कब ?

"परसों सवेरे मेरे कलकत्ते जाने की बात निश्चित है। सोने के पहले ही रुपया और बक्स आदि सब आवश्यकीय सामान इस कमरे में ला कर रख दूँगा। सब लोगों के सो जाने पर रात को एक या दो बजे हम तुम दोनों यहाँ से रफ़ूचक्कर होंगे। कोयले की खान के समीप एक छोटा सा किराये का मकान ले लेंगे। किसी को इसकी ख़बर न होने देंगे। सम्पूर्ण रूप से अज्ञातवास करेंगे।"

मुग्धा नववधू के मन में रोष और दुःख के साथ साथ एक और भाव कलह कर रहा था। हृदय के द्वार पर एक बात बार बार धक्का दे रही थी—"तुमने मेरे विचार पर पानी फेर दिया

है।" इस बात को वह जितनी ही सोचती थी उतनी ही उसे मीठी लगती थी। उसी के लिए स्वामी भाग नहीं सकता। उसे छोड़ कर वह जाना नहीं चाहता। सम्पूर्ण काँटों के जंगल में मानो यही एक मीठा फल उसे मिला। इसी को पाकर वह अपने को धन्य मानने लगी। इसी सुख की वारंवार मन में भावना करते करते वह सो रही।

उसके दूसरे दिन सवेरे विनोद की भाभी जब विनोद को जगाने आई, तब देखा वहाँ कोई नहीं है। चारपाई पर उसके स्वामी के नाम का यह पत्र मिला—

"माननीय भाई साहब,

मैं धर्मपत्नी के साथ पश्चिम को जाता हूँ। मैंने आप लोगों से सब बातें झूँठ कहीं थीं। मैं मोतिहारी में न नौकरी करता था और न १२०) महीना पाता था। मैं इलाहाबाद के रेलवे-आफ़िस में एक साधारण नौकरी करता था। नशे के वशीभूत होकर उस नौकरी से भी हाथ धोने पड़े। तब मैंने यह प्रपञ्च रच कर व्याह कर लेने की बात सोची। अनुसन्धान करने पर पीछे पकड़ा न जाऊँ, इसलिए डायरेक्टरी में खोज कर देखा, मेरे नाम का कोई आदमी कहीं अच्छी नौकरी करता है या नहीं। देखा कि मोतिहारी में विनोदविहारी मित्र नाम का एक शख़्स अच्छी नौकरी करता है। उसके वेतन की संख्या को अपनी बता कर घर आया और शादी की।

मेरे पास एक पैसा भी न था। मेरे कैशबक्स में सिर्फ़ टूटी फूटी काँच की चूड़ियाँ हैं। भाभी के लिए जो मैंने चूड़ी लाने की बात कही थी उसे केवल प्रतारणा मात्र समझिए। मेरे पास रुपये का नाम नहीं, सोने की चूड़ियाँ कैसे बनतीं? मेरे

ब्याह में जो हज़ार रुपया मिला है उस रुपये से भाभी को चूड़ियाँ बनवा दीजिएगा। ज़ेवर के हज़ार रुपये की पूँजी लेकर मैंने व्यवसाय करने की ठानी है। यदि किसी दिन अपने स्वभाव और अवस्था का संशोधन कर सका तो फिर आपसे भेंट करूँगा, नहीं तो यही हमारी आप से अन्तिम बिदाई है। प्रणाम।

सेवकाधम,

श्रीविनोदविहारी।"

पत्र पढ़ कर बड़ी बहू को दुःख हुआ; किन्तु सच्ची बात कह देने के कारण देवर पर वह नाराज़ न हुई। हाँ, नई बहू का इस प्रकार स्वामी के साथ भाग जाना उसे बहुत बुरा लगा। वह आप ही आप कहने लगी--कलिकाल! घोर कलिकाल है! कलिकाल की लड़की जो न करे वही थोड़ा।



धर्म का डंका

पहला परिच्छेद ।

रामधन उपाध्याय के एक अत्यन्त सुन्दरी बेटी थी। उसका नाम मनोरमा था। वह पन्द्रह वर्ष की उम्र में विधवा हो गई।

बहुत दिनों की बात है, उसके पिता ने विक्रमपुर से विष्णुदेव ठाकुर के पुत्र को, जो एक प्रतिष्ठित कुलीन ब्राह्मण थे, बुलाकर अपनी कन्या ब्याह दी थी। पर विधाता ने शीघ्र ही इस सम्बन्ध को तोड़ दिया।

मनोरमा दोनों वक्त अच्छे अच्छे पदार्थ खाने-पीने के सिवा सधवा के और किसी सुख की अधिकारिणी न रही। उसको इस नई जवानी में विधवा होते देख माता-पिता को अपार दुःख हुआ। वे अत्यन्त शोकाकुल हुए। उनको रोते-कलपते देख मनोरमा भी कई दिनों तक ख़ूब रोई, मुँह उदास किये रही। परन्तु वास्तव में उसे यह न मालूम था कि मेरे माँ-बाप क्यों इतने दुखी हैं या मैं किस दुःख के कारण रोती हूँ। यद्यपि वह पन्द्रह वर्ष की हो चुकी थी तो भी वह सांसारिक विषय से सर्वथा अपरिचित थी। उसकी बुद्धि और शील स्वभाव बिलकुल भोली-भाली बालिका का सा था। शरीरवृद्धि के साथ साथ मानसिक वृद्धि का विकास अब तक उसमें न हुआ था।

इसी शोकावसर पर एक और दुर्घटना हो गई। व्रजनन्दन उपाध्याय का सत्रह वर्ष का लड़का, अपने माता-पिता को शोक-समुद्र में निमग्न कर, सदा के लिए इस संसार से बिदा हो

गया। ब्रजनन्दन की स्त्री हेमवती ने अनेक बच्चों का मुँह देखा था। उन में एक एक कर क्रमशः पाँच बच्चों को वह खो चुकी थी। उसके बारह वर्ष के एक बेटे को एक संन्यासी चुरा कर ले गया था। यह आज की नहीं, दस वर्ष की बात है। अब सिर्फ़ एक लड़का बच रहा है, जो दो वर्ष का होगा। उसका जैसा खोटा भाग्य है उससे इस बच्चे के भी बचने की क्या आशा है?

शोक का पहला उफान जब कुछ ठंडा पड़ा तब ब्रजनन्दन ने अपनी स्त्री से परामर्श किया कि यह घर-द्वार लेकर क्या करेंगे। चलो, हम-तुम किसी तीर्थ में जा कर रहें। भगवान् का निरन्तर भजन करके मनुष्य-जीवन को सार्थक करें। घर-द्वार, बाग़-बगीचा जो कुछ है बेचे डालता हूँ। गाय-बैल किसी रिश्तेदार के इलाक़े पर भेजे देता हूँ। इस संसारी झमेले में उलझ कर क्यों अपनी ज़िन्दगी को बरबाद करें? अगर यह बच्चा जी जायगा तो फिर सब कुछ हो लेगा।

किन्तु संसार की माया बड़ी प्रबल शक्ति है। गृह-त्याग करना बड़ा कठिन है। यह सब सोच विचार करके भी काशी-वास का विचार मुलतवी रहा। दो महीने तक तीर्थ भ्रमण करने का परामर्श हुआ।

उन दोनों का यह परामर्श सुन कर मनोरमा ने घर आकर अपनी माँ से कहा—"माँ, मैं भी चाची के साथ जाऊँगी।" ब्रज-नन्दन रामधन के कुटुम्बी थे। दोनों घरानों में बड़ी प्रीति थी। मनोरमा के माता-पिता ने उसके जाने का निषेध किया। मनोरमा रोने लगी। उसने खाना-पीना छोड़ दिया। आख़िर उसकी माँ ने आँसू पोंछते पोंछते स्वामी (रामधन) को समझा बुझा कर मनोरमा को जाने देने का निश्चय किया।

तब काशी जाने के लिए नई नई रेल खुली थी। काशी जाने की बड़ी धूम थी। काशी जाने में पहले जहाँ एक महीने से अधिक समय लगता था वहाँ अब दो दिन का रास्ता हो गया। इन लोगों के काशी जाने की सलाह सुन कर उस महल्ले की वसन्ती नाम की कहारिन आकर बोली—माई जी, अगर मुझे भी अपने साथ ले चलो तो मैं तुम लोगों के चरणों की सेवा करूँगी, तुम लोगों का उच्छिष्ट प्रसाद पाऊँगी, और बाबा विश्वनाथ के मस्तक पर थोड़ा सा गङ्गाजल और बेलपत्र चढ़ाकर तुम लोगों के साथ घर लौट आऊँगी।

वसन्ती की प्रार्थना विफल नहीं हुई। तीर्थयात्रा का दिन फागुन सुदी १४ नियत हुआ।

मनोरमा को अपने जाने का विश्वास न था। इसी दुःख से वह खाना-पीना छोड़े बैठी थी। अब पिता की आज्ञा पाकर जाने के उत्साह से वह इतनी अधीर हो गई कि खाना, पीना, सोना सब भूल गई। वह इस प्रकार उमङ्ग भरे भाव से चलने बोलने लगी जैसे उस के ऊपर कोई संकट आया ही न हो। मानो वैधव्य रूपी वज्र उसके सिर पर नहीं गिरा, मानो वह अपने को वही मनोरमा समझती है जो ब्याह होने के पूर्व समझती थी। उसे ऐसी प्रसन्न देख कर उसकी माता को कुछ शान्ति मिली।

काशी-विश्वनाथ के दर्शन की अपेक्षा भी मगरा स्टेशन और रेलगाड़ी देखने के लिए मनोरमा अधिक व्यग्र थी। गाँव के जो लोग कलकत्ते गये हैं और जो बर्दवान गये हैं, उनके मुँह से रेलगाड़ी की प्रशंसा सुन कर जो लोग कहीं नहीं गये हैं वे, सात कोस दूर स्टेशन जाकर, सिर्फ़ रेलगाड़ी देख कर अपने नयनों को तृप्त कर आते हैं। मनोरमा उसी रेलगाड़ी पर चढ़ेगी, यह

सोच कर उसका हृदय मारे उल्लास के उछलने लगा। उल्लास के साथ साथ मन में कुछ भय भी हुआ। उस का शरीर काँपने लगा और रोम खड़े हो गये। रेल की घर्घराहट से वह डरेगी तो नहीं? न मालूम वह कैसा विचित्र शब्द होगा। बरसात के मौसम में बाढ़ आने के कारण जब गाँव से स्टेशन तक की भूमि जलमग्न हो गई थी तब एक दिन निःशब्द रात में मनोरमा ने अपनी माँ के पास सोते समय रेल का शब्द सुना था। घर्घराहट की सी बहुत धीमी आवाज़ उसके कानों में पड़ी थी। देखें फागुन सुदी १४ कब आती है।

तिथि गिनते गिनते आख़िर मनोरमा का वह मनोरम दिन भी आ गया। पहर रात रहते यात्रा करनी होगी।

वह यात्रा के नियमित मुहूर्त में दो बैल गाड़ियों की घर्घराहट द्वारा, सोये हुए ग्राम-वासियों के कर्णकुहरों में, विदाई का करुण-गीत गाते गाते चली गई।

दूसरा परिच्छेद।

नौ बजे मगरा स्टेशन पर बैलगाड़ी पहुँची। गाड़ी जब बाज़ार में पहुँची तब पास ही एक एन्जिन सीटी बजाता और भक भक धुआँ छोड़ता हुआ स्टेशन की ओर दौड़ा आया। यह देख कर मनोरमा को जो आनन्द हुआ वह कहा नहीं जा सकता। वह चाची के गले से लिपट कर बोली—"अरी चाची, वह क्या है?" वह इसी तरह कहती हुई आश्चर्य से व्याकुल हो गई।

एक बजे पश्चिम की गाड़ी आवेगी। एक दूकान में उतर

कर सभी ने भोजन-विश्राम किया। यथासमय गाड़ी आई। सब गाड़ी में जा बैठे। कुछ देर में सीटी देकर गाड़ी रवाना हुई। मनोरमा का सारा उत्साह और आनन्द जाता रहा। गाड़ी के अपूर्व शब्द से और डोलने से उसका सिर घूमने लगा। डर के मारे वह बाहर का दृश्य भी न देख सकी। आख़िर वह हेमवती की गोद में सिर रख कर सो गई। वह उसके सिर का पसीना पोंछ कर उसके मुँह पर आँचल से हवा करने लगी।

मनोरमा को ख़बर नहीं कि रात कैसे बीती। दूसरे दिन सवेरे उसे चेत हुआ। वह खिड़की के पास बैठ कर खेत, नदी, मैदान, पहाड़ आदि की शोभा देखने और दो वर्ष के बच्चे को गोद में बिठा कर दिखाने लगी। पहाड़ देख कर तो वह बिलकुल पगली बन गई। उसने कहा—

"कोई कोई पहाड़ हरे भरे पेड़ों से शोभायमान हैं और कोई कोई पहाड़ जला हुआ सा क्यों देख पड़ता है?"

चाची—बेटी, सब पहाड़ क्या एक से होते हैं?

मनोरमा—तो सभी आदमी क्यों एक से होते हैं?

चाची—"एक से? सभी एक से नहीं होते"—कह कर हेमवती ने मुँह फेर लिया। उसकी आँख से एक बूँद आँसू टपक पड़ा—क्यों? किसके लिए?

उसके दूसरे दिन प्रातःकाल इन लोगों को मुग़लसराय में गाड़ी से उतरना पड़ा। वहाँ काशी के कितने ही पंडे बैठे थे। उनमें से एक ने बही निकाली, और व्रजनन्दन के बाप-दादे का नाम बता कर उनका हाथ पकड़ लिया। उसने कहा—"बाबू आप मेरे यजमान हैं। बाबा विश्वनाथ आपका भला करें।" यह कह कर उसने उनके माथे पर भभूत लगा दी।

मुग़लसराय से दूसरी गाड़ी राजघाट जाती है। राजघाट स्टेशन गंगा के किनारे है। उस पार उच्च प्रासाद और मन्दिर सूर्य की तेज़ धूप में चमचमा रहे हैं। गंगा की फेनयुक्त तरङ्गें पापियों के त्रिविधताप-शमन के लिए ऊपर को उछल रही हैं। यह देख ट्रेन में जितने सनातनधर्मी थे सभी एक स्वर से, "जय गङ्गा माई की जय ! जय बाबा विश्वनाथ की जय" बोल कर चिल्लाने लगे।

ये लोग (ब्रजनन्दन प्रभृति) भी काशी की ओर टकटकी लगा, गले में कपड़ा लपेट, हाथ जोड़ कर भक्तिपूर्वक बाबा विश्वनाथ को प्रणाम करने लगे। हेमवती ने कहा—"हे बाबा विश्वनाथ, माँ अन्नपूर्णे, मनोरथ पूर्ण करो। कितने ही साधु-संन्यासी तुम्हारी सेवा में यहाँ दिन-रात लगे रहते हैं। कृपा करो जिसमें मैं अपने बच्चे को देख सकूँ।" यह कह कर वह बार बार बाबा विश्वनाथ की दुहाई देने लगी।

तीसरा परिच्छेद।

बाबा विश्वनाथ क्या विश्व भर के लोगों की पुकार पर ध्यान देते हैं ? उन आर्तजनों की संख्या बहुत अल्प होगी जिनकी प्रार्थना को देवाधिदेव महादेव सुनते हैं। हेमवती भी उन्हीं अल्पसंख्यक आर्तजनों में गिनी गई। बाबा विश्वनाथ ने उसकी पुकार सुनी। दस वर्ष से खोये हुए पुत्र को देख कर वह कृतार्थ हुई।

एक दिन वे लोग कालभैरव की पूजा करने जाते थे। मार्ग में साधनानन्द स्वामी का मठ था। पंडा ने हेमवती से कहा—

"माई ! साधनानन्द स्वामी जी का दर्शन न करोगी ? ये बड़े भारी महात्मा हैं ।" सभी ने साधनानन्द स्वामी जी के दर्शन किये। स्वामी जी उस समय वेदान्त की व्याख्या कर रहे थे । गेरुवा वसनधारी कई एक नवीन संन्यासी ध्यान पूर्वक उनका व्याख्यान सुन रहे थे । जहाँ जिसे शङ्का होती थी वहाँ पर वह बीच बीच में उनसे प्रश्न भी करता जाता था । इसी शिष्य-मण्डली में दैव-संयोग से हेमवती ने अपने शशिभूषण को पहँचाना।

हेमवती अपने पुत्र का अद्भुत परिवर्तन देख चकित हो रही । जो बारह वर्ष का एक बालक था , वह इस समय खूब-सूरत लम्बा जवान हो गया है । तपश्चर्या के फल से हो या जितेन्द्रियता के कारण से हो अथवा अन्य किसी कारण से हो, उसके शरीर की कान्ति तपाये हुए सोने की तरह दमक रही थी । सिर पर जटा-जूट और ललाट में भस्म का त्रिपुण्ड्र शोभित था । उसे देख कर उसके माता-पिता को मानो आकाश का चन्द्र हाथ में मिल गया । दोनों के हृदय में मानो आनन्द का समुद्र उमड़ आया । किन्तु वेटा किसी तरह संन्यास छोड़ने को राज़ी न हुआ । यहाँ तक कि उसने अपना स्थान छोड़ कर माँ-बाप के साथ केदारघाट के स्थान में रहना भी पसन्द न किया । किन्तु वह प्रतिदिन माँ-बाप के दर्शन के लिए उनके स्थान पर ज़रूर आता था और दिन भर उन लोगों के साथ रह कर साँझ को अपने मठ में चला जाता था ।

सात आठ दिन इसी प्रकार बीते । इसके बाद एक घटना हुई । कुछ नई नहीं, वह घटना इस उपन्यास-निर्म्माण के पहले भी कई बार हो चुकी है, अथवा यों कहिए कि जब से इस सृष्टि की रचना हुई है, जब से स्त्री-पुरुष उत्पन्न हुए हैं, जब से उनके हृदय और नयन निर्मित हुए हैं, उसी दिन से होती

आती है। वह नवयुवक संन्यासी धीरे धीरे शुद्धभाव से मनोरमा को कुछ अधिक चाहने लगा। पर इसे वह आप भी नहीं जानता, और लोगों को भी इसकी ख़बर नहीं। मनोरमा को बार बार देख कर भी उसे तृप्ति न होती थी। मनोरमा के हृदय में भी उसके प्रति एक अपूर्व भाव का उदय हुआ। उसको देख उसके मन में विशेष सुख का अनुभव होता था।

एक दिन यह नयन और हृदय के सुखोद्गार वाक्य-रूप में परिणत होकर दोनों के मुँह से निकल पड़े। उस दिन सवेरे शशिभूषण ने आकर देखा, मनोरमा दूध औटा रही है। छोटा बच्चा सो रहा है। घर में और कोई नहीं है। शशिभूषण के माता-पिता गङ्गास्नान करने गये हैं। वसन्ती बाज़ार गई है।

शशिभूषण ने पूछा—तुम आज गङ्गा नहाने नहीं गईं?

मनोरमा—मेरी तबीअत अच्छी नहीं।

शशिभूषण ने घबरा कर कहा—क्या हुआ है? नाड़ी देखूँ।

मनोरमा ने हाथ बढ़ा दिया और हँस कर पूछा—क्या तुम वैद्य हो?

कुछ उत्तर न देकर शशिभूषण नाड़ी देखने लगा। इसके बाद उसके माथे पर हाथ रख कर कहा—ओफ़! ज्वर चढ़ आया है।

मनोरमा ने हँस कर कहा—वाह! तुम तो बड़े भारी वैद्य निकले। मुझे ज्वर नहीं चढ़ा है।

शशि०—चढ़ा क्यों नहीं है? तुम्हारा सिर बहुत गर्म है।

"आग के नज़दीक बैठने से हो गया होगा।"

"अच्छा, आग के समीप से ज़रा हट कर बैठो तो अच्छी

तरह हाथ देखूँ।" यह कह कर शशिभूषण ने मनोरमा का हाथ पकड़ कर उसे खिसकाया और उसका कोमल पाणिपल्लव अपने बायें हाथ से सतृष्ण भाव से दबा कर वह दहने हाथ की उँगलियों से नाड़ी की परीक्षा करने लगा। नाड़ी-परीक्षा के समय न मालूम मनोरमा की छाती क्यों धड़क रही थी। उसने "छोड़ दो" कहने के लिए कई बार चेष्टा की पर वह कुछ बोल न सकी। केवल उसका हाथ काँप रहा था। शशिभूषण के भी हाथ की यही दशा थी। उसने कहा—"मन्नो!"

"मन्नो" कहने का यही पहला शुभावसर है। इसके पूर्व वह बराबर मनोरमा कहता था।

मनोरमा—क्यों?

बड़े आश्चर्य की बात है! धीरे से "क्यों" कहने की क्या आवश्यकता थी? इसके पूर्व मनोरमा का ऐसा क्षीण स्वर तो कभी सुनाई न दिया था। जान पड़ता है, हृत्पिण्ड में तीव्र गति से रक्त संचालित होने पर स्वर कुछ शिथिल सा हो जाता है।

कुछ देर तक दोनों चुप रहे। कोई कुछ न बोला।

इसी समय वसन्ती बाज़ार से लौट कर दर्वाज़े पर खड़ी होकर बोली—अरे ये अभी तक नहीं लौटे! दर्शन करके क्या लौटेंगे नहीं? तो फिर मैं किसके साथ जाऊँगी?

उसका स्वर इन दोनों के कान में पड़ा। शशिभूषण मनोरमा का हाथ छोड़ बाहर आया। उसने वसन्ती से पूछा—तुम कहाँ गई थीं?

वसन्ती—कौन सँझले बाबू! परनाम, परनाम। बाज़ार गई थी एक पैसे की भाजी लाने, देखिए तो कितनी सी दी है।

अपने देश में इसे कोई हाथ से भी नहीं छूता। यही यहाँ अमृत हो रही है। यह बात मैंने कुँजड़िन से कही तो वह बक बक करने लगी। मैं अभी उसे ख़ूब गालियाँ देकर चली आती हूँ।

उसकी बात पर ध्यान न देकर शशिभूषण धीरे धीरे चला गया।

चौथा परिच्छेद।

उस दिन शशिभूषण लौट कर फिर न आया। वह मठ में जाकर अपनी कोठरी का द्वार बन्द करके चुपचाप बिछौने पर लेट रहा। उसके मन में ऐसा होने लगा जैसे उसने कुछ नशा खाया हो। उसका सिर घूम रहा था।

बड़ी देर में जब उसका दिमाग़ कुछ ठंडा हुआ, जब उसकी बुद्धि कुछ ठिकाने आई, तब उसके मन में अनुताप होने लगा। "दारवीमपि न स्पृशेत्" गुरु का यह उपदेश-वाक्य बार बार उसके हृदय पर चोट पहुँचाने लगा। वह नवयुवक संन्यासी अपने चित्त-चाञ्चल्य के विषय से अनभिज्ञ न था। जब कभी उसके मन में इस प्रकार का विकार उत्पन्न होता था तब वह उसे मानसिक पाप समझ कर इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा चित्त को शान्त करता था और शास्त्रीय वाक्यों का मनन कर मन के वेग को रोकता था। चञ्चलता रक्त-मांस का अनिवार्य धर्म है। इसे कोई निर्मूल नहीं कर सकता। यह ऐसी प्रबल शक्ति है कि अपना प्रभाव दिखाये बिना स्थिर नहीं रह सकती। तथापि

उस तीव्र मनोवेग की यन्त्रणा सह लेनी चाहिए,

रहना चाहिए। यही धार्मिक सज्जनों का कर्त्तव्य है। किन्तु आज सवेरे शशिभूषण का यह ज्ञान कहाँ गया? संयम व्रत किधर लोप हुआ? आज वह क्या कर बैठा! इसके पहले इच्छा होने पर भी उसने, भूल कर भी, किसी स्त्री का स्पर्श न किया था। आज क्या हुआ।

शशिभूषण बार बार अपने को धिक्कार देने लगा; अपने नियम भङ्ग पर पछताने लगा—हाय! यही मेरा संन्यास-धर्म है। मेरा चिर-संचित ब्रह्मचर्य, संयम, नियम, शास्त्रीय ज्ञान, तेज, ये सब के सब क्षण भर के भीतर मिट्टी में मिल गये। हाय! आज मैंने क्यों एक स्त्री का हाथ पकड़ा?

इस प्रकार, अपने को लाञ्छित करते, शशिभूषण को पुराण की कथा स्मरण हो आई—देवता लोग अप्सरा को भेज कर मुनिजनों की तपस्या भङ्ग करने की चेष्टा करते थे; उनकी जितेन्द्रियता और मानसिक शक्ति की परीक्षा लेते थे। वह कैसी कठिन परीक्षा होती थी। उसके आगे तो यह कुछ भी नहीं है। उस परीक्षा से इसकी तुलना नहीं हो सकती। पर वे लोग भी कई बार इस कठिन परीक्षा में फ़ेल हो गये हैं।

फिर उसके मन में यह भावना हुई—मुनिगण हज़ारों वर्ष तप कर के इष्ट-साधन करते थे। मैं तो कल का छोकड़ा हूँ। इस दस वर्ष में जो कुछ किया है वह तपस्या में नहीं गिना जा सकता। इतने दिन में कुछ व्याकरण पढ़ा है, कुछ काव्य पढ़ा है, और कुछ न्याय के सूत्र कण्ठ किये हैं। कुछ वेद-वेदान्त की बातें भी सीखी हैं।

क्रम क्रम से शशिभूषण के हृदय में थोड़ा थोड़ा सान्त्वना का विकास होने लगा। उसने मन में सोचा—बड़े बड़े तपस्वी

और मुनि भी तो जाँच की कसौटी पर पक्के नहीं उतरे, अधिकांश तो पराजित ही हुए हैं।

पुराण की और भी कितनी ही बातें याद हो आईं। उससे मन को समाधान करने का मार्ग और भी परिष्कृत होने लगा।

फिर उसने सोचा, मैं किस भ्रम में पड़ा हूँ। मैं तो वास्तविक संन्यासी नहीं हूँ। विद्या पढ़ने के लिए इतने दिन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन मात्र किया है। मैं मन से विरक्त हो कर तो प्रव्रजित हुआ ही नहीं।

धीरे धीरे उसे माता-पिता की करुणोक्ति, जो कई दिनों से वे दोनों सुना रहे थे, स्मरण होने लगी—बेटा, मेरे और कोई नहीं, घर चलो, मेरे अँधेरे घर को उजेला करो। मेरी आँखों के तारे तुम्हीं हो, तुम ब्याह करो, ब्याह करो, उजड़े घर को बसाओ।

माता-पिता का यह मिष्ट भाषण उसके हृदयपट पर अक्षरशः अङ्कित होने लगा। फिर वह सोचने लगा—मान लो अगर मैं ब्याह ही करूँ, अगर मैं संसारी ही होजाऊँ तो क्या होगा? शिव! शिव! ऐसा भी कभी हो सकता है? गुरु साधनानन्द स्वामी क्या कहेंगे? सहपाठी लोग—बालमुकुन्द, करुणानन्द, माधव उपाध्याय, सीतापति और रामचन्द्र शास्त्री प्रभृति क्या कहेंगे?

इस मत का फिर उसने तुरन्त खण्डन किया। कौन क्या कहेगा या न कहेगा—क्या उसी को लेकर मैं अपना कर्तव्य स्थिर करूँगा? क्या कहेंगे? जो जिसके जी में आवे कहे, हँसे, निन्दा करे; उससे मेरा कहाँ तक क्या नुकसान होगा?

अब शशिभूषण अपने भविष्य जीवन की कल्पना करने लगा।

सिर पर वह जटाजूट नहीं है, गेरुआ वस्त्र भी नहीं है। देश आ कर ब्याह किया है। घर में नववधू है। कैसी नववधू! वही मनोरमा। छिः छिः। मनोरमा नहीं, दूसरी ही कोई। दूसरी स्त्री की काल्पनिक मूर्त्ति उसे भयङ्कर सी प्रतीत होने लगी। उसने कितना ही मन को समझाया, पर मन राज़ी न हुआ। उसका ध्यान एकमात्र मनोरमा की ओर लगा है। लड़के के हाथ से कोई खिलौना छीन कर छिपा रक्खे, और दूसरे सैकड़ों तरह के खिलौने उसके हाथ में दे तो वह उन्हें दूर फेंक देगा। इसी तरह शशिभूषण का प्रणयरूपी बालक भी मनोरमा के अतिरिक्त अन्य किसी देवी, मानवी या किन्नरी को पसन्द नहीं कर सका।

एकाएक शशिभूषण को एक वर्ष की पुरानी घटना याद हो आई। एक वर्ष पूर्व विद्यासागर महाशय का एक शिष्य विधवा-विवाह पर शास्त्रार्थ करने काशी आया था। उस समय काशी के पण्डित-समाज में बड़ी खलबली मच गई थी। लोगों ने उस पण्डित को बहुत बनाया था, बहुत कुछ अवाच्य कह कर उसके हृदय को दुखाया था। एक व्यक्ति ने तो यह प्रस्ताव किया था कि इसकी चोटी काट कर उसके पश्चात् भाग में लम्बी सी पूँछ लटका दी जाय।

शशिभूषण उसी पण्डित के युक्ति-युक्त तर्क की मन ही मन आलोचना करने लगा। आलमारी के किवाड़ खोल कर धर्म-शास्त्र के कतिपय ग्रन्थ यथा मनुसंहिता, याज्ञवल्क्य, पाराशर-स्मृति आदि के पत्र उलट कर अपने पक्ष के पोषक वचन खोजने लगा। स्वार्थपरता के वशीभूत हो उसने कतिपय श्लोकों का अनुकूल अर्थ पाया।

विधवा-विवाह को एक आलोच्य विषय समझ कर बङ्गाल

में कैसा भारी आन्दोलन हुआ था, यह शशिभूषण को मालूम न था, क्योंकि वह उस समय काशी में था। काशी के विद्वानों ने विधवा-विवाह का अवश्य खण्डन किया था किन्तु दो एक व्यक्तियों ने विरोध का परिहार भी किया था। वङ्गदेश के उद्योग से विधवा-विवाह का क़ानून पास हो गया, यह सुन कर काशी के पण्डितों ने वङ्गालीमात्र को किरिस्तान कह कर निन्दा की थी। इसलिए शशिभूषण ने निश्चय किया कि अन्यदेशियों को भले ही बुरा लगे किन्तु वङ्गालियों की दृष्टि में विधवा-विवाह निन्द्य नहीं है और न शास्त्रविरुद्ध ही है।

साँझ होने के पूर्व शशिभूषण ने निश्चय किया कि मैं मनोरमा से ब्याह करूँगा। मैं शास्त्रीय वचनों को दिखा कर अपने तथा मनोरमा के माँ-बाप को भी इस नये मत पर ले आऊँगा।

शशिभूषण जब कोठरी से बाहर आया तब विश्वनाथ के मन्दिर में आरती के घंटे घड़ियाल बज रहे थे। झुण्ड के झुण्ड लोग दर्शन करने के लिए मन्दिर की ओर दौड़े जा रहे थे। कैसा सुन्दर दृश्य है। हज़ारों आदमी मधुर स्वर से सन्ध्या-आरती के गीत बड़ी उमङ्ग से गा रहे हैं।

पाँचवाँ परिच्छेद।

आरती होने के बाद शशिभूषण केदारघाट पर आया। देखा, घर में मनोरमा के सिवा और कोई नहीं है। शशिभूषण को देख कर मनोरमा मारे खुशी के चञ्चल हो उठी। शशिभूषण ने पूछा—मन्नो, और लोग कहाँ गये?

मनो०—सब लोग आरती देखने गये हैं। अभी तक नहीं लौटे।

शशि०—मैं भी तो आरती देखने गया था। लोगों की बहुत भीड़ थी। जान पड़ता है, इसी से उनसे भेंट नहीं हुई। शायद वे अब अन्नपूर्णा की आरती देख कर लौटेंगे। कहो मन्नो, तबीअत कैसी है ?

मनो०—अच्छी है, आज तुम दिन में क्यों न आये ?

शशि०—दिन को न आ सका, इसी से अभी आया हूँ। अब बराबर यहीं रहूँगा।

मनो०—सच कहो, तो अब मठ में न जाओगे ?

शशि०—नहीं, मैंने मठ को छोड़ दिया। मैं फिर संसारी होऊँगा। माँ-बाप के साथ रहूँगा। उनकी आज्ञा का पालन करूँगा। यदि उनका आग्रह देखूँगा तो व्याह भी कर लूँगा।

मनो०—अच्छी बात है, ऐसा करो तो चाची को कितना हर्ष होगा—यह मैं नहीं कह सकती। उसने तुम्हारे लिए देवताओं को कितना मनाया है, कितनी ही मन्नतें की हैं।

इसके अनन्तर उन दोनों में जो बातें हुईं उन्हें प्रेमालाप के सिवा और क्या कह सकते हैं। जो बात परस्पर दोनों की आँखों ही आँखों से कई बार हो गई थी वही अब स्पष्ट रूप से मुँह पर होने लगी। शशिभूषण ने कहा—विधवा-विवाह अब शास्त्रसिद्ध हो चुका है। मैं उस नई प्रथा के अनुसार तुमसे व्याह करूँगा। किन्तु इसके लिए पहले माँ बाप को राज़ी कर लेना ज़रूरी है। सो मैं उन्हें राज़ी कर लूँगा।

भोली भाली बालिका सांसारिक व्यवहार कुछ न जानती

थी। इस कथन को सत्य मान कर उसने उस पर विश्वास कर लिया। विधवा-विवाह के प्रचलित होने की बात वह पहले कई दफ़े सुन चुकी थी। अब उसने मन ही मन शशिभूषण को पति-भाव से ग्रहण कर लिया।

शशि०—तो आज रात ही को माँ से कहता हूँ।

मनो०—नहीं। देश जाकर कहना।

शशिभूषण ने मनोरमा का हाथ पकड़ कर पूछा—क्यों मन्नो?

मनोरमा—यह प्रस्ताव यहाँ करने से मैं बड़े संकोच में पड़ूँगी। तुमसे बातचीत न कर सकूँगी। जब तक हम लोग एक जगह हैं तब तक तुम इस बात की चर्चा न चलाना। मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ।

शशि०—अच्छा तो देश जाने ही पर कहूँगा।

शशिभूषण के माता-पिता दर्शन करके स्थान पर आ गये। शशि की माँ ने जब सुना कि शशि अब मठ में न जायगा, यहीं हम लोगों के साथ रहेगा तब मानो इन्द्र की अमरावती उसके हाथ आ गई। बड़ी उमङ्ग से वह अपने पति के साथ बड़ी देर तक देवताओं के मन्दिरों में दर्शन करने जाने लगी। अवसर पाकर ये दोनों युवक-युवती भी निःशङ्क होकर प्रेमालाप का सुख लूटने लगे।

शशि के माता-पिता बड़े सीधे-सादे थे। उन्हें इसका सन्देह भी न था कि शशिभूषण और मनोरमा परस्पर ब्याह करने की बात मन में लावेंगे। तथापि उन दोनों का कर्तव्य था कि इन दोनों युवक-युवतियों को एकान्त सम्मिलन का अवसर न देते।

विशेष कर उन दोनों की इस असावधानी या भूल के दो कारण थे। एक सन्तान-स्नेह, दूसरा शशि की सच्चरित्रता और धार्मिकता पर दृढ़ विश्वास।

छठा परिच्छेद।

अब देश लौटने का विचार होने लगा। वैशाख सुदी १५ को यात्रा का दिन निश्चित हुआ। शशि की माँ जब तब मनोरमा से सलाह करती कि किस लड़की के साथ शशि के व्याह की बात स्थिर की जाय। एक दिन मनोरमा एकान्त में शशि के पास बैठी बातें कर रही थी। प्रसङ्ग आ जाने पर उसने कहा— "जब तुम माँ से कहोगे कि तुम मुझीसे व्याह करना चाहते हो, और शास्त्रीय प्रमाण उसे दिखाओगे और सिद्ध कर दोगे कि परम्परा से यह सम्बन्ध होता आया है, तो वह बेहद खुश होगी।" शशि के माता-पिता को मनोरमा अपने सास-ससुर समझने लगी। यह सोच कर उसे बड़ा कुतूहल होता था कि ये लोग अभी नहीं जानते हैं कि कुछ दिन में मैं इनकी पतोहू हूँगी।

सभी सकुशल देश लौट आये। शशिभूषण को देख कर गाँव वालों को बड़ा अचरज हुआ। सब लोग व्रजनन्दन के भाग्य को सराहने लगे। शशिभूषण की बोली बहुत बदल गई है। वह बँगला और हिन्दी मिली हुई खिचड़ी भाषा बोलता है। पर उसका संस्कृत में पूर्ण पाण्डित्य देख कर सब लोग प्रसन्न हुए।

हेमवती स्वदेश आते ही शशिभूषण के ब्याह की विधि बैठाने लगी। उसके लिए कन्या की खोज होने लगी। शशिभूषण ने एक दिन माँ से कहा—"माँ, मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ" यह कह कर उसने सब बातें कह डालीं।

सुन कर उसकी माँ मानो पहाड़ पर से गिर पड़ी। वह सिर पर हाथ रख कर अवाक् हो रही।

शशिभूषण ने कहा—माँ, तुम इतनी उदास क्यों हो गईं ? विधवा-विवाह जो प्रचलित हुआ है—क़ानून पास हुआ है—यह क्या तुमने नहीं सुना ?

माँ ने कहा—आग लगे ऐसे क़ानून में ! अँगरेज़ लोग विधर्मी हैं, वे जो करें सो थोड़ा। जब उनमें यह रिवाज जारी है तब वे क्यों न आईन बनावेंगे ? उन्हें हम लोगों के जाति-धर्म की व्यवस्था क्या मालूम ?

शशी—अँगरेज़ विधर्मी हैं—पर विद्यासागर महाशय तो बड़े विज्ञ, बड़े आस्तिक और पक्के सनातनधर्मी हैं। उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया है—

उसकी माँ ने विद्यासागर के प्रति ऐसा कटुभाषण किया जिसे लिखने में लेखनी सर्वथा असमर्थ है।

शशिभूषण हताश हो गया। उसने सोचा, माँ पढ़ी-लिखी नहीं है। मेरे पिता शास्त्रज्ञ हैं। वे समझेंगे।

यह अयोग्य प्रस्ताव सुन कर उसके पिता कानों में उँगली लगा कर बोले—छिः छिः, इतने दिन काशी में रह कर विद्या पढ़ने का यही फल हुआ ! हरे हरे ! घोर कलिकाल आ गया !

शशिभूषण ने शास्त्रीय प्रमाण देकर पिता को समझाना

चाहा। पिता ने कहा—इस विषय की चर्चा करने में भी पाप है।

शशि ने विद्यासागर महाशय का मत सुनाया। पिता बोले—विद्यासागर का नाम क्या लेते हो? वे तो किरिस्तानी चाल पसन्द करते हैं और किरिस्तान का छुआ खाते हैं। यह मैंने अपने कानों सुना है।*

इसकी अपेक्षा प्रबलतर विरुद्ध युक्ति और क्या हो सकती है? शशी ने देखा, पिता भी अस्वीकार करते हैं तब वह हताश हो अपने सोने के कमरे का द्वार बन्द कर चारपाई पर लेट रहा।

* * * * *

इसी समय उस महल्ले के एक घर में शशिभूषण की चर्चा हो रही थी। बसन्ती झुनिया बहन के साथ काशी की गप्पें मार रही थी।

झुनिया ने कहा—अहा! बामनी का नसीब अच्छा है। नहीं तो जिस दिन उसका जवान लड़का दुनिया से चल बसा उस दिन हम लोगों ने समझा कि वह बेचारी पुत्रशोक से पागल हो

---

*एक बार किसी स्टेशन पर विद्यासागर से एक पण्डित की भेंट हुई। पण्डित न जानता था कि यही विद्यासागर हैं। उसने कल्पना करके कहा था—"विद्यासागर हैट-कोट पहनते हैं, होटल में खाते हैं। यह मैंने अपनी आंखों से देखा है।" विद्यासागर हंस कर बोले—"तब तो आप उन्हें पहचानते होंगे?" पण्डित ने कहा—"ब.खूबी पहचानता हूं। कई बार उन्हें देखा है।"

यह नोट विद्यासागर के जीवन-चरित्र से उद्धृत किया गया है।

—ग्रन्थकर्त्ता।

जायगी। कहो बहन! यह धरम का ही फल है—धरम करने काशी गई, इसी से खोया हुआ लड़का मिला न? लड़का क्या ही खूबसूरत और हँसमुख है। कोई राजा-महाराजा का सा बेटा मालूम होता है। धरम का शरीर है न, भगवान् उसका भला करें।

बसन्ती ने मुँह बनाकर कहा—धरम की बात कहने का क्या काम। कलियुग में न धरम है, न विचार है। सब ढकोसला है।

झुनिया ने बड़े चाव से पूछा—क्यों बहन! यह क्या कहा?

बसन्ती—कहूँ क्या मैं अपना सिर!

इसके बाद दोनों में चुपके ही चुपके बहुत बातें हुईं। झुनिया जो असल में जाति की जुलाहिन थी, बसन्ती की बात सुन कर क्षुब्ध हो रही। फिर बोली—बहन, मैं ये बातें क्या जानूँ? किसके पेट में क्या है, यह कोई कैसे जाने?

बसन्ती ने गिड़गिड़ा कर कहा—बहन! देखना, यह किसी से कहना मत, हम लोगों को किसी की बात में पड़ने की ज़रूरत क्या? जो आग में हाथ डालेगा वह आप ही जलेगा।

झुनिया—हाँ बहन! ज़रूरत क्या? ये बातें न किसी से कहने की, न सुनने की। मैं क्यों किसी से कुछ कहूँगी? धर्म का ढकोसला आप ही आप प्रकट हो जायगा।

एक सप्ताह के भीतर बस्ती में यह बात फैल गई।

रामधन उपाध्याय आँखें लाल किये ब्रजनन्दन के दालान में आये। द्वार बन्द करके दोनों में देर तक सलाह होती रही। फिर रामधन अपने घर गये और ब्रजनन्दन ने शशिभूषण को बुला कर एक कोठरी में इसलिए बन्द कर रक्खा कि वह कहीं भाग न जाय।

इसके अनन्तर रामधन ने लोगों से कहा कि मेरी बेटी मनोरमा को हृदयशूल की बीमारी हुई है, इसलिए उसको ले कर हम कलकत्ते जायँगे। रामधन अपने घर वालों के साथ कलकत्ते को गये। कुछ दिनों बाद गाँव वालों ने सुना कि शशिभूषण फिर भाग कर काशी के मठ में चला गया है। इसके कुछ ही दिन बाद फिर लोगों ने सुना, मनोरमा मर गई।

कलकत्ते में विद्यासागर महाशय ने स्वयं उपस्थित रह कर कन्या और वर दोनों का मनोरथ पूर्ण कर आशीर्वाद दिया। शशिभूषण को सिफ़ारिशी चिट्ठी दे कर "—" कालिज में साहित्य का अध्यापकीय पद दिला दिया।

अब शशिभूषण पेन्शन पा कर काशीवास कर रहा है। उसके कई लड़के-बाले हैं। कभी कभी वह अपनी पकी दाढ़ी पर हाथ फेर कर मनोरमा से कहता है—कहो ब्राह्मणी, तुम्हारा हृदय-शूल कैसा है?



प्रेम-परिणाम।

पहला परिच्छेद।

हिन्दू-बाल-विद्यालय के द्वितीय वर्ग का विद्यार्थी मोहनलाल पड़ोस की एक बालिका कुसुमलता के प्रेम में पड़ कर हृदय को हाथ से खो चुका है।

किसी कवि ने कहा है—"कौन ऐसा प्रेमी है जो प्रेमिका को देख कर उसे प्यार न करे?" मोहनलाल न प्रेमी था, न उसकी कोई प्रेमिका थी। उसने बाल्यकाल से ही कुसुम के साथ कितने ही खेल खेले हैं, पर कुसुम की भोली सूरत देख कभी उसका चित्त चञ्चल नहीं हुआ। कभी उसने प्रेम की दृष्टि से उसे नहीं देखा। कौन जाने, शायद वह मन ही मन उसे प्यार करता रहा हो। किन्तु प्यार क्या वस्तु है, इसका ज्ञान उसे न था।

मोहन आज आप ही आप गिरफ़्तार हो गया। प्रीति की बेड़ी में उसने आप ही अपना पाँव डाल दिया। एक दिन वह कुसुम के बाग़ीचे में अमरूद तोड़ने के लिए पेड़ पर चढ़ा था। कुसुम अपनी माँ के साथ गङ्गा-स्नान करके घर लौटी जाती थी। भीगी साड़ी पहने थी। काले सटकारे लम्बे केश घुटनों तक पीठ पर लटक रहे थे, जिनके अग्र भाग से बूँद बूँद पानी टपक रहा था। उसका प्रक्षालित मुखमण्डल प्रातःकाल की सुनहरी किरण में स्वर्णप्रतिमा की भाँति चमचमा रहा था। उसे देख कर मोहन का मन हाथ से जाता रहा।

कुसुम के चले जाने पर मोहन ने अपने अन्तःकरण में एक अपूर्व प्रकाश की छटा देखी। वह प्रकाश पहिले तो उसके

हृदय में नाचने लगा। फिर वह हृदय को अतिक्रम करके उसके दोनों नेत्रों में उद्दीप्त हुआ और पल भर में सारे विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो गया। मोहन जिधर दृष्टि फेरता उधर वही प्रकाश नज़र आता था। उस नूतन प्रकाश में मोहन ने आकाश की ओर देखा। आकाश ऐसा स्वच्छ देख पड़ा जैसा इसके पूर्व कभी न देख पड़ा था। फिर उसने भूमि की ओर देखा। भूमि की ऐसी अपूर्व शोभा उसने कभी न देखी थी। सभी वस्तुओं ने उसकी दृष्टि में आज अपूर्व रूप धारण किया है। सरोवर में कमल खिले हैं। उन पर भ्रमर लट्टू हो गुञ्जार कर रहे हैं। नवमुकुलित रसाल-वृक्ष पर बैठ कर कोयल पञ्चम स्वर में कुहू कुहू की मीठी बोली बोल रही है। क्या मोहन ने इसके पूर्व ऐसा मनोहर दृश्य न देखा था? नहीं, आज उसने जो कुछ देखा, जो कुछ सुना, सब नया ही नया है। उस नवीन प्रकाश में बार बार की देखी हुई वस्तु भी आज नई दीखने लगी। मोहन लम्बी साँस ले पेड़ से उतर आया।

उसके अँगोछे में दस-पन्द्रह अमरूद थे। उनमें से दो-चार अच्छे अच्छे चुन लिये और जो बचे उन्हें उसी बाग़ में फेंक दिया। मधुर फलों का माधुर्य अब उसे फीका लगने लगा।

उस दिन रविवार के कारण तातील थी। स्कूल जाना न था। मोहन चोट खाये की तरह धीरे धीरे पैर रखता हुआ पढ़ने की कोठरी में गया। पढ़ने के लिए? नहीं, जलने के लिए, चिन्ताग्नि में अपने हृदय की आहुति देने के लिए। वह शतरंजी बिछा कर और सिर के नीचे एक मोटी सी डिक्शनरी रख कर चुपचाप लेट रहा।

मोहन जब तेरह वर्ष का था तभी से उपन्यास पढ़ने लगा था। बँगला के अनेक उपन्यास उसने देखे हैं। "मृणालिनी",

"चन्द्रशेखर", "उद्भ्रान्त-प्रेम" से आरम्भ करके "लीलावती", "प्रणयिनी", "सोहागिनी", "बहू रानी" तक वह सब पढ़ चुका है। यह उसका पन्द्रहवाँ साल है।

मोहन आँखें मूँद कर आकाश-पाताल की बातें सोचने लगा। दुःख से उसका हृदय भर गया। मानो वह कठिन दुःख उसके हृदय से छलक कर अन्थ के रूप में निकल रहा है। वह मन में कहने लगा—हाय! क्यों उसकी ओर देखा? देखते ही मर क्यों न गया? मेरे मन में जो यह बिना आग के आग धधक उठी है सो न मालूम कब बुझेगी?

मोहन एकाग्र मन से इन्हीं बातों को सोच रहा था। उसी समय उसके सहपाठी मित्र विपिनकुमार और कलाधर उसकी कोठरी में आये। विपिन आते ही बिना कुछ सोचे-विचारे मोहन की चोटी पकड़ कर बोला—"क्यों रे अहमक़! तू सोया है? आज मार्बल (अंटा) खेलने न चलेगा?" मोहन ने उठ कर एकाएक विपिन के गाल पर एक चपत लगा दी। विपिन भौंचक-सा खड़ा हो रहा।

कलाधर ने मोहन से कहा—तुझे आज क्या हुआ है जो मारपीट करना चाहता है? यह कह कर वह आस्तीन को ऊपर चढ़ाने लगा।

विपिन ने कलाधर से कहा—अरे! यह तुम क्या कर रहे हो? फिर मोहन की ओर देख कर बोला—भैया मोहन, क्या तुम्हारे सिर की चोटी छूने से तुम्हें कष्ट हुआ? क्या तुम नाराज़ हो गये?

मोहन—कोई सोया ही रहे तो इससे तुझको क्या? तूने क्या समझ कर मेरी चोटी खींची?

कलाधर ने मोहन की चोटी खींच कर कहा—"अहा, इस तरह खींचने से मालूम होता है तुझे ज़रूर कष्ट हुआ होगा।" कलाधर ने सोचा था कि ऐसा करने से मोहन मुझे भी थप्पड़ मारेगा। बस, वह फ़ौरन उसके साथ घूसेबाज़ी करेगा। किन्तु कलाधर का यह मनोरथ पूरा न हुआ, क्योंकि मोहन का क्रोध पहले ही विपिन के ऊपर ख़र्च हो चुका था। वह कलाधर की छेड़छाड़ का कुछ जवाब न देकर फिर मुँह ढक कर सो रहा।

"तू न खेलेगा तो न खेल, मज़े में सो रह"। मोहन से यह कह कर कलाधर ने विपिन का हाथ पकड़ कर कहा—चलो भाई विपिन, इस काहिल को छोड़ दो।

विपिन चलते समय मोहन से कहता गया—भाई बुरा मत मानो, अगर मुझ से कुछ ग़लती हुई तो तुमने उसका भरपूर बदला भी ले लिया।

दूसरा परिच्छेद।

मोहन अब फुट-बाल नहीं खेलता। दैहिक व्यायाम करना तो उसने एकदम छोड़ दिया है। वह दोपहर को स्कूल से भाग आता है और गङ्गा के किनारे बैठ कर कविता लिखा करता है। सुबह और शाम को किसी न किसी बहाने कुसुम के घर जाकर उसे देख आता है।

कुसुम अनुपम सुन्दरी न होने पर भी प्रफुल्लमुखी अवश्य थी। उसका कोई अङ्ग लावण्य से ख़ाली न था। माता-पिता की यही अन्तिम सन्तान थी। इससे वह बड़ी लाडली थी। इसी कार्तिक में उसका बारहवाँ वर्ष आरम्भ हुआ है। दो एक जगह

उसके व्याह की बातचीत हुई है, पर अभी तक कहीं सम्बन्ध स्थिर नहीं हुआ।

मोहन ने धीरे धीरे कुसुम से भेंट करके, गप-शप करके, और कुछ प्रेमोपहार दे कर उसके साथ अच्छी घनिष्ठता कर ली। मोहन के प्रति कुसुम के चित्त का खिँचाव कुछ कुछ देखा जाने लगा।

वैशाख के अन्त में कालिज बन्द होने पर मोहन का फुफेरा भाई, जिसका नाम प्रमोदविहारी था, आया। प्रमोद मोहन से तीन वर्ष बड़ा था। मोहन उसे श्रेष्ठ समझ कर उसका पूरा अदब करता और उससे डरता था। प्रमोद आते ही मोहन से पढ़ने का हाल पूछता, हिसाब पूछता, और और भी विद्या सम्बन्धी कई प्रश्न करता। माता-पिता की भक्ति, कुसङ्ग का दोष और परिश्रम तथा अध्यवसाय का फल इत्यादि अनेक विषयों का उपदेश देता था।

मित्र-मण्डली में प्रमोद प्रच्छन्न कवियों में गिना जाता था। उसका हृदय साहित्य की बातों से भरा था। केवल प्रेमपात्री के अभाव से अब तक वह प्रेम के कशाघात से बचा है।

अब की बार मोहन का स्वभाव कुछ बदला हुआ सा देख कर प्रमोद इसका कारण ढूँढ़ने लगा। मोहन से भी बार बार पूछा।

मोहन ने कुछ न कहा। पता लगाते लगाते आख़िर एक दिन मोहन की कविता-पुस्तक प्रमोद के हाथ लग गई। कविता पढ़ने पर सब बात खुल गई; कोई बात छिपी न रही। मोहन के ऊपर प्रमोद को विशेष स्नेह और श्रद्धा उत्पन्न हुई।

उस दिन प्रमोद ने जल-पान करके मोहन से कहा—चलो, गङ्गा किनारे टहल आवें।

मोहन ने पहले तो जाने में उज्र किया, परन्तु अन्त में प्रमोद के बहुत कहने पर उनके साथ जाने को राज़ी हुआ।

कुछ देर दोनों गङ्गा-किनारे घूमते घामते रहे। वहाँ एक छोटी सी डोंगी थी, उस पर वे जा बैठे।

प्रमोद ने कहा—मैं सब जान गया !

मोहन ने चौंक कर कहा—क्या ?

प्रमोद—तुम्हारा गुप्त विषय।

मोहन ने अनुमान किया—ज़रूर ही सिगरेट की बात है। डेक्स में उसने कुछ सिगरेट छिपा रक्खे थे, शायद प्रमोद ने उन्हें देखा है। इसलिए संदिग्ध भाव से उसने कहा—भैया! मेरे साथ चालाकी न करो।

प्रमोद—चालाकी की बात नहीं, बात बड़े मर्म की है। तुम्हारा जी जानता होगा।

मोहन को अब कुछ कुछ झलका। उसने सन्देहपूर्वक पूछा—बात क्या है ? क्या हुआ है ? साफ़ साफ़ कहिए।

प्रमोद ने दूरस्थित मन्दगामी नाव की ओर दृष्टि जमा कर कहा—तुम्हारे प्रेम का विषय।

मोहन ने सोचा—ज़रूर ही यह पिता से कह कर मुझे पिटवावेगा, इसलिए वह क्रोध का भाव दिखा कर मुँह बिगाड़ कर बोला—आप क्या कहते हैं ! इस तरह की बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं।

प्रमोद—मुझसे क्यों छिपाते हो ? मैं सब जानता हूँ। मैं तुम्हारे दुःख से ख़ूब दुखी हूँ। तुमसे मैं आन्तरिक सहानुभूति रखता हूँ। डरो मत।

मोहन शान्त हुआ। पर कुछ सिटपटा सा गया। उसने कहा—यह तुमसे किसने कहा ?

जूते की नोक से नाव को ठुकराते हुए प्रमोद ने कहा—तुम्हारी कविता-पुस्तक देखी है। हम लोगों के विशेष आदर की पात्री वही लड़की कुसुम ?

मोहन ने सिर हिला कर कहा—हाँ, वही।

प्रमोद—तुम्हारी कविता से तो यही ज्ञात होता है कि वह भी तुम्हें कुछ कम नहीं चाहती।

मोहन ने कोट के बटन को घुमाते घुमाते कहा—मालूम तो होता है।

प्रमोद—तुमने कभी उससे कुछ कहा भी है ?

मोहन—नहीं।

इसके बाद दोनों कुछ देर मौन हो बैठे रहे। फिर प्रमोद ने कहा—देखो, वे लोग हमारे पड़ोसी हैं। उनसे मेल-मिलाप होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु माँ-बाप को जताने के पहिले कुसुम का मन जान लेना ज़रूरी है। अनुमान से काम न चलेगा। उससे स्पष्ट पूछना होगा।

मोहन—यह कभी पूछा जा सकता है ?

प्रमोद ने भौं सिकोड़ कर कहा—न पूछने से कैसे बनेगा ? अगर तुम सचमुच उसको हस्तगत करना चाहते हो तो इस सम्बन्ध में जो कुछ कर्तव्य है तुम्हें सब करना होगा। न करने से कुछ न होगा। अब विलम्ब करने से भी काम न चलेगा। कुसुम के व्याह की बात कई जगह हो रही है। किसी दिन व्याह भी हो जायगा। तब तुम्हें चिरकाल तक पछताने के सिवा कुछ हाथ न आवेगा।

यह सुन कर मोहन का चित्त चञ्चल हो उठा। इतने दिन वह केवल उसे हृदय से चाहता ही था। व्याह की बात उसे

"तुम जानते हो" कह कर कुसुम ने हँसते हँसते सिर हिलाया।

मोहन—अब तुम बताओ, पुष्प को छोड़ कर फूल का और नाम क्या है?

"और क्या नाम है? ठहरो, सोचती हूँ।" कुसुम होंठ हिला कर अस्पष्ट शब्द में कुछ कहने लगी। ज्ञान पड़ता है, वह कोई कविता याद कर रही थी।

मोहन ने कहा—"कु—"

कुसुम— कु? कु क्या?

मोहन—कुहू कुहू कोयल रटै नव रसाल की डाल।
फूले कुसुम—

"हाँ, हाँ, स्मरण हुआ। फूल का और एक नाम है कुसुम कुसुम।

फूले कुसुम पलाश के बहत अनिल सुख जाल।

अच्छा, मोहन भैया; अगर अनिल के माने बताओ तो समझूँ।"

मोहन—अनिल माने हवा।

द्वादशवर्षीया बालिका के नेत्रों में एक अपूर्व आनन्द और प्रशंसा की झलक दिखाई दी।

मोहन ने प्रमोद के उपदेशानुसार कुसुम का हाथ पकड़ कर कहा—तुम्हारी समझ में न आया? मैंने जो कहा है "फूल को चाहता हूँ" इसका मतलब यह कि मैं कुसुम को चाहता हूँ। कुसुम! मैं तुमको हृदय से चाहता हूँ। क्या तुम मुझे चाहती हो?

कुसुम ने निःसंकोच भाव से कहा—हाँ।

मोहन—कुसुम ! बहुत दिनों से मेरे मन में एक दुराशा है। वह आज मैं तुमसे कह डालता हूँ। तुम मेरे साथ ब्याह करोगी ?

मोहन की पहली बात वह कुछ न समझ सकी थी। दूसरी बात का अर्थ उसने अच्छी तरह समझा। पर इस बात से उसकी सब बनी बनाई बात बिगड़ गई। वह "धुत्" कह कर मोहन का हाथ छुड़ा कर भाग गई।

उसके नूपुर झन् झन् बजने लगे। जब तक वह मोहन के दृष्टिपथ में रही तब तक मोहन बराबर टकटकी बाँधे उसकी ओर देखता रहा।

कुसुम जब ओट में हो गई तब मोहन मन ही मन इस बात की आलोचना करने लगा—कुसुम ब्याह का नाम सुनते ही हाथ छुड़ा कर भाग गई। इसका क्या अभिप्राय ? क्या वह मेरे साथ ब्याह करना नहीं चाहती ?

पढ़े हुए सब उपन्यासों को मोहन एक एक कर स्मरण करने लगा। इस तरह की कई घटनायें उसे याद हो आई और उसने मन में यह भी सोचा कि लज्जा प्रेम की प्रधान सहचरी है। कुसुम के भागने का कारण लज्जा है—इसमें सन्देह नहीं।

चौथा परिच्छेद।

प्रमोद ने सब समाचार सुन कर मोहन से कहा—तो अब कोई चिन्ता नहीं। जब वह तुम्हें चाहती है तब किसी न किसी दिन वह तुम्हारे ब्याह के प्रस्ताव पर भी राजी हो ही जायगी। अब उसके और तुम्हारे माता-पिता की सम्मति मिलने भर की

देरी है। दोनों तरफ़ की राय एक होने से कार्य-सिद्धि में विलम्ब न होगा।

मोहन—तुम मेरे पिता से कहोगे तो क्या वह राज़ी न होंगे?

प्रमोद—मेरा कहना ठीक न होगा; तुम स्वयं उनसे कहो। वे कैसे ही कड़े क्यों न हों, हैं तो फिर तुम्हारे पिता ही। मेरे मामा होते हैं। पिता और मामा में बड़ा अन्तर है।

मोहन—मैं उनसे न कह सकूँगा। तुमने तो पहले कहा था कि तुम्हीं उनसे इस विषय का प्रस्ताव करोगे। अब अपनी बात से क्यों हटते हो?

प्रमोद ने मोहन को पहले जिस परिमाण से उत्साह दिया था, कार्य के समय वह उसकी रक्षा न कर सका। मोहन के पिता नन्दलाल बाबू का स्वभाव बड़ा उग्र था। उनके निकट जाकर कोई बात कहना बड़े साहस का काम था।

इसी तरह आज-कल करते करते एक सप्ताह बीत गया। मोहन और प्रमोद जभी एकान्त में मिलते तभी दोनों उसी विषय की बात करते थे। पहले जो उन दोनों में गुरु-शिष्य का सा भाव था, वह अब न रहा। वह सम्पूर्ण रूप से सख्य भाव में परिणत हो गया।

एक दिन मोहन ने कुसुम के नाम एक बहुत बड़ी कविता लिखी। प्रमोद उसी कविता को पढ़ कर वार वार उसकी प्रशंसा कर कहने लगा—स्वयं अनुभव करके जो कविता नहीं लिखी जाती क्या वह भी कविता है? यह कविता कुसुम को ज़रूर ही दिखलाना चाहिए।

चिट्ठी के बढ़िया कागज़ पर नीले रङ्ग का बार्डर खींच कर मोहन ने लाल रोशनाई से कविता को खूब स्पष्ट अक्षरों

में लिखा । इसके बाद फिर उसने अवसर देख कर कुसुम से एकान्त में भेट की ।

कुसुम ने कविता पढ़ी । पढ़ कर वह क्या समझी—यह वही जाने । मोहन ने कहा—तुम इसे अपने पास रक्खोगी ?

कुसुम—क्यों न रक्खूँगी ?

कुसुम का आग्रह देख कर मोहन आनन्द से अधीर हो कर बोला—कुसुम, यह किसी को दिखलाओगी तो नहीं ?

कुसुम ने सिर हिला कर कहा—नहीं; किसी को भी न दिखाऊँगी ।

मोहन—तो इसे अच्छी तरह छिपा कर ले जाओ । इसे कहाँ रक्खोगी ?

कुसुम—क्यों ? अपने बक्स में रख लूँगी ।

मोहन निश्चिन्त हो कर घर लौट आया ।

उधर परम सत्यवादिनी कुसुम ने घर जाते ही स्वर्णलता को पुकार कर कहा—बहन, तुमसे एक बात कहती हूँ, सुनो ।

उसकी बहन का नाम स्वर्णलता था । वह सोलह वर्ष की थी और ब्याही थी । वह स्वामी के प्रेम में दिन-रात डूबी रहती थी । मन की उमङ्ग से उसका चेहरा सदा खिला रहता था । वह कुसुम के पास आई ।

कुसुम ने कहा—बहन, एक बड़े मज़े की बात है ।

स्वर्ण०—क्या ?

कुसुम ने लिफ़ाफ़ा निकाल कर कहा—किसी से कहोगी तो नहीं ?

"किसकी चिट्ठी है ? ला देखूँ तो" कह कर स्वर्णलता ने

झपट कर उसके हाथ से लिफ़ाफ़ा ले लिया। लिफ़ाफ़ा खोल कर कविता पढ़ने लगी।

"कुसुमलता प्यारी सुनो मेरे मन की बात।"

पढ़ कर स्वर्णलता अवाक् हो रही। उसने पत्र को उलट-पलट कर देखा, जब लिखने वाले का नाम कहीं न मिला तब उसने पूछा—कुसुमी! यह तुझे कहाँ मिला?

कुसुम—मोहनलाल भैया ने दिया है।

स्वर्ण०—कौन? वही मोहना।

कुसुम—हाँ।

स्वर्णलता ने गाल पर हाथ लगा कर कहा—अरे दादा! यह सब उसने तुमको क्यों लिखा है?

कुसुम डर कर बोली—सो मैं क्या जानूँ?

स्वर्ण०—यह तो प्रेमसम्बन्धी कविता है। क्या तुम दोनों में प्रेम हुआ है?

कुसुम—मोहनलाल ने एक दिन मुझसे कहा था कि मैं तुमको चाहता हूँ।

स्वर्णलता मुस्कुरा कर बोली—ख़ुशी की बात है। लड़के ने अच्छी चीज़ पसन्द की है। फिर वह कविता पढ़ने लगी—

कुसुमलता प्यारी सुनो मेरे मन की बात।
तेरे मुख को हृदय में लिये रहूं दिन रात॥

यह बालनिर्मित कविता पढ़ कर स्वर्णलता हँसते हँसते लोट गई। बोली—"दुनिया में इससे बढ़ कर अनूठी कविता और क्या होगी? 'दिन रात' की जगह 'दधि भात' तुक रख देने से कविता और भी सरस होती। अच्छा सुन तो कुसुमी?

कुसुमलता प्यारी सुनो मेरे मन की बात।
तेरे मुख को हृदय में लिये रहूं दधि-भात॥

अर्थात् दही भात देख कर जैसे किसी किसी बालक को खाने का लोभ होता है वैसा ही लोभ तुम्हारा मुँह देखने से मुझे भी होता है । " कह कर ख़ूब ज़ोर से हँसने लगी ।

हँसी सुन कर उसकी माँ वहाँ आ गई । उसने पूछा—तुम इतनी क्यों हँसती हो ? क्या बात है ?

स्वर्णलता ने माँ के हाथ में पत्र देकर कहा—माँ, यह लो, तुम्हारे छोटे जमाई ने तुम्हारी लड़की को क्या लिखा है, देखो ।

बेटी की ओर देख कर माँ बोली—इसकी बोली तो सुनो ! तू क्या कहती है, मेरी समझ में नहीं आता । यह क्या है ?

स्वर्णलता माँ के पास जाकर बोली—यह प्रेम-पत्रिका है । लड़की इतनी बड़ी हो गई, तुमने अभी तक उसका ब्याह नहीं किया । तब बेचारी क्या करे, उसने आप ही अपना वर ठीक कर लिया है ।

यह सुन कर माँ अवाक् हो रही । उसने कहा—यह किसने लिखा है ?

"सो पीछे कहूँगी, पहले सुन तो लो ।" कह कर और माँ के हाथ से कविता लेकर स्वर्ण पढ़ने लगी—

कुसुमलता प्यारी सुनो मेरे मन की बात ।
तेरे मुख को हृदय में लिये रहूं दिन रात ॥
शयन स्वप्न जागरण में सदा सर्वदा तोर ।
अनुपम रूप अनूप छवि बिसरत सांझ न भोर ॥
भूख न लागत पेट में नींद न आवत नैन ।
नैनन सों आंसू बहे बिन देखे नहिं चैन ॥
पढ़त लिखत भावै नहीं दिवस बिताऊं सोय ।
बिन तेरी संगति-सुधा रहूं अकेले रोय ॥

गली गली डोलत फिरूं तेरे दर्शन काज।

सब सुख से बढ़ि प्रेम-सुख—

माँ ने रोक कर कहा—पागलपन कर रही है? मुझे अच्छा नहीं लगता। कह किसने लिखा है?

स्वर्ण०—चौधरी के मोहना ने।

"मोहना ने? क्या अब वह यही पाठ पढ़ने लगा है? दो दिन के छोकड़े की यह शैतानी?" कह कर वह कुसुम को खोजने लगी।

मामला बेढब देख कर कुसुम पहले ही वहाँ से चम्पत हो गई थी। माँ लाल पीली आँखें करती हुई बाहर आई और कुसुम का हाथ पकड़ कर बोली—क्यों री! यह क्या है?

कुसुम ठिठक कर बोली—मैं क्या जानूँ?

माँ—तू न जानेगी तो कौन जानेगा? बदमाश, अभी से ये बातें! कोई काम न धंधा! खाना और अकड़ते फिरना, दिन पर दिन हथिनी बनी जाती है—और यह सब नये नये पाठ पढ़ती है। सच बतला क्या बात है?

कुसुम—मोहना ने मुझको दे दी तो मैं क्या करती? मेरा इसमें क्या क़ुसूर है? और मैं कुछ नहीं जानती।

"चिट्ठी देते समय उसने तुमसे कुछ कहा भी?"

"कहा कि माँ को या किसीको मत देखने देना। इसे सन्दूक में छिपा कर रखना।"

माँ उससे जिरह पर जिरह करने लगी। वह भी सब प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर देती गई। अन्त में उसने कहा—मोहन एक दिन मुझको बाग़ में बुला ले गया। वहाँ ले जाकर उसने मुझसे कहा कि 'मैं तुमको फल तोड़ देता हूँ,

तुम मुझसे व्याह करोगी' ? तब मैं उसे गाली देती हुई वहाँ से भाग आई ।

यह सुन कर माँ के होठों में क्रोध के भीतर भी ज़रा हँसी की झलक दिखाई दी । आख़िर वह बोलीः—

"सुन, तुझसे कहती हूँ, अगर फिर कभी मोहन के घर की ओर जायगी या उसके साथ बातें करेगी या खेलेगी तो समझ रख, गला दबा कर मार डालूँगी । ख़बरदार ! आज से फिर कभी उस छोकड़े के साथ तुझे देखा तो ।"

कुसुम रो रो कर कहने लगी—उसनें मुझको दिया क्यों ? क्या मैं उससे माँगने गई थी ? मैं अब कभी उसके साथ न खेलूँगी ।

कुसुम की माँ ने उस कविता को फाड़-चीर कर चूल्हे में डाल दिया ।

पाँचवाँ परिच्छेद ।

किसी कवि ने कहा है—"प्रेम करि काहू सुख न लह्यो ।" प्रेम का पंथ कभी निष्कण्टक नहीं होता । जो प्रेम-पंथ के पथिक हुए हैं वही रोये हैं । प्रेम केवल यातनामय है । उसमें केवल आँसू भरे हैं, इस बात को कौन क़बूल न करेगा ?

कुसुम तो झिड़की खाकर ही बच गई । मोहनलाल के अदृष्ट में विशेष दुर्गति लिखी है ।

मोहन के पिता नन्दलाल चौधरी डाक्टर हैं । रोज़गार ख़ूब चलता है । वे सवेरे रोगियों को देखने निकलते हैं । घर आने

आते बारह बज जाते हैं फिर स्नान-भोजन करके आराम करते हैं।

प्रमोद और मोहन ने आपस में विचार किया कि आज जब वे सोकर उठेंगे तब प्रमोद उनसे मोहन के व्याह की बात छेड़ेंगे ।

प्रमोद और मोहन दोनों बाहर के कमरे में बैठ कर प्रतीक्षा करने लगे । एक प्रबल आशङ्का और अनिश्चय से दोनों के चेहरे पर उदासी छा गई । जब चार बज गये तब नन्दलाल के जागने की आहट मिली । उन्होंने बिछौने पर से ही पुकारा—अरे गन्नू, तम्बाकू तो भर ला ।

कई मिनट बाद प्रमोद काँपते काँपते मामा के कमरे में गया। नन्दलाल चौधरी चारपाई पर तकिये के सहारे बैठे हैं। सो कर उठने के कारण आँखें लाल हैं। नीचे एक छोटी सी चौकी पर गुड़गुड़ी रक्खी है। तम्बाकू पी रहे हैं।

प्रमोद दबे पैरों भीतर जाकर एक कुरसी पर बैठ गया। नन्दलाल ने कहा—प्रमोद ! क्या है ?

प्रमोद ने माथे से पसीना पोंछ कर कहा—आज आप से कुछ अर्ज़ करने आया हूँ।

नन्दलाल ने उत्सुक होकर गुड़गुड़ी की नाल मुँह से निकाल प्रमोद की ओर देख कर अस्पष्ट स्वर में कहा—क्या ?

प्रमोद की छाती धड़कने लगी । उसका जी धुकड़ पुकड़ करने लगा । यह सोच कर वह मन ही मन पछताने लगा कि मैं क्यों यहाँ आया ? व्यर्थ इस जाल में अपने आप आ फँसा। तुपरन्‌ जब इस झमेले में आ पड़ा हूँ तब अख़ीर तक जाना

होगा। उसने हृदय को दृढ़ करके कहा—हमें मोहन के लिए बड़ी चिन्ता है।

नन्द०—क्यों ? क्या हुआ ? क्या कोई बीमारी हुई है ?

वैद्यों को प्रायः व्याधि की बात पहले सूझती है। प्रमोद ने कहा—शारीरिक रोग तो नहीं, पर मानसिक रोग हुआ है।

नन्दलाल ने फिर गुड़गुड़ी की नाल मुँह में दबा कर पूछा—सो कैसा ?

प्रमोद—वह एक लड़की को चाहने लगा है।

नन्दू चौधरी मुँह से नल को विछौने पर फेंक कर उठ बैठे और बोले—क्या कहा ?

उनके मुँह की भावभङ्गी देख विपत्ति की आशङ्का कर के प्रमोद बोला—उसका एक लड़की से प्रणय हुआ है।

नन्द०—प्रणय हुआ है ! कैसा प्रणय ? किसके साथ ? खुलासा सब बातें कहो।

प्रमोद—पड़ोसी अतुलचन्द्र की जो छोटी लड़की कुसुमलता है उसी को वह चाहने लगा है। इसी कारण आपसे कहने आया हूँ। अगर आप उसके जीवन का सुख चाहते हों तो कुसुम के साथ उसका व्याह कर दें।

नन्दलाल गम्भीर भाव धारण कर तम्बाकू पीने लगे। कुछ देर में स्वर को ज़रा मुलायम कर के बोले—कैसे प्रेम हुआ ?

प्रमोद मन ही मन बड़ा उत्साहित हुआ। उसने सोचा, सन्तान के दुःख से पिता का हृदय द्रवित हुआ है। कहा—"किस तरह प्रेम हुआ" यह कहना कठिन है पर इतना कह सकता हूँ कि खिंचाव दोनों ओर से बराबर है।

"दोनों ओर से ?" कह कर नन्दलाल तम्बाकू पीने लगे। कुछ देर बाद पूछा—ब्याह करना चाहता है ?

प्रमोद ने नीची नज़र करके धीरे धीरे कहा—यही तो इस प्रेम का स्वाभाविक परिणाम है। मोहन कहता है—"यदि कुसुम के साथ ब्याह न होगा तो मेरा जीवन मरुभूमि हो जायगा।"

नन्द० - "ओफ़्, मरुभूमि ?" तम्बाकू पीते पीते उन्होंने कहा—मोहना को पुकारो।

प्रमोद उठ कर पढ़ने की कोठरी में गया। देखा, मोहन मुँह-हाथ ढाँपे पड़ा है। प्रमोद ने हँसी भरे मुँह से हुलस कर कहा—मोहन, उठो उठो, जाओ, मामा बुला रहे हैं।

मोहन—क्या रँग ढँग है ?

अब तक तो आशाप्रद है। बड़े सहृदय भाव से पूछ ताछ हुई।

किन्तु मोहन को विश्वास न हुआ। क्या सचमुच उसका इतना बड़ा सौभाग्य होगा ? उसने प्रमोद से कहा—तुम भी चलो।

प्रमोद—तुम अकेले जाओ। क्योंकि इस समय वहाँ तीसरे व्यक्ति का रहना ठीक नहीं। गुप्त बात है। क्या जानें क्या पूछ बैठें !

मोहन—नहीं भैया, तुम भी चलो—अकेले जाने में मुझे बड़ा डर लगता है।

प्रमोद—अच्छा, तुम आगे चलो, मैं दस पन्द्रह मिनट के बाद आऊँगा—यह कह कर उसने हाथ पकड़ कर मोहन को घर से बाहर कर दिया।

मोहन ने पिता के कमरे में जा कर देखा कि वे आइने के

सामने खड़े हो कर मूँछ के पके हुए बाल को उखाड़ने की चेष्टा कर रहे हैं। इतने में मोहन की छाया उन्हें देख पड़ी।

नन्दलाल घूम कर खड़े हुए। मोहन से पूछा—तेरा इमतिहान कब है?

मोहन—आज से बारह दिन बाक़ी हैं।

नन्द०—कैसा परिश्रम किया है?

मोहन—जी, परिश्रम तो किया है।

नन्द०—खूब जी लगा कर पढ़ता है या जहाँ तहाँ खेलता फिरता है?

मोहन—जी नहीं, बहुत नहीं खेलता।

नन्द०—तो क्या करता है? सुना है, तू अब प्रेम का पाठ पढ़ता है।

उनका स्वर सुन कर और क्रोध से भरा चेहरा देख कर मोहन उत्तर देने का साहस न कर सका। भय से काँपने लगा।

नन्दलाल धीरे धीरे उसके पास आये। बायें हाथ से मोहन का दहना कान पकड़ कर कहा—जवाब क्यों नहीं देता?

मोहन ने कुछ बोलने की चेष्टा की पर मुँह से बात न निकली।

उसके पिता की लाल लाल आँखें क्रोध से घूमने लगीं। वे दाँत पीस कर बोले—"स्टुपिड, सुअर! आज ही कल में इमतिहान होने वाला है। लिखना-पढ़ना गया, 'लव' (प्रेम) करना सूझा है।" यह कह कर पटापट कई थप्पड़ उसके गाल पर जड़ दिये।

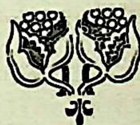
इस समय प्रमोद उस कमरे के दर्वाज़े तक आया था। थप्पड़ का शब्द सुन कर वह बाहर ही से रफ़ूचक्कर होगया।

मोहन दोनों हाथों से मुँह और आँखें ढँक कर सिसक सिसक कर रोने लगा।

नन्दलाल लड़के को छोड़ चारपाई पर बैठ कर कहने लगे—इधर कई दिनों से प्रमोद के साथ जब देखो तब फुसुर फुसुर, दिन रात फुसफुसाहट ! बात क्या है, कुछ समझ में न आती थी। सोचा, क्या ये सब कोई राज्य लेने की सलाह कर रहे हैं या क्या कर रहे हैं ! अभागी, पाजी, लुच्चा, बदमाश कहीं का, अभी से प्रेम का चसका लगा है। अभी इनका ब्याह हो जाना चाहिए, नहीं तो इनका जीवन मरुभूमि हो जायगा। इतनी बातें इसने कहाँ सीखीं ? मैं यही सोचता हूँ। मैं बूढ़ा हुआ, मेरे लड़के वाले हुए, पर यह सब आज तक न जाना। पढ़ने-लिखने का नाम नहीं, कुछ दिन में जवान होगा। क्या खायगा, इसकी चिन्ता नहीं। शादी अभी हो जानी चाहिए। मैं सुबह से दोपहर तक इस कड़ी धूप में सिरखपी करके रोगियों की नाड़ी देखते देखते परेशान हो जाता हूँ। दो पैसे के लिए अपना कण्ठ-तालू सुखाता हूँ। यह सूझता ही नहीं। जब तक मेरी ज़िन्दगी है तब तक जी लगा कर पढ़ लिख कर होशियार हो जायँ सो नहीं। मेरा लड़का पढ़ता है 'प्रेम'—इसी प्रेम से रोटी मिलेगी। मैं जानता ही न था कि यह छोकड़ा प्रमोद कालिज में लिख-पढ़ कर इतना बड़ा बन्दर बन गया है। बेवक़ूफ़ वकालतनामा लेकर आये थे। जाओ भागो यहाँ से—अगर फिर इस तरह के पागलपन की बात सुनी तो जूते लगाऊँगा।

इसके अनन्तर मोहन रोता रोता वहाँ से बाहर आया।

डाक्टर की चिकित्सा शीघ्र फलित हुई । मोहन को भी सुबोध कहना चाहिए । उपन्यास पढ़ने के कारण वह प्रेम का अनुकरण करने लग गया था, किन्तु उपन्यास के निर्देशानुसार न वह घर छोड़ संन्यासी हुआ और न उसने विष खाया । हाँ, उसने कुसुम के विवाहोत्सव में हलुवा-पूरी ज़रूर ख़ूब खाईं इतना अधिक कि दूसरे दिन उसे अजीर्ण हो गया । यह सुयोग पाकर वह एक सप्ताह तक स्कूल न जा सका । प्रमोद चला गया था इसलिए मोहन को प्रेमिक आदर्श गिराने के लिए किसी के आगे जवाबदिही नहीं करनी पड़ी । वह प्रेम का पाठ छोड़ जी लगा कर स्कूल का पाठ पढ़ने लगा ।



बनावटी नाम।

पहला परिच्छेद।

प्रेस के साथ बहुत वाग्-युद्ध करके विजया-दशमी की छुट्टी के पहले ही मैंने "वङ्गप्रभा" छपवा ली। डिस्पैच (रवानगी) के सम्बन्ध में कार्याध्यक्ष से बातें कर रहा था। इसी समय हैट-कोट पहने, सिगरेट मुँह में दबाये, सतीश बाबू आ गये। कहने लगे—दार्जिलिंग चलो।

सतीश मेरे बाल्य-सखा हैं। हम और वे एक ही क्लास में पढ़ते थे, एक ही साथ रहते थे और साथ ही साथ घूमते थे। हम दोनों की हार्दिक सहानुभूति देख पण्डित जी हम दोनों को कृष्ण-बलदेव कहते थे।

एन्ट्रेन्स पास करके हम दोनों कलकत्ते के कालिज में आये। तब से हम लोगों के जीवन का आदर्श क्रम क्रम से विभिन्न होने लगा। सतीश सब बातों में साहब का अनुकरण करने लगा; मैं अपनी मातृभाषा के प्रति अनुरागशील हुआ। मुझे बँगला लिखते-पढ़ते देख सतीश मेरा उपहास करता था। मैं भी सुयोग पाकर सतीश को साहबाना ठाट के लिए फटकारता था।

इसके बाद सतीश विलायत जाकर बैरिस्टर हो आया। साहब की चाल ढाल में अब कुछ भी कसर न रही। साहब के व्यवहार-यज्ञ में वह पूर्णरूप से दीक्षित हो गया।

बाल्यकाल में हम दोनों जैसे एक प्राण थे वैसे अब न रहे। हम लोगों की मानसिक वृत्ति ने भिन्न भिन्न रूप धारण कर लिया। सतीश अब पहले की तरह मुझ से अपने मन की

सब बातें नहीं कहता। तथापि हम दोनों में परस्पर की मित्रता बनी है। इसी मित्रता के भाव से सतीश मुझे दार्जिलिंग ले जाना चाहते हैं।

मैंने पूछा—"कब जाओगे?" उसने कहा—"आज ही।" मैंने कहा—"आज समय कहाँ है?" उसने दाँत से चुरुट दबा कर घड़ी देखी और फिर कहा—अभी दस ही बजे हैं। चार बजे ट्रेन आवेगी। छः घंटे, तीन सौ साठ मिनट। बहुत समय है।

मैंने कहा—साहब! अनुग्रह करके बँगला बोलते हो तो शुद्ध बँगला बोलो। अँगरेज़ी का तर्जुमा करके मत बोलो।

सतीश ने घबड़ा कर कहा—हाँ भाई, मैं बँगला बोलना नहीं जानता। कहो, चलोगे कि नहीं?

मैंने कहा—भाई! तुम विलायत से साहब बन कर आये हो। तुम जितना झटपट काम कर सकते हो, उतना जल्द मैं काला आदमी कहीं कर सकता हूँ? स्नान-भोजन करते बारह बज जायँगे। उसके बाद फिर कुछ समय विश्राम के लिए भी चाहिए।

सतीश—नानसेन्स (वाहियात)। ये सब उज़्र रहने दो।

मैंने कहा—अगर दार्जिलिंग जाना ही था तो दो दिन पहले क्यों नहीं कहा?

सतीश—आज सवेरे दार्जिलिंग से डाक्टर सेन का निमन्त्रण आया है।

मैंने अचम्भे के साथ पूछा—तो क्या डाक्टर सेन दार्जिलिंग में हैं? उनके बाल-बच्चे सब वहीं हैं?

"हाँ सपरिवार हैं"—कह कर सतीश मुस्कुराने लगा।

डाक्टर सेन की विदुषी कन्या निर्मला देवी ने मेरे मित्र का मन हरण किया है। यह सब लोगों पर विदित था।

मैंने कहा—तुम एकाएक सिर पर सवार हो गये। क्या चार बजे के बाद दूसरी ट्रेन दार्जिलिंग को नहीं जाती?

सतीश ने दीर्घ निःश्वास लेकर कहा—नहीं।

मैं गाने लगा :—

"लगोंहीं चितवनि औरहि होति।
दुरत न लाख दुराओ कोऊ प्रेम भलक की जोति॥"

यद्यपि मैं आप कभी रमणी के प्रेम-जाल में नहीं फँसा तथापि उस विषय से परिचित अवश्य हूँ। सतीश को एक दिन रोक रखने का साहस और बाघ को अहिंसा-धर्म में दीक्षित करने की चेष्टा करना एक ही बात है। इसलिए जाने ही की बात स्थिर रही। ज़रूरी चीज़ें साथ लेकर चार बजे की गाड़ी में हम दोनों रवाना हो गये।

दूसरा परिच्छेद।

दार्जिलिंग के स्टेशन पर गाड़ी ठहरने के पहले ही कुछ दूर से देखा कि डाक्टर सेन अपनी स्त्री और बेटे-बेटियों के साथ प्लेटफ़ार्म पर खड़े हैं। बंगाली की लड़की को जूता-मोज़ा पहने प्रकाश्यभाव से प्लेटफ़ार्म पर खड़ी देख कर मेरा जी जल गया। मैंने ब्राह्ममतावलम्बिनी अनेक स्त्रियाँ देखी हैं। दो-एक के साथ परिचय भी है। यह ब्राह्ममत वालों के लिए कोई नई चाल नहीं है, तथापि सतीश की भाविनी स्त्री और सास की ऐसी निर्लज्जता देख मेरे हृदय में चोट लगी। मैं स्त्री-शिक्षा का पूर्ण पक्षपाती हूँ किन्तु स्त्री की ऐसी स्वतन्त्रता को आँखों से नहीं देख सकता। मैंने अपने पत्र में इस विषय पर अभी एक प्रबन्ध

लिखा है। भविष्य में इस विषय पर और भी लिखने का उप-क्रम मेरे मस्तिष्क के भीतर इस घटना के कारण सञ्चित होने लगा। खूब कड़े कड़े चोखे वाक्य मस्तिष्क के भीतर श्रेणीबद्ध होने लगे। किन्तु थोड़ी ही देर में उन वाक्यों पर पानी फिर गया।

सतीश ने गाड़ी से उतरते ही उन लोगों से मेरा परिचय करा दिया। ऐसी दशा में क्या करना चाहिए, इसका कुछ निश्चय न कर मैं चुपचाप किंकर्तव्य-विमूढ़ की भाँति प्लेटफ़ार्म पर एक तरफ़ जा खड़ा हुआ। सतीश को न लज्जा थी न संकोच। निर्मला के भाई को लगेज (असबाब) लिवा लाने के लिए भेज कर आप निर्मला के साथ जोंक की तरह लिपट रहा।

निर्मला कुछ ही देर बाद मेरे पास आई और मेरी ओर देख कर मुस्कुराती हुई बोली—"मन्मथ बाबू! मैं आपके पत्र की नियमित पाठिका हूँ।" वह कुछ और कहना चाहती थी पर रुक गई।

निर्मला की माँ ने कहा—मन्मथ बाबू, विजया की 'वङ्गप्रभा' कब निकलेगी?

मैं—विजया की वङ्गप्रभा? वह तो निकल चुकी।

कन्या की ओर देख कर मिसेस् सेन बोली—पढ़ी है?

निर्मला—मुझे तो वह अभी तक मिली ही नहीं, पढ़ूँगी कैसे?

मैंने कहा—नहीं, नहीं, माफ़ कीजिए। वह अभी आप लोगों के पास न पहुँची होगी। वह छपी हुई तैयार है, डिस्पैच नहीं हुई। बाहर सब जगह रवानगी तो एक दिन में होती नहीं।

निर्मला—आपका कहना सही है। मेरी 'वङ्गप्रभा' पहले ढाका

जायगी तब दीर्जिलिंग के पते पर भेजी जाकर मेरे पास पहुँचेगी। क्या आपके पास उसकी एक प्रति न होगी ?

वङ्गप्रभा के प्रति निर्मला का विशेष अनुराग देखकर मुझ सम्पादक का मन पुलकित हो उठा। मैंने हुलस कर कहा—हाँ, है तो। मैं कल आपके पास एक प्रति अवश्य भेज दूँगा।

निर्मला—आप अधिक कष्ट न उठाइएगा। जब सुविधा हो भेज दीजिएगा।

"मन्मथ बाबू, मैं कल शाम को चाय पीने का आप को निमन्त्रण देती हूँ। कृपा करके आइएगा।" यह कह कर निर्मला को माँ अभिवादन करके चली गईं। मैं भी सैनीटेरियम की ओर चल पड़ा। मैंने मन में कहा—देखो, शिक्षा और संसर्ग का ऐसा गुण है। बंगाली की लड़कियाँ भी नवीन-शिक्षा के प्रभाव से इस तरह बिना किसी झिझक के बात चीत कर सकती हैं।

मैं दिन भर का थका-माँदा था। रात को बिछौने पर लेट कर समाज-सम्बन्धिनी बातों को सोचने लगा। यह जो नई शिक्षा के साथ साथ हम लोग नये आचार-व्यवहारों को विलायत से लाकर अपने देश में फैला रहे हैं, इसका परिणाम भविष्य में क्या होगा ? इससे आगे की बात सोचने के पूर्व ही मैं सो गया।

तीसरा परिच्छेद ।

मैं दूसरे दिन सवेरे उठा और मुँह-हाथ धोकर चाय पीते पीते कल की घटना की आलोचना करने लगा। समाज में स्त्री-पुरुषों का सीमातिक्रान्त मेल-मिलाप होना, या निःसंकोच होकर यत्र तत्र घूमना, मैं सामाजिक नीति के अनुकूल नहीं

समझता था। इसी से मैंने निश्चय किया कि चाय के निमन्त्रण में न जाऊँगा। अपने नियम के विरुद्ध काम क्यों करूँ? 'वङ्गप्रभा' किसी नौकर के हाथ भेज दूँगा। नहीं तो सतीश भी अब आने ही वाला है, उसी के द्वारा भेज दूँगा।

किन्तु सतीश ऐसा गधा निकला कि आया ही नहीं। जान पड़ता है, वह निर्मला को छोड़ कर न आ सका। उन दोनों की प्रेमलीला की मन ही मन कल्पना कर के मैं विशेष कुतूहल का अनुभव करने लगा।

खाने-पीने के अनन्तर मैंने सोचा कि यदि चाय के निमन्त्रण में न जाऊँगा तो शिष्टता से बाहर की बात होगी। जब मैंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया है तब उसकी रक्षा के लिए मैं बाध्य हूँ। यदि यह कार्य मेरे विचार के विरुद्ध हुआ तो उसी समय निमन्त्रण लौटा देना था। आज न जाने से न बनेगा। भविष्य में सावधान रहूँगा। कोई न कोई बहाना बता कर निमन्त्रण को टाल दूँगा।

साँझ को डाक्टर सेन के घर जाने के लिए तैयार होकर मैंने अपने वेश-विन्यास के ऊपर कुछ विशेष ध्यान दिया। पुरुष-समाज में जाने के लिए सज-धज की वैसी ज़रूरत नहीं किन्तु रमणी-समाज में जाने के लिए कपड़े-लत्ते और रङ्ग-रूप सब का लिहाज़ रखना पड़ता है।

मैं दार्जिलिंग कई बार आ चुका हूँ। घाट-बाट, गली महल्ले सब मेरे परिचित हैं। जब मैं सेन महाशय के घर के समीप पहुँचा तब पाँच बजने में दस मिनट की देरी थी। निमन्त्रण ठीक पाँच बजे का था। सोचा, ये लोग अँगरेज़ी फ़ैशन के हैं। निश्चित समय के पहले जाने से शायद ये लोग मुझे बेवक़ूफ़

समझें। इस कारण बाहर ही कुछ देर इधर उधर घूम कर मैंने दस मिनट बिता दिये। ठीक पाँच बजे मिसेस् सेन के पास कार्ड भेज दिया।

सभी ने बड़े आदर-सत्कार से मुझे ले जाकर बिठाया। निर्मला आज बहुत सुन्दर देख पड़ती थी। स्टेशन पर जब मैंने उसे देखा था तब उसकी पोशाक अँगरेज़ी फ़ैशन की थी। पैरों में अँगरेज़ी जूता था। मैं इस ठाट को बिलकुल नापसन्द करता हूँ। इस समय देखा कि वह लाल मख़मल का देशी जूता और नारङ्गी रङ्ग की चटकीली साड़ी नये ढँग से पहिने है। आँखों में सुरमा है। मुँह में पान की बीड़ी है, सिर पर गुही हुई चोटी का जूड़ा है और जूड़े में पहाड़ी गुलाब का फूल खोंसा हुआ है। निर्मला यथार्थ में अत्यन्त सुन्दरी है।

सतीश को पहले न देखा। मैं उसे एकान्त में पाकर निर्मला के लाल रङ्ग के मख़मली जूते पर "रँगे हुए दोनों चरण" कहकर क्या क्या दिल्लगी उड़ाऊँगा इसको मन ही मन सोचने लगा।

कुछ देर बाद सतीश आया। चाय-पानी के साथ साथ भाँति भाँति के विनोद होने के बाद सलाह होने लगी कि एक दिन सब लोग साथ साथ घूमने चलें।

जब मैं जाने को उद्यत हुआ तब डाक्टर सेन की स्त्री ने कहा—महाशय! यदि कल फिर आप चाय पीने के समय आने की कृपा करें तो सभी साथ ही साथ टहल-फिर आवेंगे।

मैंने सोचा—इस दफ़े गुपचुप रहना ठीक नहीं। अब स्पष्ट रूप से निमन्त्रण अस्वीकार करना ठीक है। इसके साथ अस्वीकृति का कोई युक्ति-संगत कारण भी बता देना चाहिए पर कारण ऐसा हो जिसके भीतर सामाजिक नीति के उच्चतम

विचार और आदर्श का भाव छिपा रहे—जिसकी व्याख्या करने का मुझे मौक़ा मिले । किन्तु मैंने फिर सोचा, निमन्त्रण है कहाँ ? "यदि चाय पीने के समय आवें" क्या यह भी निमन्त्रण कहलाता है ? मैं इस प्रकार के मानसिक तर्क-वितर्क में पड़ कर कोई उचित उत्तर न दे सका । इधर ये लोग भी नमस्कार करके लौट गये ।

चौथा परिच्छेद ।

दूसरे दिन सवेरे दस बजे सतीश मेरे स्थान पर आया । मैंने पूछा—भाई, तुम निर्मला को छोड़ कर कैसे आये ? उसने कहा—अपना वह मनहूस पत्र वङ्ग-दर्पण या वङ्ग-प्रभा क्या उसे दे आये हो ? सुबह से उसी को लिये बैठी है । मैं उसे पत्र-पाठ में डूबी हुई देख रूठ कर चला आया हूँ ।

यह सुन कर ख़ुशी से मेरी तबीअत फड़क उठी । बँगला-साहित्य पर निर्मला का इतना अनुराग देख मैंने मन ही मन उसे सराहा । निर्मला कोई लेख लिखती तो उसे संशोधित कर मैं वङ्गप्रभा में प्रकाशित कर देता ।

सतीश ने निर्मला के विषय में बहुत बातें कीं । इन दोनों नये प्रेमियों के सुख से मेरा हृदय भी आनन्द और उत्साह से भर गया ।

सतीश ने कहा—अब जाता हूँ । तुम कैसे घर में टिके हो, यही देखने आया था । अब चाय पीने के समय तुम से भेंट होगी । आओगे न ?

मैं—चाय के समय आज मुलाक़ात न होगी। मिसेस् सेन ने तो मुझे बुलाया नहीं है।

सतीश—वाह उन्होंने तो बुलाया है। मैंने ख़ुद सुना है।

"नहीं भाई! उन्होंने तो सिर्फ़ इतना ही कहा है—'यदि आवें'।"

सतीश—तुम्हारी समझ की बलिहारी है! यह निमन्त्रण न हुआ तो क्या हुआ? तुम्हारा यह मतलब कि वे तुम्हारे दर्वाज़े पर आ कर गले में कपड़ा डाल हाथ जोड़ कर यथाविधि शास्त्रमतानुसार निमन्त्रण देतीं तभी निमन्त्रण होता। वाह! बिलकुल ही सतयुग के बन गये!

मैं—तुम जो चाहे कहो, परन्तु मैं आज कदापि न आ सकूँगा। न जाने से क्या अशिष्टता हुई जाती है? तुम लोगों की चाल-ढाल विलायती है। मैं ठहरा एक बङ्गाली। तुम्हारी एटीकेट फेटीकेट नहीं जानता।

सतीश ने गम्भीरतापूर्वक कहा—न जाओगे तो बड़ी अभद्रता होगी।

सुन कर मैं अपने ऊपर बहुत ख़फ़ा हुआ। उसी समय मिसेस् सेन से कुछ टाल मटोल कर देना चाहिए था। इतना ही कह देता तो क्या होता कि "कल न आ सकूँगा, एक ज़रूरी काम है।" सो यह तो कहा नहीं, उलझ गया इस तर्क में कि यह निमन्त्रण हुआ कि नहीं।

सतीश ने हँस कर कहा—नहीं नहीं, यह बड़ी अभद्रता न होगी। इतना चिन्तित मत हो। फिर भेंट होने पर सिर्फ़ क्षमा-प्रार्थना करने ही से दोष छूट हो जायगा। किन्तु आओगे क्यों नहीं? मैं तुम्हें निमन्त्रण देता हूँ। अवश्य आना।

मैंने यथार्थ कारण छिपा कर कहा—आज एक विशेष प्रयोजन—

सतीश—विशेष प्रयोजन कल होगा। आज तो आना ही, आने की चेष्टा करना।—यह कह कर वह चल दिया।

मैंने मन ही मन प्रतिज्ञा की—जो जी में आवे कहो, मैं तो अब नहीं जाऊँगा।

किन्तु ज्यों ज्यों समय क़रीब आने लगा त्यों त्यों मेरे मन में अकेलेपन का विशेष अनुभव होने लगा। दशहरे की वक्तृता निर्मला को कैसी रुची ?—यह जानने के लिए चित्त उत्सुक हो गया। विशेष कर मेरे लिखे "नारीजीवन का आदर्श" शीर्षक लेख के सम्बन्ध में। क्योंकि वह प्रवन्ध निर्मला की श्रेणी की जो आज कल की नई रोशनी की स्त्रियाँ हैं ख़ास कर उन्हीं के लिए लिखा गया है। वह प्रवन्ध पढ़ कर निर्मला ने क्या समझा, इस प्रवन्ध पर उसका मतामत जानना आवश्यक है। इसलिए चार बजते बजते मैंने जाने का ही निश्चय किया।

पाँचवाँ परिच्छेद।

मैंने जा कर देखा, ड्राइंग रूम में कोई न था। मैं एक कुरसी पर बैठ गया। कुछ ही देर बाद निर्मला आई। वह मुसकुराती हुई नमस्कार करके बोली—बड़ा सौभाग्य है। आपके आगमन से तो हम लोग निराश हो बैठी थीं। पिता जी, माता, और सतीश बाबू बाग़ देखने गये हैं। सतीश बाबू ने कहा था कि आप आज न आवेंगे। 'आज आपको बहुत काम है।' कोई नया लेख तो नहीं लिखा जा रहा है ?

मैं—हाँ, आज ज़रूरी काम था। इसीसे कहा था—

निर्मला—अच्छा, वङ्गप्रभा में आप के घंटे रोज़ ख़र्च करते हैं?

"मेरा क़रीब क़रीब सब समय वङ्गप्रभा ही में व्यतीत होता है। वङ्गप्रभा के सिवा मुझे और कोई काम भी तो नहीं। दिन भर उसी में लगा रहता हूँ।"

निर्मला—अच्छा करते हैं। मैं भी चाहती हूँ कि इसी तरह साहित्य की चर्चा में दिन रात लगी रहूँ। किन्तु आपके निकट इस मत को व्यक्त करना दुःसाहस का काम है।

मैंने पूछा—सो क्यों?

निर्मला—आपने 'नारीजीवन का आदर्श' शीर्षक प्रवन्ध में जिन बातों का ज़िक्र किया है वे विशेष विवेचनीय हैं। आपके विचार से स्त्रियों का प्रधान कर्मक्षेत्र घर है। अपने सुख-दुःख का कुछ ख़याल न कर के शुद्धभाव से पतिसेवा में सदा तत्पर रहना ही यथार्थ नारी-धर्म है।

"तब तो आपने यह प्रबन्ध पढ़ा है।"

निर्मला—पढ़ा है? सब पढ़ डाला है। कल रात को चार-पाई पर पढ़ते पढ़ते ऊँघ गई। जाग कर देखा कि शमादान की मोमबत्ती बिलकुल जल गई है, उसका थोड़ा सा हिस्सा रह गया था, जो खूब तेज़ी से जल रहा था। उससे सारे घर को भयानक रूप से प्रकाशित देख कर मैं अकचका गई।

मैं—कुशल हुई कि कोई अनिष्ट घटना नहीं हुई।

निर्मला ने मुसकरा कर कहा—यदि आपकी वङ्गप्रभा के कारण मेरी मसहरी में आग लग जाती, और मैं जल जाती तो

यह दुर्घटना अनेक पत्रों में प्रकाशित होने से आपकी वङ्गप्रभा का एक दफ़े अच्छा विज्ञापन चमक जाता।

इसके उत्तर में मैंने कुछ कहना चाहा, पर कोई बात ऐसी न सूझी जो कही जाती। सिर्फ़ एक उपमा मेरे मस्तिष्क में घूमने लगी। वह यह कि जिस मोमबत्ती के जलने की बात यह कह रही है वैसी ही कोमलाङ्गिनी क्या यह भी है और उसकी उज्वल शिखा की भाँति दीप्तिमती है? मैं सूखी हँसी हँस कर बोला—बँगला साहित्य पर आपकी इतनी भक्ति है तो आप बँगला लिखतीं क्यों नहीं?

निर्मला—मेरा लेख कौन पढ़ेगा? और उसे छापेहीगा कौन?

मेरे मन में पूरा सन्देह हुआ कि निर्मला छिपे तौर से कुछ कुछ लिखती है, किन्तु स्पष्ट रूप से पूछने का साहस न हुआ।

सम्पादकता के प्रसङ्ग में छोटी कहानी की बात चली। मैंने कहा—हर महीने एक छोटी आख्यायिका छापने की जो रीति जारी हुई है उससे कभी कभी अच्छी कहानी न मिलने पर सम्पादक को बड़ी कठिनाई होती है।

निर्मला—मेरे एक मित्र छोटी छोटी कहानियाँ लिखते हैं। मेरे पास एक लिखी रक्खी है। आप देखेंगे?

अगर मैं जानता कि यह बला मेरे सिर आयेगी तो छोटी कहानी का प्रसंग ही न छेड़ता। सम्पादकीय कोल्हू पेरते पेरते हम लोगों को नवसिखिये साहित्य-सेवियों की लिखी अनेक कहानियाँ पढ़नी पड़ती हैं। यही एक महीने की छुट्टी ले कर मैं पहाड़ पर घूमने आया हूँ, सो यहाँ भी वह आफ़त मेरे पीछे लगी आई। क्या करता, निरुपाय होकर मैंने निर्मला से कहा—हाँ, क्यों न देखूँगा? दीजिएगा, देखूँगा।

निर्मला—देख कर आपको अपना सच्चा मतामत मुझसे कहना होगा ।

मैं—बेशक कहूँगा ।

निर्मला—मेरे मित्र का लेख जान कर समालोचना में कुछ कसर न रख छोड़िएगा ।

मैं—यदि आप मेरा यथार्थ मत सुना चाहती हैं तो मैं कोई बात न छिपाऊँगा, सब सच सच कहूँगा ।

निर्मला उसी समय उठ कर भीतर गई और कई मिनट बाद रूल खिंचे हुए फुलसकेप के आधे ताव की एक कापी, सुन्दर अक्षरों से लिखी हुई, ले आई । उसका कोना लाल रेशम से नथा हुआ था । उसने वह कापी मेरे हाथ में दी । मैंने प्रथम पृष्ठ देखते ही उससे कहा—लेखक नया जान पड़ता है ।

निर्मला—हाँ, आपने क्योंकर जाना ?

मैं—नये लेखक बड़े यत्न से पुष्ट अक्षरों में खूब साफ़ साफ़ लिखते हैं । पुराने लेखकों के अक्षर प्रायः अस्पष्ट होते हैं ।

यह कह कर सम्पादकीय अभ्यास-वशतः आख़िरी पृष्ठ उलट कर लेखक का नाम देखना चाहा । पर नाम लिखा न था । मैंने लेख के अन्तिम पृष्ठ की हर एक पंक्ति पर दृष्टि दौड़ा कर देखा कि लेख के चरितनायक या नायिका ने विष खाया है या नहीं । नये लेखक के नायक-नायिका प्रायः अन्त में जीवित नहीं रहते । पर इस कहानी में वह बात न थी । नायक और नायिका दोनों ही जीते थे । इससे बहुत कुछ सन्तोष हुआ ।

सन्देह हुआ, यह लेख शायद निर्मला ही का लिखा है । कितने ही शर्मीले लेखक दूसरे को अपना लेख दिखाते समय पहले पहले मित्र का लिखा बताया करते हैं ।

मैंने निर्मला से कहा—मैं स्थान पर जाकर आज इस लेख को पढ़ूँगा। इसके सम्बन्ध में, जो कुछ भला-बुरा मेरी समझ में आवेगा, कल आकर आपसे कहूँगा।

लेख निर्मला ही का लिखा मालूम होता था। मतामत कैसे वाक्यों में प्रकट करूँगा, इसके लिए मेरे पास बँधे हुए वाक्य हैं। इनसे अक्सर काम लेना पड़ता है। मित्र-सम्पर्कीय नये लेखकों के लेखों की समालोचना हज़ारों दफ़े की होगी। समालोचना की सब बातें निर्णीत हैं उन्हीं में से चुन कर कुछ कह देना होगा। जैसे "कहीं कहीं ख़ूब चित्ताकर्षक है,"—"भाषा विशेष परिष्कृत न होने पर भी भाव अच्छा है,"—"अभ्यास रखने से कुछ दिन में अच्छे लेखक होने की आशा है।" इत्यादि।

अन्त में सभी लोग आ गये। चाय पीने के अनन्तर घर में ही बैठ कर मन-बहलाव की बात-चीत होने लगी। घूमने के लिए बाहर जाने की जो बात थी वह आज मुलतवी रही।

छठा परिच्छेद।

घर जाकर मैंने वह कहानी पढ़ी। देखा, मैंने बड़ी भूल की है। प्रथम यह कि रचना नये लेखक की नहीं है, लेखक सिद्ध-हस्त है और भाषा भी ओजस्विनी तथा संयत है। दूसरे निर्मला का लिखा नहीं है। इतने दिन से मैं व्यर्थ सम्पादकता नहीं कर रहा हूँ। किसका लिखा है, यह भी मालूम हो गया। गौरीकान्त राय की लिखी कहानी है। उनसे साक्षात् परिचय नहीं, सुना है वे ढाका की तरफ़ कहीं रहते हैं। मैंने उनके अनेक लेख पढ़े हैं। नये लेखकों में वे प्रधान लेखक हैं। उनके लेख में त्रुटियाँ भी

बहुत हैं, पर ये असल में थोड़ी उम्र की भूलें हैं जो क्रमशः सुधर जायँगी।

दूसरे दिन मैंने निर्मला के पास जाकर लेख की बड़ाई की। दो एक जगह दोष भी दिखलाये, किन्तु ज़्यादा झुकाव मेरा प्रशंसा ही की ओर था।

मैंने पूछा—लेखक कम उम्र के मालूम होते हैं।

निर्मला—हाँ, उम्र में मुझसे कुछ बड़े हैं।

मैं—जान पड़ता है, उनसे आपकी गाढ़ी मित्रता है?

निर्मला—हाँ, मेरे हार्दिक मित्र हैं।

मुझे यह बात सुनने में अच्छी न लगी। एक युवती कुमारिका का एक युवा 'हार्दिक मित्र' कैसे होगा?

मैंने पूछा—क्या इनके दो-एक लेख हमें नहीं मिल सकते?

निर्मला—क्यों? क्या सचमुच आपका जी मेरे मित्र के लेख पर ललच गया है?

मैं—हाँ, मैं चाहता हूँ।

निर्मला—अच्छा, उनका कोई लेख आपको देने की चेष्टा करूँगी। किन्तु यह नहीं।

मैं—आपके पास क्या उनके बहुत से लेख हैं?

निर्मला—उनके कितने ही लेख मेरे पास पड़े हैं। नवीन लेख समाप्त होते ही वे मेरे पास भेज देते हैं।

मैंने मन ही मन सोचा—लक्षण अच्छा नहीं। इतनी अन्तरङ्गता! और कहा—तब तो आप उनकी प्रधान पाठिका हैं।

निर्मला—कम से कम पहली। समस्त पाठक-पाठिकाओं की अपेक्षा उनके लेख की मैं ही विशेष भक्त हूँ।

मैं—मैं उनका नाम सुन सकता हूँ?

निर्मला ज़रा सोच कर बोली—"गौरीकान्त राय।" नाम बतलाते समय उसके कपोल कुछ लाल हो गये।

इससे सतीश के लिए मुझे दुःख हुआ।

इसके बाद गौरीकान्त के प्रकाशित लेखों के सम्बन्ध में बातें होने लगीं। मैंने कहा—उनका नव-प्रकाशित 'नन्दरानी' उपन्यास समालोचनार्थ मेरे पास आया है।

इसके अनन्तर दो-तीन दिन तक निर्मला के साथ गौरीकान्त राय के लेख-विषय पर समालोचना होती रही। निर्मला गौरीकान्त की एकान्त भक्त है, इसमें सन्देह न रहा। निर्मला पर मैं मन ही मन कुढ़ने लगा।

सातवाँ परिच्छेद।

सतीश ने अब तक सेन-दम्पती से निर्मला के पाणिग्रहण की प्रार्थना नहीं की। प्रार्थना करने भर की देरी है, स्वीकार हो ही गी। मेरा तो यही दृढ़ विश्वास है। डाक्टर सेन के जामाता होने के लिए सतीश जैसे लालायित हैं वैसे ही सेन महाशय भी सतीश के श्वशुर होने को उत्सुक हैं। इन लोगों का पारस्परिक वर्ताव देख कर कई दिनों से यही स्पष्ट अनुमान होता है।

किन्तु गौरीकान्त वाला गूढ़-रहस्य मुझे बड़ी उलझन में डाले हुए है। स्त्री-पुरुष के बीच "हार्दिक मित्रता" का क्या आशय? मैं बिलकुल ही न समझ सका।

कुछ दिन बाद मेरा अनुमान प्रत्यक्ष हुआ। सतीश और

निर्मला का ब्याह हो गया। निर्मला का बँगला-साहित्य पर विशेष अनुराग था किन्तु सतीश बँगला-साहित्य का नाम सुनते ही जल उठता था। इधर गौरीकान्त एक प्रतिभाशाली लेखक है। उसने संसार की समस्त स्त्रीजाति में से निर्मला ही को चुन कर अपने साहित्य की संगिनी बनाया है। निर्मला का मन भी गौरीकान्त के प्रति बेतरह खिंचा हुआ है। किन्तु यह एक गुप्त बीज-स्वरूप है। कौन जाने, इससे भविष्य में किस क़िस्म का वृक्ष उत्पन्न होगा।

मैं यह न होने दूँगा। मैं अपने मित्र के दाम्पत्य-जीवन को कण्टकमय न होने दूँगा। निर्मला ने गौरीकान्त की पूजा के लिए अपने मन में जो भक्तिमन्दिर की प्रतिष्ठा की है उस मन्दिर को मैं समालोचना-वज्र से भस्म कर डालूँगा। मैं दिखला दूँगा कि नवीन वङ्ग में गौरीकान्त से भी बढ़ बढ़ कर प्रतिभावान् लेखक हैं। मैं गौरीकान्त की भाषा की भूलें निकालूँगा, व्याकरण की ग़लतियाँ दिखाऊँगा, नूतन और पुरातन साहित्य के ग्रन्थों में गौरीकान्त के किस भाव का कहाँ सादृश्य है उसे खोज निकालूँगा। अपने पत्र में दोनों स्थलों को पास ही पास उद्धृत करके गौरीकान्त को चोट्टा सिद्ध करूँगा। इस प्रकार लगातार समालोचना की भरमार से निर्मला के मन में विश्वास उपजा दूँगा कि उसका पूज्य देवता निरा मिट्टी का पुतला है, उसके भीतर कूड़ा-करकट भरा है। सतीश को निर्मला के कपट-प्रेम से बचाने की चेष्टा करूँगा और निर्मला का भी यथासाध्य उपकार करूँगा। इन दोनों की रक्षा आत्मरक्षा ही के समान समझूँगा। घर का रुपया ख़र्च कर इतने दिनों से वङ्गप्रभा चलाता आया हूँ। मेरी समालोचना का वाग्दण्ड छोटे बड़े सभी लेखकों के लिए विभीषिका है। इस दफ़े उस दण्ड की सहायता

से मित्र का काम निकालना होगा। एक बार मेरे मन में सन्देह हुआ कि इससे सम्पादकीय कर्तव्य में कुछ बट्टा तो न लगेगा; किन्तु अनुकूल युक्ति सोच कर मन को सहज ही में सन्देह-रहित कर लिया।

इस प्रकार निश्चय करके पहले 'नन्दरानी' की बहुत कड़ी समालोचना लिख डाली। कार्तिक के अङ्क में छपने के लिए समालोचना को कलकत्ते भेज दिया। यथा समय आर्डर-प्रूफ़ आया। आर्डर-प्रूफ़ में कहीं कहीं समालोचना को और भी तीव्र कर दिया। उस दिन पिछले पहर दिन को सतीश मेरे पास आया। मेरी टेबल पर "नन्दरानी" को देखकर उसने उठा लिया। मैंने जल्दी में कहा—हाँ, हाँ, उसे मत छूओ; वह बँगला पुस्तक है।

सतीश ने कहा—तुम इस पुस्तक के पीछे कई दिनों से इस तरह पड़े हो कि एक सप्ताह से हम लोगों की तरफ़ जाते तक नहीं। मैं जब आता हूँ तभी तुम्हें इस पुस्तक को लेकर कुछ न कुछ लिखते ही देखता हूँ। इसी लिए इसका हरण करने आया हूँ।

मैं—मैं इस पुस्तक की समालोचना कर रहा था। अब तुम इसे ले जा सकते हो। समालोचना पूरी हो चुकी।

सतीश—समालोचना समाप्त हो चुकी?

मैं—जी हाँ, अभी अभी तो आर्डर-प्रूफ़ डाक में भेजा है।

सतीश को बँगला-साहित्य की ख़बर लेते देख मैं सोचने लगा, बात क्या है।

सतीश मेरे मुँह की ओर देख कर हँसने लगा।

मैं—क्या है, कुछ कहो भी तो।

सतीश—मैं अपने जीवन का एक गुप्त रहस्य तुमसे कहना चाहता हूँ। सिर्फ़ "नन्दरानी" की समालोचना तुम्हारे पत्र में निकलने की प्रतीक्षा कर रहा था।

मैंने अत्यन्त विस्मित होकर कहा—"नन्दरानी" की समालोचना! नन्दरानी की समालोचना के साथ तुम्हारे जीवन के गुप्त-रहस्य का क्या लगाव है?

सतीश—विशेष लगाव है। मैं ही गौरीकान्त राय हूँ।

मैंने अमावस का चाँद देखा। अचरज भरे स्वर में कहा—तुम!

सतीश—देखते नहीं हो, सती माने गौरी और ईश माने कान्त।

मैंने कहा—"सचमुच, तुम्हीं गौरीकान्त हो?" तुरन्त ही नौकर को हाज़िर होने के लिए घंटी बजाई। नौकर के हाज़िर होने पर उससे तार का फ़ार्म मँगवाया।

सतीश ने कहा—मैं जब विलायत में था तब वृटिश म्यूज़ियम में बैठ कर मैंने बँगला साहित्य की अच्छी अच्छी पुस्तकें ख़ूब ध्यान से पढ़ी थीं। इसके बाद लेख लिखने का अभ्यास किया। मैं अपने प्रथम उपन्यास "नन्दरानी" की समालोचना 'वङ्गप्रभा' में प्रकाशित होने की अपेक्षा कर रहा था। कारण यह है कि यदि तुम्हें यह बात पहले मालूम हो जाती तो तुम झूठी प्रशंसा से पुस्तक को गौरव के शिखर पर चढ़ा डालते।

नौकर तार का फ़ार्म लाया। मैंने मैनेजर को सूचना दी—"नन्दरानी" की समालोचना का आर्डर-प्रूफ़ डाक से भेजा है किन्तु वह छापा न जाय, उसकी जगह कोई दूसरा लेख छाप दीजिए।

गृह-सर्प ।

पहला परिच्छेद ।

बैठक की घड़ी में चार बजते ही दादी की नींद टूट गई। वह बिछौने पर बैठ कर आदि-शक्ति भगवती का नाम लेने लगी । पासही उसकी विधवा पोती सुभद्रा सो रही थी। नाम स्मरण करने के अनन्तर उसने सुभद्रा को पुकार कर कहा—बेटी उठो, उठो, आज अमावस है।

जेठ का महीना है। सारी रात ख़ूब गरमी पड़ी है। अभी सवेरे के वक़्त खुली खिड़की से मन्द मन्द हवा आ रही है। सुभद्रा गाढ़ निद्रा में निमग्न है। दादी अब ज़्यादा देर न ठहर सकी। सूर्योदय हो जाने पर गङ्गा-स्नान का पूरा फल न होगा-इसीसे उसने सुभद्रा को फिर पुकारा।

सुभद्रा जाग कर बोली—दादी, सवेरा हो गया इसी से—

दादी ने कहा—बेटी, स्नान करने का सब सामान तैयार है। चलो, जल्दी करो।

साड़ी, अँगौछा, कुशासन और फूल-डाली आदि लेकर दोनों घर से निकलीं । तब कुछ उजेला सा हो गया था। बूढ़ी दादी आगे हुई। उसके पीछे पीछे सुभद्रा चली।

खिड़की के सामने जो शरीफ़े का पेड़ है उसके समीप आकर दादी "अरे राम यह क्या!" कह कर ज़ोर से चिल्ला उठी।

सुभद्रा डर कर बोली—क्या है दादी?

दादी—हाय, हाय ! बड़ा अनर्थ हुआ !

सुभद्रा—क्या हुआ ?

दादी ने उँगली से शरीफ़े के नीचे मरा हुआ एक साँप दिखा दिया। भय से थरथराती हुई सुभद्रा ने पास जाकर देखा, एक छोटा सा मोटा काला साँप लोहू से लथपथ मरा पड़ा है।

सुभद्रा—अयँ ! क्या यह गृह-सर्प है ? क्या यह घर का देवता है ?

दादी—हाँ, वही है, देखती नहीं ? अरे ! किस दुष्ट ने ऐसा काम किया है। बाबा, किसने तुमको इस निर्दयता के साथ मारा है ! किसकी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये !

दादी की आँखों से आँसू टपकने लगे। गङ्गा-स्नान की यात्रा रुक गई। वह रसोई-घर के उसारे में बैठ कर हरिनाम जपने लगी। उसका हाथ थर थर काँपने लगा। उसके साथ हाथ की माला भी हिलने लगी।

दादी की यह दशा देखकर सुभद्रा की आँखों में भी आँसू भर आये। वह खिन्नस्वर में बोली—दादी ! अब क्या होगा ?

दादी—होगा क्या ? मेरा सिर होगा। घोर अन्याय हुआ है। घर के द्वार पर देवता की ब्रह्महत्या हुई है। यह वंश क्या अब रह सकता है ? जो इस घर में रहेगा वह निर्वंश हो जायगा। लक्ष्मी इस जगह को छोड़ कर चली जायगी। हे भगवन् ! हे नारायण ! हे मधुसूदन ! मैं अब बाल-बच्चों को लेकर कहाँ जाऊँ, क्या करूँ ?

घोर आशङ्का से सुभद्रा का मन डावाँ-डोल हो गया। उसकी छाती धड़कने लगी। वह देर तक खड़ी न रह सकी, दादी के

घुटने को थाम कर वहीं बैठ गई। इतने में ही आँगन में सफ़ेद कपड़ा पहने एक स्त्री दिखाई दी।

दादी ने कहा—कौन है? बहू?

"हाँ, मैं हीं हूँ। अभी तक आपको यहीं देखती हूँ। गङ्गा नहाने नहीं गईं?"

दादी—इधर आओ।

सुभद्रा की माँ अपनी सास का करुण कण्ठस्वर सुनकर डर गई और शीघ्र उनके पास आई।

बूढ़ी दादी ने कहा—गङ्गा-स्नान की क्या पूछती हो। गङ्गा अब शीघ्र ही हम लोगों को अपने गर्भ में ले लेंगी। घोर अन्याय हुआ है।

बहू जी—क्या हुआ?

बूढ़ी सास ने सब बात कह सुनाई। बहू सिर पीट कर रोने लगी। बोली—माँ, अच्छी तरह देखा है? गृह-सर्प है? घर के देवता ही हैं?

बूढ़ी माँ—हाँ, गृह-सर्प ही है। चल के देख न लो? यहीं, शरीफ़े के पेड़ के नीचे, पड़े हुए हैं। आज तीन पीढ़ी से वे इस जगह रहते थे। उनकी कृपा से आज तक हम लोगों पर विपत्ति न आई थी। अब हम लोगों का संकट में कौन सहाय होगा? अब हम किसके भरोसे सुख की नींद सोवेंगी? उनकी मृत्यु क्या हुई, हम लोगों का कर्म फूट गया। अब हमारी रक्षा का कोई उपाय नहीं।

धीरे धीरे घर भर के सब लोग जागें। सभी ने यह दुःसंवाद सुना। सुन कर सभी का मुँह उतर गया। इतने में

घर के मालिक भी उठ कर आये । वे गृह-सर्प की हत्या देख क्रोध से थर थर काँपते हुए बोले—बतलाओ किसने यह काम किया है ? नहीं तो मैं अभी घर में आग लगा दूँगा ।

यह सुन कर सभी परस्पर एक दूसरे का मुह देखने लगे । इसी समय एक आदमी बोला—यह देखो, इस पेड़ के नीचे लोहू में सनी एक लाठी पड़ी है । लाठी रकसुआ की है । यह उसी साले का काम है ।

सभी ने कहा—ज़रूर उसी का यह काम है ।

लोगों की भीड़ देख कर उसी समय रकसुआ भी वहाँ आ गया । वह जाति का कहार था । अभी कुछ दिन से इनके यहां नौकर हुआ है । शरीर का रङ्ग पकी हुई जामन से कुछ कम काला नहीं है । सिर का अग्रभाग घुटा हुआ था । उम्र बीस वर्ष के लगभग होगी । यह आदमी बङ्गाले में पहले पहल नौकरी करने आया है ।

मालिक ने उसे पुकार कर कहा—"रकसुआ ! इधर आ।" वह उनके पास जाकर खड़ा हो गया ।

मालिक—तोम (तुमने) साँप मारा हय (है) ?

रक०—(गर्व के साथ) हाँ, हम (ने) मारा है ।

मालिक—काहे मारा ?

रक०—साँप, आदमी का दुश्मन है । मारा तो क्या हुआ ?

मालिक—क्या हुआ रे साले ? तेरे बाप-दादे का पाला पोसा साँप था ?

रकसुआ पीछे हट कर उद्दण्ड भाव से बोला—बाबू, मुँह सँभाल कर बोलो ।

यह सुनते ही मालिक क्रोध से भूत की तरह रकसुआ के ऊपर टूट पड़े। पाँव से जूता निकाल कर पटापट उसे पीटने लगे। उसका गला पकड़ कर—"निकल जा साले, तू अभी यहाँ से निकल जा" कहते हुए वे उसे दर्वाज़े से बाहर कर आये।

दूसरा परिच्छेद।

क्रमशः पूर्व दिशा में लाली छा गई। सूर्योदय हो गया। धूप निकल आई। पड़ोसी लोग एक एक कर आने तथा सहानुभूति के साथ साथ सान्त्वना देने लगे। लोगों के बहुत समझाने पर भी उस दिन उनके घर चूल्हा न जला।

पुरोहित ख़बर पाकर दौड़े आये। बूढ़ी माँ उनके पास जा हाथ जोड़ कर बोली—बाबा, इस विपत्ति में रक्षा करो। ऐसा करो जिसमें मेरा घर आबाद रहे। जो कहीं न हुआ था वह अन्याय आज मेरे यहाँ हो गया।

पुरोहित ने कहा—कुछ भय नहीं माँ, डरो मत। भगवान् सब कुशल करेंगे। तुम लोगों ने तो कुछ किया है नहीं। तुम लोगों का इसमें क्या अपराध है! रह गई एक बात, घर के पास जो गृह-सर्प की हत्या हुई, इस धरती पर जो इनका लोहू गिरा, यह बड़े दौर्भाग्य का विषय है। ब्रह्मरक्त को देख कर मेरा भी हृदय काँप रहा है।

एक पड़ोसी ने कहा—पुरोहित महाशय, अब क्या कर्तव्य है?

पुरोहित—प्रथम कर्तव्य तो यही है कि अब इनकी चिता की तैयारी हो। ब्रह्मोचित रीति से इनका अग्नि-संस्कार करना

होगा। शास्त्रानुसार इनके मुँह में स्वर्णखण्ड देकर इनके मृत कलेवर को गङ्गातट पर ले चलना होगा।

महल्ले के लड़कों ने जैसे ही सुना कि गङ्गा के किनारे ले जाकर मृत-सर्प का अग्नि-संस्कार होगा वैसे ही उन्होंने संकल्प किया कि आज स्कूल न जायँगे।

गृह-सर्प की लाश उठा कर गङ्गा-किनारे ले जाने के लिए खटोली तैयार की गई। पुरोहित महाशय ने कहा—तुम लोग कुछ सोच न करो। गृह-देव सर्प-देह में कष्ट पा रहे थे, मुक्त हो गये। इनकी मृत्यु से तुम लोगों को तीन दिन का अशौच हुआ। तीन दिन का अशौच ग्रहण करो। सावन की नागपञ्चमी के दिन ब्राह्मण को स्वर्ण-दान और एक साधारण प्रायश्चित्त है सो कर डालो। उसी से सब पाप कट जाँयगे, सब दोषों की शान्ति हो जायगी। गृह-सर्प कुल-देवता होते हैं। शास्त्र में इसका प्रमाण है—

"सर्वं वास्तुमया देवा सर्वं वास्तुमयं जगत्।
पृथ्वीधरस्तु विज्ञेयो वासुदेव नमोस्तु ते॥"

पुरोहित ने साँप के मुँह में स्वर्ण-खण्ड रखकर उसे नवीन वस्त्र से आच्छादित कर नई तैयार की हुई मृत-शय्या पर रख दिया। किन्तु कोई युवक उसको उठा कर ले जाने को राज़ी न हुआ। सभी ने कहा—साँप का विश्वास नहीं। सुनते हैं कि वह मर कर फिर जी उठता है। लड़कों ने कहा—कुछ परवा नहीं। आप लोग हट जाइए, हम लोग ले जायँगे।

छोटी सी खटोली को दो तरफ़ से दो लड़के उठा कर ले चले। उसके पीछे पीछे परिवार वाले और इष्ट मित्र चले। अड़ोस-पड़ोस के लोग भी पीछे हो लिये। रास्ते में लोगों की

संख्या क्रमशः बढ़ने लगी। जब गृह-सर्प की खटोली मरघट में पहुँची तब इतने लोग इकट्ठे हुए कि गाँव का कोई ज़मींदार मरता तो भी शायद उतने लोग जमा न होते।

विधि-पूर्वक सर्प का दाह-कर्म हुआ। गङ्गा नहा नहा कर सब लोग घर लौटे। सबके पश्चात् पुरोहित महाशय चिता की भस्म गङ्गा-जल में फेंक नहा-धोकर घर आ गये।

तीसरा परिच्छेद।

इसी अस्वाभाविक शोक में दिन भर बीत गया। सन्ध्या समय घर का मालिक दालान के बरामदे में बैठ कर हुक़ा पी रहा था। एक दिया जल रहा था। सदर फाटक खुला था। रकसुआ धीरे धीरे आकर दालान के सामने आँगन में खड़ा हुआ। उसके हाथ में एक हाँड़ी थी। हाँड़ी का मुँह ढकने से अच्छी तरह बन्द किया हुआ था।

वह बरामदे के नीचे आ खड़ा हुआ। बूढ़ी माँ ने दूर से ही पूछा—"कौन है, रकसुआ तो नहीं?" उसने पहले चारों ओर अच्छी तरह देख लिया, किसी को पास न देख कर कहा—"बाबू, हमने आपका एक साँप मार डाला है—उसके बदले दो साँप लाये हैं, लो।" यह कह कर हाँड़ी को धड़ाम से मालिक के पैर के पास फेंक कर वह जान लेकर भागा। हाँड़ी फूटते ही उसमें से दो साँप निकल पड़े। बाबू भय से उछल कर "अरे बाप रे!" कह कर भागने लगे पर साँपों ने दौड़ कर उनके पैर में डस लिया। मालिक के भयङ्कर चीत्कार से घर के लोग दौड़ कर

आये । देखा, घर का स्वामी धरती पर पड़ा हुआ आँखों की अर्धमुद्रित अवस्था में क्षीण-स्वर में कह रहा है—हरे नारायण ब्रह्म ! हरे नारायण कृष्ण ! हरे वासुदेव !

बूढ़ी माँ अपने पुत्र की यह दशा देख व्याकुल हो उठी। उसने बेटे को उठाकर गोद में बिठाया । अभी अभी जो घटना हुई है वह उसने अपनी आँखों देखी है । उसने निश्चय किया कि हो न हो यह गृह-सर्प की हत्या का ही फल है । सुभद्रा और सुभद्रा की माँ उच्च स्वर से रोने लगीं । किसी ने कहा—पुरोहित महाशय के स्वस्त्ययन में कुछ भूल हुई होगी, इसी से यह विघ्न हुआ है। अगर त्रुटि न हुई होती तो गृह-देवता सन्तुष्ट हो जाते ।

उपस्थित लोगों में जो सब से अधिक बलवान् था वह सब की प्रेरणा से तान्त्रिक को बुलाने दौड़ा । बस्ती के प्रान्त में एक मल्लाह रहता था । वह मशहूर सर्प-चिकित्सक था । दूर दूर के लोग उसे बुलाने आते थे । उसकी बात से ज़ाहिर हुआ कि उसी के यहाँ से एक कहार ने पाँच रुपये में दो साँप मोल लिये थे।

सर्प-चिकित्सक मल्लाह ने आकर कहा—उसी साले का यह काम है । अगर मैं यह जानता तो क्या उसके हाथ साँप बेचता? पाँच रुपये की कौन कहे, पचास रुपया देने से भी न देता । उस बदमाश ने कहा था, "मैं साँप मार कर दवाई बनाऊँगा ।" इसी से दिया, नहीं तो हर्गिज़ न देता । हाय हाय !

रोगी की नाड़ी देख कर चिकित्सक का मुँह प्रसन्न हो उठा। उसने कहा—कोई भय नहीं । आप लोगों के और अपने बाप-दादा के पुण्य से मैंने उसे भूल से दोनों विष-दन्त-विहीन साँप दिये थे । ईश्वर ने बड़ा कुशल किया । धन्य भगवान् ! मैं नर-हत्या के पाप से बच गया । विष का कोई लक्षण देखने में नहीं

आता । सिर्फ़ थोड़े से लोहू का नुकसान हुआ है । विष से नहीं, केवल भय से ये इस तरह अचेत हो गये हैं । डरने की कोई बात नहीं । आप लोग धीरज रखिए, देखिए ये बहुत जल्द अच्छे होते हैं ।

बूढ़ी माँ दीर्घ निःश्वास लेकर बोली—जय माँ दुर्गे !

रोगी ने आँख खोल कर पूछा—ठीक जानते हो, साँप ज़हरीला तो न था ?

चिकित्सक ने रुष्ट हो कर कहा—महाशय ! मैं ही न जानूँगा तो कौन जानेगा ? मैं साँप का ही तो रोज़गार करता हूँ ।

गृह-पति उठ खड़े हुए । गृह-देवता उन पर अनुकूल हुए । श्रावण की नाग-पञ्चमी को भट्टाचार्य्य के मतानुसार उनके यहाँ धूमधाम से नाग-पूजा हुई । किन्तु गृह-स्वामी ने कहार मात्र को फिर कभी अपने यहाँ नौकर न रक्खा ।



सच्चरित्र ।

पहला परिच्छेद ।

जिस बुधवार के गज़ट में ख़बर निकली कि सुरेन्द्रनाथ सम्मानसहित बी० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ है उसके दूसरे ही बुधवार को भागलपुर से उसके चाचा का मृत्यु-संवाद आया।

सुरेन्द्रनाथ जब बालक था तभी उसके पिता का देहान्त हो गया था। इससे इस पितृहीन सुरेन्द्र को और इसके दो और भाइयों को चाचा ने ही, भागलपुर में अपने साथ रख, पाल-पोस कर बड़ा किया और लिखाया-पढ़ाया था। इसलिए चाचा की मृत्यु से सुरेन्द्र को फिर पितृहीन होना पड़ा। चाचा के रहते सुरेन्द्र को यह न जान पड़ता था कि वह बे-बाप का है।

उसके चाचा भागलपुर के एक नामी वकील थे। सुरेन्द्रनाथ के भाइयों ने पढ़ने-लिखने में जी न लगाया। इससे वे वकालत का इमतिहान पास न कर सके। तब उनके चाचा ने उन्हें सामान्य नौकरी का प्रबन्ध कर दिया। उनकी इच्छा थी कि सुरेन्द्र क़ानून पास करके वकालत करे। सुरेन्द्रनाथ की भी यही इच्छा थी। किन्तु अचानक उसके चाचा की मृत्यु होने से उसको अब क़ानून पढ़ने के लिए ख़र्च देने वाला कोई न रहा।

सुरेन्द्रनाथ की माँ को सब ने परामर्श दिया—"बेटे का ब्याह कर दो, श्वशुर पढ़ने का ख़र्च दे देगा।" किन्तु सुरेन्द्र ने साफ़ इनकार करके कहा—मैं बिना वकील बने ब्याह न करूँगा।

वह क़ानून पढ़ कर वकील होने का इरादा न छोड़ सका। उसने माँ से कहा—कलकत्ते जाता हूँ। वहाँ प्राइवेट-ट्यूशन से जो कुछ मिलेगा उससे मेरा ख़र्च निकल आवेगा।

सुरेन्द्रनाथ माता के दो एक ज़ेवर बेच बाच कर कुछ रक़म साथ ले कलकत्ते गया और कालिज में नाम लिखा लिया। कई दिन के उद्योग से दस रुपये मासिक का एक प्राइवेट-ट्यूशन भी मिल गया। दस रुपया और मिल जाने से किसी तरह ख़र्च निकल आवेगा। किन्तु इस दस रुपये मासिक का प्रबन्ध होने में बहुत विलम्ब हुआ। घर से जो रुपया लाया था वह बहुत बचा बचा कर ख़र्च करने पर भी चुक गया। सुरेन्द्रनाथ घबरा उठा।

सावन का महीना है। कई दिन से वृष्टि न होने के कारण बड़ी गरमी पड़ती है। साँझ होने के अनन्तर भोजन कर के सुरेन्द्रनाथ अपने कमरे की छत पर टहल रहा है और मन ही मन कुछ सोच रहा है। प्रेसिडेन्सी कालिज की घड़ी में क्रमशः नौ बज कर दस बज गये। अन्यान्य युवकगण भी अपनी छतों पर घूम रहे हैं। कोई सिगरेट पी रहा है। कोई अपने मित्र के साथ ग़पशप कर रहा है। कोई गुन गुना कर थिएटर का गीत गा रहा है।

अकस्मात् सुरेन्द्रनाथ ने नीचे से किसी को पुकारते सुना—"सुरेन्द्रनाथ हैं?" रामधन नौकर बर्तन मल रहा था। उसने जवाब दिया—बाबू छत पर हैं। जाइए; वहीं उनसे भेंट होगी।

आगन्तुक जूता खटखटाता हुआ ज़ीने पर चढ़ने लगा। सुरेन्द्रनाथ उत्सुक होकर आगन्तुक की प्रतीक्षा से खड़ा हो गया।

सुरेन्द्रनाथ ने हुलस कर कहा—अच्छा रजनीकान्त भैया!

रजनीकान्त—सुरेन्द्र, तुम अच्छे हो ?

रजनीकान्त सुरेन्द्रनाथ ही के गाँव का है । उम्र क़रीब पैंतीस वर्ष की होगी । एक महाजन की कोठी में काम करता है । अपनी योग्यता से कहीं अधिक रुपया कमा कर मौज उड़ाता है ।

हैरिसन रोड से बिजली की रौशनी आ रही थी । उस प्रकाश में सुरेन्द्रनाथ ने देखा कि रजनी बाबू के पैरों में रेशमी मोज़े चमक रहे हैं । देशी फूलदार मख़मली जूते की शोभा उसके पैरों में लिपट रही है । रेशमी पञ्जाबी कुरता पहने है । बायें कंधे पर जरी का कामदार डुपट्टा पड़ा है । बालों से ख़ुशबूदार तेल की और मुँह से मद्य की बास आ रही है ।

रजनी०—कहो सुरेन्द्रनाथ, अच्छी तरह हो ?

"हाँ, आपकी कृपा से । आप एकाएक इधर कैसे आनिकले?"

रजनी०—कुछ कहना है । यहाँ नहीं, घर के भीतर चलो ।

सुरेन्द्रनाथ ने धीमे स्वर में कहा—घर में भी तो लोग हैं ?

रजनी०—"तो चलो, मेरे साथ, रास्ते में कहूँगा, कुरता पहन लो ।" यह कह कर रजनीकान्त ने सिगरेट निकाल कर दिया-सलाई जलाई । सुरेन्द्रनाथ नीचे उतर आया । पाँच मिनट बाद दोनों सड़क पर आये । दर्वाज़े के पास एक गाड़ी खड़ी थी । रजनी ने गाड़ी में सवार हो कर सुरेन्द्र को गाड़ी के भीतर आने का संकेत किया ।

सुरेन्द्रनाथ ने उत्सुक हो कर कहा—मुझे कहाँ लिये जाते हो ? जो कहना हो सो यहीं कहो न ?

गाँव में रजनीकान्त सच्चरित्रता का यशोभागी न हो सका । उसे सब लोग आवारा समझते हैं । सुरेन्द्रनाथ की माँ ने उसे

कलकत्ते आने के पूर्व ही वारंबार चिता दिया था कि रजनीकान्त की सङ्गत में पड़ कर बिगड़ मत जाना। दुःसङ्ग से बचे रहना, नहीं तो सब पढ़ना-लिखना मिट्टी में मिल जायगा। यह बात सुरेन्द्र को याद आ गई।

रजनीकान्त ने कहा—मैं थिएटर देखने जाता हूँ। यहाँ खड़े हो कर कहने लगूँ तो देर होगी। चलो, रास्ते में तुमसे सब कहूँगा। क्या इतनी दूर भी तुम मेरे साथ न जा सकोगे। देखता हूँ, बड़े नवाब बने जाते हो! आओ, आओ।

सुरेन्द्रनाथ मजबूर हो गाड़ी में बैठ गया। रजनीकान्त ने कोचवान को हुक्म दिया—विड्न स्ट्रीट।

दूसरा परिच्छेद।

गाड़ी चलने पर सुरेन्द्रनाथ ने पूछा—कहिए बात क्या है?

रजनी०—तुम्हारे लिए एक प्राइवेट-ट्यूशन ढूँढ़ दिया है।

सुरेन्द्रनाथ प्रसन्न होकर बोला—कहाँ? कितने का?

रजनी०—कार्नवालिस स्ट्रीट में, पच्चीस रुपये मासिक का।

सरेन्द्रनाथ सुनकर बहुत ख़ुश हुआ, बोला—पच्चीस रुपया! अच्छा, किस वक़्त पढ़ाना होगा? कै घंटे रोज़?

रजनी०—दिन के पिछले पहर, दो घंटे।

सुरेन्द्र०—क्या पढ़ाना होगा?

रजनी—घंटे भर बँगला, और घंटे भर अँगरेज़ी।

सुरेन्द्रनाथ ने सोचा कि इतना अधिक वेतन देता है तो ज़रूर छात्रों की संख्या अधिक होगी। इसलिए पूछा—लड़के कितने हैं?

रजनी०—"एक भी नहीं"। इतना कह कर वह सिगरेट पीने लगा।

सुरेन्द्रनाथ ने कहा—एक भी नहीं, इसके मानी?

रजनी०—लड़का एक भी नहीं है। सिर्फ़ एक लड़की है।

सुरेन्द्र०—लड़की? कितनी बड़ी है?

रजनीकान्त ने हँस कर कहा—इन बातों की खोज करने का क्या काम? तुम जाना और उसको पढ़ा देना। उम्र कितनी ही हो।

सुरेन्द्रनाथ कुछ सकपकाकर बोला—सो नहीं, यों ही पूछता हूँ।

रजनीकान्त ने हर्षित हो कर कहा—उम्र पन्द्रह वर्ष की होगी।

सुरेन्द्रनाथ ने उम्र सुन कर पूछा—ब्राह्मो?

"नहीं।"

"किरिस्तान?"

"नहीं।"

"तो क्या हिन्दू की लड़की है?"

"हाँ, है तो हिन्दू की ही।"

"हिन्दू की इतनी बड़ी लड़की पढ़ेगी? किसकी लड़की है? उसके बाप का नाम क्या है?"

रजनीकान्त ने हँस कर कहा—बाप का नाम भगवान् जानें, माँ का नाम पूछो तो बता सकता हूँ।

सुरेन्द्रनाथ ने उत्तरोत्तर आश्चर्ययुक्त होकर पूछा—क्या नाम है?

रजनी०—आमोदिनी। बंगाल की आमोदिनी। नाम सुना है?

आमोदिनी का नाम सुनते ही सुरेन्द्र का सब उत्साह भंग हो गया। उसने लम्बी साँस लेकर कहा—सुना है।

रजनीकान्त—तो मञ्जूर करते हो?

सुरेन्द्रनाथ ने दृढ़तापूर्वक कहा—मुझ से न होगा।

रजनी०—क्यों?

सुरेन्द्रनाथ ने उत्तेजित भाव से कहा—ओफ़! वेश्या की लड़की को पढ़ाऊँगा? यह मुझ से कभी न होगा।

रजनी०—तू बड़ा गधा है। क्यों न पढ़ावेगा! इसमें क्या हानि है?

सुरेन्द्र०—बहुत हानि है।

रजनी०—क्या यह द्रव्य सच्ची कमाई का न होगा?

सुरेन्द्र०—होगा क्यों नहीं?

रजनी०—तो क्या समझते हो, "पीछे कहीं लोभ में न पड़ जाऊँ?"

सुरेन्द्र ने हृदय प्रौढ़ करके कहा—इसका आप सन्देह न करें।

रजनी०—तो क्या बात है, स्पष्ट कहो।

सुरेन्द्र०—वेश्या की लड़की को पढ़ाऊँगा तो लोग सुन कर क्या कहेंगे?

रजनीकान्त ने निरादर की हँसी हँस कर कहा—तू बी० ए० पास करके भी गधे का गधा ही बना रहा। लोग क्या कहेंगे, इसी डर से सिकुड़ा जा रहा है। दूसरे के हँसने से कोई अपना कर्त्तव्य न करेगा?

सुरेन्द्रनाथ चुप हो रहा। रजनीकान्त ने कहा—सुनो, यह उज्र किसी काम का नहीं। मान लो, लोग हँसेंगे। जानेंगे तब तो? उन्हें इसकी ख़बर क्योंकर लगेगी? तुम कहाँ किस को पढ़ाने जाते हो, या नहीं जाते हो। इन बातों का ज़िक्र किसी के साथ करने की ज़रूरत क्या? तब रही एक बात यह कि अगर तुम अपने दिल को कमज़ोर समझो, तुम्हारे हृदय में यथेष्ट बल न हो, तुम अपने आप को रोकने में समर्थ न हो, अपने चरित्र को ठीक न रख सको तो अवश्य तुमको यह काम लेना उचित नहीं। अच्छी तरह अपने मन को तौल कर देख लो।

सुरेन्द्रनाथ को अपने चरित्र-बल के ऊपर पूर्ण विश्वास था। इस बात से उसकी सच्चरित्रता के अभिमान पर आघात लगा। उसने गर्व के साथ कहा—उसके लिए आप कोई चिन्ता न करें।

रजनी०—तो यह काम मञ्जूर कर लो। रुपया लेने से मतलब। जो रुपया दे उसका काम करना। वह हिन्दू हो चाहे मुसलमान। चोरी डकैती करना या मुफ़्त में किसी से कुछ छल कपट करके लेना ज़रूर बुरा है।

सुरेन्द्रनाथ ने सोच कर कहा—यदि घर के लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे?

रजनी०—फिर वही बात। घर के लोग कैसे जानेंगे कि यहाँ

तुम क्या करते हो। यह कलकत्ता शहर समुद्र है। किसकी कौन ख़बर रखता है?

इसी समय गाड़ी थिएटर के फाटक पर जा पहुँची। रजनीकान्त ने कहा—तो क्या कहते हो? अब आमोदिनी से भेंट होगी, उससे क्या कह दूँ?

सुरेन्द्रनाथ ने एक बार चाहा कि साफ़ 'इनकार' कर दूँ, फिर उसने सोचा, इतनी जल्दी क्या पड़ी है, दो दिन बाद ही कह दूँगा। उसने कहा—"रजनी भैया, सोच कर दो एक दिन में आप से कहूँगा।" यह कह कर उसने जाना चाहा।

रजनी०—"अच्छा, जैसी राय हो मुझे लिख भेजना। पर एक बात तुमसे कहे देता हूँ। यदि तुम अपने को सही सलामत रख सको, चित्त ज़रा भी इधर उधर चल विचल न होने दो तो यह काम करना, नहीं तो अलग ही रहना अच्छा। हम लोग तो बरबाद हो ही चुके; तुम अभी लड़के हो। तुमको अभी से सावधान होकर चलना अच्छा है।" यह कह कर रजनीकान्त नाट्यशाला के भीतर गया। सुरेन्द्रनाथ धीरे धीरे सोचता विचारता घर लौट आया।

तीसरा परिच्छेद।

उस रात में सुरेन्द्रनाथ को अच्छी नींद न आई। अधिक समय सोचने ही में बीता। दूसरे दिन भी चिन्ता का तार बराबर बँधा रहा। वह सोचने लगा, यदि अस्वीकार करता हूँ तो रजनीकान्त मन में यही कहेंगे कि अपने चरित्र-बल पर

पूर्ण विश्वास न होने ही से मैं इस कार्य में प्रवृत्त न हो सका। इस भाव के साथ द्रव्य की संकीर्णता भी मन को प्रबल रूप से बाधित करने लगी। पचीस रुपया कुछ कम नहीं है। समय भी दो ही घंटा। पचीस और दस मिल कर पैंतीस होते हैं। यदि बीस रुपया महीना ख़र्च करूँगा तो भी १५) बचेंगे। यदि तीन वर्ष लगातार १५) रुपया मासिक जमा किया जाय तो पाँच सौ रुपये से कुछ अधिक की रक़म हाथ आ जायगी। क़ानूनी परीक्षा दे करके उस रुपये से वकालत करना शुरू कर दूँगा।

फिर उसने सोचा, यदि मैं तीन वर्ष तक वेश्या की लड़की को पढ़ाऊँगा तो क्या इतने दिनों तक बात छिपी रहेगी? छिः छिः! बड़ी निन्दा होगी।

आख़िर उसने निश्चय किया कि तब तक एक काम किया जाय। कुछ दिन के लिए वह कार्य स्वीकार किये लेता हूँ। इधर दूसरे प्राइवेट-ट्यूशन की घात में रहूँगा। दूसरा ट्यूशन मिलते ही इसे छोड़ दूँगा। रजनीकान्त ने ठीक ही कहा है। परिश्रम करूँगा, रुपया लूँगा। रुपया किसी जाति का हो, इससे मुझे क्या? मुझे उन बातों की खोज करने की ज़रूरत?

किन्तु जब जब लोगों में इस बात के ज़ाहिर होने का भय उसके मन में उदित होता था तब तब उसका उत्साह मन्द पड़ जाता था। परन्तु रजनीकान्त इसकी भी औषध दे गया है। "कलकत्ता शहर समुद्र है—कौन किसकी ख़बर रखता है?"

सुरेन्द्रनाथ भली भाँति सोच विचार कर रजनीकान्त को चिट्ठी लिखने बैठा। चिट्ठी लिखी गई। तब उसे लिफ़ाफ़े में रख कर सतर्क हो सोचने लगा—चिट्ठी भेजना एक तहरीरी सबूत

हो जायगा, ऐसा क्यों करूँ ? सम्भव है, इससे किसी दिन फँस जाना पड़े। बेहतर है रजनी भैया से ज़बानी ही कह आऊँ।

सुरेन्द्रनाथ ने चिट्ठी फाड़ कर आग में जला डाली। कुरता पहना और कन्धे पर डुपट्टा डाल कर वह घर से निकल, इधर उधर घूमता हुआ कुछ देर में बहूबाज़ार में रजनीकान्त के यहाँ पहुँचा। देखा, रजनीकान्त मित्रों के साथ चौसर खेल रहा है और ब्रांडी भी पीता जाता है।

सुरेन्द्रनाथ चुपचाप बैठ कर खेल देखने लगा। जब बाज़ी ख़तम हो गई तब रजनीकान्त ने उससे पूछा—कहो क्या ख़बर है ?

सुरेन्द्र०—ख़बर अच्छी है। आपसे कुछ कहना है।

"अच्छा ठहरो" कह कर गिलास के मद्य को निःशेष करके रजनी बोला—इधर आओ।

दोनों उठ कर एकान्त में गये। रजनी ने कहा—क्या तय हुआ ?

सुरेन्द्र०—मञ्ज़ूर करने का विचार किया है।

रजनी०—किन्तु भाई ! ख़ूब सावधानी के साथ रहना। मैं तुमको बचपन से ही जानता हूँ। तुम्हारा स्वभाव बहुत अच्छा है। इसी से साहस कर के तुमको इस ख़तरे की जगह में जाने देता हूँ। मैंने आमोदिनी से गर्व के साथ कहा है कि "वह बड़ा सज्जन और सच्चरित्र है।" मेरी बात ऊपर रखना, देखना नीति के विरुद्ध कभी कोई काम न कर बैठना।

सुरेन्द्र०—क्यों भैया, सच्चरित्रता के पीछे ये लोग इतना क्यों पड़ी हैं ?

रजनी०—अरे ! यह तुम नहीं समझ सके ? बी० ए० पास किया, पर अभी तक कोरे के कोरे बने रहे। क्यों पड़ी है, इसका सबब तुमसे कहता हूँ, सुनो। आमोदिनी उत्तम एक्ट (अभिनय) करती है। वह खुद लिखी पढ़ी है। वह अपनी लड़की को बढ़िया अभिनेत्री बनाना चाहती है। इसी से पढ़ाना-लिखाना चाहती है। ये पहले पहल अपनी लड़की के लिए बूढ़े पण्डितों को ढूँढ़ ढूँढ़ कर रखती थीं, किन्तु बूढ़े होने ही से क्या होगा। बुढ़ापे में तो लोगों का शौक़ और भी बढ़ जाता है। वे पढ़ाते-लिखाते कुछ नहीं, सिर्फ़ झाड़ झपट बता कर अपना मतलब निकालते हैं। कोई कोई तो लड़की ही को उड़ा ले जाते हैं। इसी से ये अब सच्चरित्र ट्यूटर खोजती हैं। कालिज के विद्यार्थी बहुधा सच्चरित्र होते हैं, उनकी जाँच पड़ताल कर के रखने से कोई भय नहीं रहता। समझ गये न ?

सुरेन्द्र०—"अच्छा, यह बात है।" उसे यह सोच कर मन में गर्व होने लगा कि "मैं कालिज का एक सच्चरित्र विद्यार्थी समझा जाता हूँ।" जो लोग स्वयं पापपङ्क में लिप्त हैं, वे भी इस विशुद्धता का मूल्य जानते हैं और इसे आदरणीय समझते हैं।

रजनीकान्त ने कहा—मैं तुमको आमोदिनी का पता बताये देता हूँ। कल या परसों जाकर तुम अपना ठीक ठाक कर लेना।

सुरेन्द्र०—नहीं भाई साहब, मैं अकेला न जा सकूँगा ?

रजनी०—क्यों ? कार्नवालिस स्ट्रीट नहीं जानते ?

सुरेन्द्र०—जानता तो हूँ पर अकेला मैं न जा सकूँगा।

रजनीकान्त—तू बड़ा गधा है ! अच्छा, कल दुपहर बाद आना। मैं अपने साथ ले चलूँगा।

दूसरे दिन रजनीकान्त ने सुरेन्द्रनाथ को ले जाकर सब ठीक ठाक कर दिया।

चौथा परिच्छेद।

सुरेन्द्रनाथ की विद्यार्थिनी का नाम नलिनी है। वह मेघनाद-वध, सीतावनवास और रायल रीडर नम्बर थ्री पढ़ती है। वह बड़ी मेधाविनी है। शान्त और सभ्य तो ऐसी है जैसे किसी गृहस्थ के घर की लड़की हो। अँगरेज़ी की कौन किताब पढ़ती हो?—यह पूछने पर नलिनी ने कहा—"रायल रीडर नम्बर थर्ड।" सुरेन्द्रनाथ ने संशोधन कर दिया—"नम्बर थ्री कहो, थर्ड नहीं।" उसने विनीत भाव से "नम्बर थ्री" कह कर अपनी भूल को सुधार लिया।

सुरेन्द्रनाथ ने शनिवार तक नियमित भाव से नलिनी को पढ़ाया। उसकी माँ बीच बीच में आकर उसका पढ़ना सुन जाती थी।

रविवार को तातील थी। आज सुरेन्द्रनाथ को पढ़ाने के लिए जाना न होगा। आज वह स्वच्छन्दतापूर्वक आराम कर सकेगा—यही सोच कर उसकी तबीयत खिल उठी। परन्तु जब वह सोने के लिए चारपाई पर गया तब चित्त को जितना चैन मिलने की आशा थी, न मिला। चिन्ता ने चैन को दबा दिया। कहना भूल गया हूँ, बालिका, जिसे सुरेन्द्रनाथ पढ़ाता है, बड़ी ख़ूबसूरत है। नये यौवन-विकाश ने उसकी सुन्दरता को मानो सजीव कर दिया है। जो कोई एक बार उसे देखता है उसकी आँखों में वह ऐसी गड़ जाती है कि हज़ार चेष्टा करने पर भी

नहीं निकलती। उसकी सुन्दरता आज सुरेन्द्रनाथ की निद्रा में बाधा डाल रही है। निद्रा के स्थान में सुन्दरता आ बसी है, इससे निद्रा को वहाँ तक आने का साहस नहीं होता। इन दोनों के बीच में चिन्ता एक और ही रङ्ग जमा रही है। कभी तो निद्रा की सिफ़ारिश करती है और कभी सुन्दरता की सहेली बन उसका गुण गाती है।

दूसरे सप्ताह में सुरेन्द्रनाथ ने पढ़ाते समय बीच बीच में उसके साथ एकाध छोटी सी, पर रोचक, गप भी करना आरम्भ कर दिया। वही भागलपुर का क़िस्सा, अपने गाँव का घर का क़िस्सा और भी देश-देशान्तर की बातें सुनाने लगा। गल्प की अधिकता से किसी दिन नलिनी के पढ़ने में बाधा हो जाती थी; उस त्रुटि को दूर करने के लिए सुरेन्द्रनाथ उस दिन दो घंटे से कुछ अधिक समय ठहर जाता था।

दूसरे सप्ताह के अन्त में जो रविवार आया, वह सुरेन्द्रनाथ को बड़ा ही नीरस जँचा। सुरेन्द्रनाथ दिन भर नलिनी की बात सोचता रहा। अहा! लड़की कैसी भोली भाली है, उसकी चितवन कैसी सीधी है। कैसा अच्छा चाँद सा मुखड़ा है। अभी वह खिले हुए अनाघ्रात, अछूते, गुलाब-फूल की भाँति पवित्र तथा विधाता के हाथ की कारीगरी का एक अपूर्व नमूना जान पड़ती है। न मालूम इसके अदृष्ट में क्या लिखा है? क्या यह भी पाप-पङ्क में लिप्त होगी? जान तो ऐसा ही पड़ता है। हाय! क्या इसके विशुद्ध चरित्र की रक्षा का कोई उपाय नहीं?

उस रात को सुरेन्द्रनाथ ने सपने में देखा कि नदी के किनारे एक अत्यन्त रमणीय तमाल-वन है। उसी वन में वह नलिनी के साथ घूम रहा है।

दूसरे दिन जब वह नलिनी को पढ़ाने गया तब पढ़ाते समय उसने सपने की बात नलिनी से कही।

नलिनी—मैं भी कभी कभी सपना देखती हूँ। अच्छा यह तो बतलाइए, लोग सपना क्यों देखते हैं?

सुरेन्द्रनाथ—इस विषय में अनेक मत हैं। कोई कहते हैं कि दिन में हम लोग जो कुछ देखते सुनते और सोचते हैं, वही रात को स्वप्न में देखा करते हैं। असल में जिन्हें गाढ़ निद्रा का सुख नसीब नहीं होता, विशेष कर वही स्वप्न के झमेले में पड़ कर अकसर आकाश-पाताल की बातें देखा करते हैं।

नलिनी—नहीं मास्टर साहब, यह बात नहीं है। हम लोगों का जो प्राण है वह सपने में घूमता है। जब एक प्राणात्मा से दूसरे प्राणात्मा की भेंट होती है तब दोनों आपस में बातें करते हैं, वही सपना है। किन्तु नींद टूटने पर दोनों के प्राणात्मा अपने ठिकाने आ जाते हैं। इससे एक को सपने की याद बनी रहती है और दूसरा भूल जाता है।

सुरेन्द्रनाथ उसके भोलेपन को मन ही मन सराह कर बोले—हाँ, हो सकता है।

मास्टर साहब के आने पर आमोदिनी की दासी रोज़ टेबल पर दो चार बीड़े पान रख जाती थी। एक दिन सुरेन्द्रनाथ ने कहा—आज के बीड़े और दिनों की अपेक्षा बहुत बढ़िया हैं।

नलिनी बालस्वभाववश गर्व को न रोक सकी। वह बोली—बढ़िया हैं? मास्टर साहब! आज मैंने अपने हाथ से बीड़े बनाये हैं।

सुरेन्द्रनाथ—वाह! तुम ऐसा उमदा पान बनाना जानती

हो ? हमारे यहाँ मेस में जैसे पान लगाये जाते हैं, उनके सम्बन्ध में कुछ न कहना ही भला।

दूसरे दिन नलिनी को पढ़ाकर जब सुरेन्द्रनाथ जाने लगा तब नलिनी ने कहा—मास्टर साहब, आपके यहाँ पान अच्छा नहीं बनता, यह कल आपने कहा था। मैंने थोड़े से पान लगा कर रक्खे हैं। आप लेते जायँगे ?

सुरेन्द्रनाथ पान ले कर स्नेह भरे कण्ठ से बोला—"तुम तो लक्ष्मी हो।" यह कह कर नलिनी को मन ही मन सराहता हुआ अपने स्थान को चला आया।

नलिनी को उसकी माँ ने स्वतन्त्र रीति से पाला-पोसा है तथापि सुरेन्द्रनाथ के पास वह जिस संसार का मिष्ट संवाद पाती थी वह संसार उसके लिए बिलकुल नया था। नलिनी जिस संसार की रीति भाँति बाल्यकाल से ही देख रही थी, जिस संसार का दृश्य उसके रोम रोम में घुसा था, उस संसार में और सुरेन्द्रनाथ के मुँह से सुने हुए नूतन संसार में बड़ा भेद है। सुरेन्द्रनाथ जब अपनी माँ की, चाची की तथा और अनेक सती साध्वियों की बातें और चचेरी बहन के व्याह की गल्प उसे सुनाया करता था तब एक अनिर्दिष्ट अभिलाष से उस का हृदय भर जाता था। सुरेन्द्रनाथ का सामाजिक तथा पारिवारिक समाचार नलिनी को वैसा ही प्रिय मालूम होता था जैसा प्यासे को ठंडा पानी। वह सुरेन्द्रनाथ के प्रति एक अपूर्व आकर्षण का अनुभव करने लगी।

सुरेन्द्रनाथ भी नलिनी के कण्ठस्वर की कोमलता, हृदय की सरलता और यौवन का अपूर्व विकास देख कर एक नये संसार में पहुँच गया। जिन बातों का उसने कभी स्वप्न में भी अनुभव

न किया था वे अब उसकी आँखों के सामने खड़ी रहने लगीं। उसने अपने मानसिक परिवर्तन की ओर लक्ष्य किया, पर उसके प्रतीकार की कोई चेष्टा न की। सोचा कि मेरा मन हाथ से निकल गया है।

आख़िर सुरेन्द्रनाथ ने बुरी सङ्गत से नलिनी के उद्धार करने का पक्का विचार किया। इसी में उसने मानव जन्म की सफलता और पुरुषार्थता समझी। आन्तरिक-प्रेम-सम्बन्ध से कर्तव्य का मार्ग अत्यन्त सीधा जान पड़ा। इसी से उसने अपना हृद्गत भाव नलिनी पर व्यक्त करने में कुछ समय की अपेक्षा न की। उसके हृदय को श्रद्धा, आशा, और सात्विक सुख से पुलकित और उच्छ्वसित करके उसने कहा—तुम अब से मुझे अपना पति समझो। विना तुमको पाये मैं सुखी न होऊँगा और न तुम मेरे विना सुखी रह सकोगी। मैं तुमको अपनी धर्मपत्नी बनाकर रक्खूँगा। लोगों के हँसने की कुछ परवा न करूँगा। दुनिया बहुत बड़ी है। हम तुम दोनों कहीं ऐसी जगह जा कर रहेंगे जहाँ लोगों का ताना न सहना पड़ेगा। तुम कहोगी, खायँगी क्या? इसका जवाब है—परिश्रम करूँगा। आवश्यकता होगी तो हम-तुम दोनों मिल कर परिश्रम करेंगे। दोनों वक्त खाने को न मिलेगा तो एक ही वक्त खा कर रहेंगे। तो भी हम लोग सुखी रहेंगे।

सूर्यास्त हो गया। अँधेरा होते देख दासी घर में लैम्प रख गई। सुरेन्द्रनाथ के आगे नलिनी के अनुवाद की कापी थी। उसके संशोधन के लिए वह दहने हाथ में क़लम लिये था। किन्तु उसका बाँयाँ हाथ नलिनी के हाथ की कोमलता का अनुभव कर रहा था। जब दासी के पैरों की आहट सुन पड़ी तब दोनों ने डर कर हाथ खींच लिया।

पाँचवाँ परिच्छेद।

इस प्रकार खुले तौर से प्रेम-संभाषण के अनन्तर चार सप्ताह तक सुरेन्द्रनाथ और नलिनी दोनों अभिनव प्रेम के नशे में चूर रहे। दोनों मनोरथ के रथ में सवार हो प्रेमोद्यान के विश्वास-पथ पर विचरने लगे।

आज रविवार है। फिर यह सत्यानाशी रविवार कहाँ से आ पहुँचा। सुरेन्द्रनाथ का जी पहले ही से काँप रहा था। उसने दिन तो किसी तरह बिताया पर रात पहाड़ हो गई। कब उदय होगा, कब सूर्य भगवान् दर्शन देंगे—यही धुन उसके जी में समा रही थी। राम राम कर सबेरा हुआ। सुरेन्द्रनाथ आज नलिनी का खिला चेहरा देखेगा, इस आशा पर उसका दुःख आधा हो गया। अब छः दिन लगातार नियमित समय पर सुरेन्द्रनाथ के नयन-मधुप नलिनी का मुखकमल देखकर तृप्त हो सकेंगे।

सुरेन्द्रनाथ आज नियमित समय से कुछ पहले ही नलिनी को पढ़ाने गया। जाकर सुना, नलिनी नहीं है। वह अपनी मौसी के घर गई है। आमोदिनी ने सुरेन्द्रनाथ से कहा—"नलिनी अभी कई महीने वहीं रहेगी। कलकत्ते की आब-हवा उसे बरदाश्त नहीं होती। उसके आने पर यदि आवश्यकता होगी तो फिर आपको ख़बर दूँगी।" यह कह कर उसने सुरेन्द्रनाथ का वेतन चुका दिया।

बेचारा सुरेन्द्रनाथ अपना सा मुँह लेकर चला आया। किन्तु वह अपने स्थान पर न आया। क़िले के मैदान में, एकान्त स्थान ढूँढ़कर, हरी घास पर बैठ रहा। वह सोचने लगा, हाय यह क्या हुआ! बिना बादल के एकाएक वज्रपात क्यों? शनिवार

को जब मैं नलिनी के पास से विदा हुआ था, मालूम होता है तब उसे अन्यत्र जाने की ख़बर न थी। अगर उसे पहले से अपने जाने की बात मालूम होती तो ज़रूर मुझ से कहती। अवश्य ही वह कहीं छिपा कर भेज दी गई है।

गई! वह भी दो चार दिन के लिए नहीं, महीनों के लिए। कब तक वहाँ रहेगी, इसका भी कुछ ठिकाना नहीं। यह एक बहाना है कि कलकत्ते की आब-हवा बरदाश्त न होती थी। आज दो महीने से मैं बराबर उसे देखता हूँ। कभी तो उसकी तबीयत ख़राब होते नहीं देखी।

क्रमशः अन्धकार हुआ। आकाश में तारे निकल आये। गैस की रोशनी सड़कों पर जलाई जाने लगी। रात हो गई। सुरेन्द्रनाथ उसी तरह सिर पर हाथ रक्खे बैठा बैठा नलिनी की बात सोच रहा है।

एक दिन नलिनी ने उससे कहा था कि "मैं संकट के बीच घिरी हूँ"। सुरेन्द्रनाथ को अब उसका अर्थ अच्छी तरह मालूम हुआ। उसी संकट से इस घटना का भी कोई सम्बन्ध है। शायद उसकी माँ स्वार्थ-साधन के लिए उस पर कोई ज़ुल्म कर रही है। नलिनी अभी कहाँ किस अवस्था में होगी, यह सोचकर सुरेन्द्रनाथ की आँखों से टप टप आँसू गिरने लगे।

इस एक महीने की कितनी ही घटनाएँ, कितना ही सुख, कितने ही हास्य-विनोद और कितने ही मधुर वचन सुरेन्द्रनाथ को स्मरण होने लगे। ज्यों ज्यों इन बातों की सुध आने लगी त्यों त्यों उसका कलेजा टूक टूक होकर फटने लगा। हाय! अब नलिनी से भेंट न होगी!

सुरेन्द्रनाथ बैठा न रह सका, शोक के कारण उसी जगह

घास पर लेट गया। दस बजे रात तक वह बालक की भाँति बराबर रोता रहा। दस बज जाने पर वह उठा और धीरे धीरे घर पर आया।

एक सप्ताह उसने बड़ी बेचैनी से काटा। इसके बाद शोक का वेग जब कुछ कम हुआ तब उसे चेत हुआ। कहीं से उसके प्राण पलट आये। वह ठंडी साँस भरकर मन में कहने लगा—बहुत बचा, कहाँ बहा जा रहा था। सर्वनाश होने में कुछ कसर न रह गई थी। मैं बेढब फन्दे में पड़ गया था। ईश्वर ने मुझे इस महा-मोह-बन्धन से छुड़ा दिया, यह मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात हुई। मैं ख़ुद उस फन्दे से कदापि न निकल सकता। मैं इस अगाध प्रेम-समुद्र में बहकर न जाने कहाँ जा पड़ता। यदि सुनता कि उसकी माँ उस पर अत्याचार कर रही है तो कदाचित् उसी समय उसको लेकर कहीं चल देता। फिर जन्म भर के लिए अपने गाँव-घर का मुँह देखने को न मिलता। इस जीवन में किसी तरह सिर से कलङ्क का टीका न मिट सकता।

सुरेन्द्रनाथ इस महोपकार के लिए ईश्वर को बराबर धन्यवाद देने लगा।

दो सप्ताह के अनन्तर सुरेन्द्र का हृदय एकदम निर्विकार हो गया। जिसको वह मोहावस्था में सुख का कारण समझ उसके बिना जीवन को तुच्छ समझ बैठा था उसी को अब चेतनावस्था में दुःख का मूल समझ उससे पिण्ड छुटाने पर ख़ुशी मना रहा है। चित्त की वृत्ति भी बड़ी विचित्र होती है। वह कब किसे किस तरफ़ घसीट ले जायगी, यह कौन जान सकता है?

दशहरे की छुट्टी समीप आ गई। अब केवल दो सप्ताह बाक़ी हैं। सुरेन्द्र साँझ को कोठे की छत पर टहलता हुआ बङ्किम बाबू का 'धर्मतत्त्व' पढ़ रहा था। दासी ने आकर उसको एक चिट्ठी दी। पता पढ़ कर सुरेन्द्र का हृदय काँप उठा। नलिनी के हाथ के अक्षर थे। मुहर देखी, तो 'भवानीपुर' डाकघर की थी। उसमें लिखा था—

४४/१ नं० नीलमणि वसु की गली,

भवानीपुर।

प्रियतम !

आज एक महीने से आपको देखने का सौभाग्य नहीं हुआ। किसी तरह जीती हूँ। बड़े कष्ट में हूँ। आज बहुत दिन के बाद लिखने का अवसर मिला है। बहुत लिखने का मुझे समय नहीं। यहाँ मुझ पर संगीन पहरा है। मैं दिन-रात बतौर क़ैदी के रहती हूँ। जो वृद्धा मेरी रखवाली करती है उसकी लड़की आई है। मैंने उसके साथ नेह जोड़ कर उसी की सहायता से यह पत्र डाक में छुड़वाने का अवसर पाया है।

जिस दिन आप से आख़िरी भेंट हुई उस दिन साँझ को माँ ने मुझे बहुत गालियाँ दीं और धमकाया। मैं रोने लगी। वह आप की बात पूछने लगी। मैंने स्पष्ट कह दिया कि मैं उन्हें हृदय से चाहती हूँ। माँ ने कहा—"कहीं का एक भिखमंगा आदमी, अपने ही खाने को मुहताज है; जो मेरी सहायता से पेट पालता है उसकी जोरू बन कर तू कौन सुख भोगेगी ? मान लो, अगर मैं उसके साथ तुझे ब्याह भी दूँ तो वह कै दिन तेरे पास रहेगा ? बदनामी के डर से दो ही दिन बाद तुझे छोड़ देगा"। और भी उसने कहा—"अब उस (आप) से तेरी भेंट न

होने दूँगी, अब तू उसे न देखने पावेगी। उसे अब एक दम भूल जा"।

दूसरे दिन सबेरे ही माँ मुझे गाड़ी में बन्द करके यहाँ पहुँचा गई। मैं एक महीने से बराबर शोक-सागर में पड़ी हूँ। आप से अलग होने का दुःख दिनों-दिन बढ़ता ही जाता है। मैं क्षण भर के लिए भी आप को नहीं भूलती, इसी भरोसे पर ढाढ़स बाँधे बैठी हूँ कि किसी दिन आपके दर्शन होहींगे।

मेरे सम्पर्क से आपकी क्या अवस्था होगी, यह भी मैं जानती हूँ। इस सम्बन्ध से लोग आप को क्या कहेंगे, इसका स्मरण होते ही मेरा कलेजा फटने लगता है। अगर आपके सम्मिलन से एक मुझी को सुख मिलता तो मैं आपके जीवन के सुख-मार्ग में काँटा न बनती। किन्तु प्राणनाथ! बिना मुझ को पाये आप भी तो सुखी न होंगे; यह पक्का विश्वास आपने मेरे हृदय में जमा दिया है। मैं केवल अपने ही सुख के लिए नहीं, किन्तु विशेष कर आपके सुख के लिए आप से मिला चाहती हूँ और सदा के लिए आप की दासी बन आप को सुखी करना चाहती हूँ।

मेरे इस पत्र का उत्तर आप डाक द्वारा न दें। कल साँझ को आप चिट्ठी हाथ में लिये आवें। भवानीपुर में जो पद्म-पोखर है, उसके उत्तर-पच्छिम के कोने में आप खड़े रहें। एक स्त्री आप का नाम लेकर पुकारेगी। आप उसी को पत्र दे दीजिएगा। मेरे पास पहुँच जायगा।

आप ठीक सात बजे साँझ को आवें।

आपकी प्रेमपात्री,

नलिनी।

पत्र पढ़ कर सुरेन्द्र नीचे उतर आया। दासी को पुकार कर उससे दो आने की मिठाई जल-पान के लिए मँगाई। फिर अपनी चीज़-वस्तु सँभाली। सुरेन्द्र ने अपने साथियों सेकहा—घर से चिट्ठी आई है। मेरी माँ बहुत बीमार हैं। मैं अभी जाता हूँ।

जल-पान करके सुरेन्द्र ने नौकर से कहा—"रामधन, एक गाड़ी जल्द ले आओ।" घोड़े-गाड़ी में असबाब रख कर सुरेन्द्र सवार हुआ और हवड़ा स्टेशन पर गया। ग्यारह बजे रात को घर पहुँच गया। उसने माँ से कहा—कलकत्ते में बड़े ज़ोर का हैज़ा फैला था, इसी से मैं चला आया हूँ।

———

समझ का फेर।

पहला परिच्छेद।

बड़े दिन की तातील मधुपुर में बिताने के लिए सख़्त तक़ाज़ा है। जाना ही पड़ेगा। मधुपुर में हमारा एक छोटा सा बँगला है। शीतकाल में प्रायः हमारे घर के कितने ही लोग वहाँ जाकर रहते हैं। इस दफ़े बड़ी बहन अपने बेटे-बेटियों को लेकर वहाँ गई है। भाई नरेन्द्रनाथ इस साल बी० ए० की परीक्षा देगा। वहीं रहकर वह अपना अध्ययन करता है और उन लोगों की देख-भाल भी रखता है। हमारी भानजी प्रमदा ने मधुपुर से चिट्ठी लिखी है। चिट्ठी में उसने ऐसे विनीत शब्दों का प्रयोग किया है, और हमारे आने के लिए इतनी प्रार्थना की है जिसे सुन कर जाने ही का विचार हुआ। इस लिए हम ज़रूरी सामान साथ लेकर तीन बजे दिन को हवड़ा स्टेशन पर पहुँचे।

ओफ़! उस दिन की भीड़ का क्या कहना है। परन्तु कुशल यही थी कि भीड़ भले आदमियों की थी। उनमें अधिकांश नव-युवक थे। सब साफ़-सुथरे, उत्तम वस्त्र पहने, सुगन्ध लगाये, स्टेशन की शोभा बढ़ा रहे थे। सभी उत्साह से भरे थे। सभी के मुँह पर प्रसन्नता का चिह्न झलक रहा था। हमें ऐसा जान पड़ा जैसे कलकत्ते के अधिकांश तरुण विरही, आपस में मेल कर के, एक साथ ससुराल जाने के लिए ट्रेन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस तरह की भीड़ उद्वेगजनक नहीं होती, वरंच विनोदवर्द्धक ही होती है।

गाड़ी चली। युवकों ने उच्च हास्य और सिगरेट के धुएँ से कमरे को भर दिया। हुगली तक ख़ूब भीड़ रही। इसके बाद कुछ कम होने लगी। पाँडुआ स्टेशन पर एक मोटेमल प्रौढ़ देहाती बाबू हमारी गाड़ी में आये। उनके सिर पर एक काला गुलूबंद लिपटा था। आँखों में चाँदी का फ्रेम-युक्त चश्मा लगा था। पुरानी चाल की अबीरी रङ्ग की बानात ओढ़े थे। पाँव में गरम मोजा और उस पर अँगरेज़ी जूता था। उमर पचास वर्ष के लगभग होगी।

बाबू के साथ में बहुत लोग आये थे। असबाब भी कुछ कम न था। उनके असबाब से सारा डब्बा भर गया। नीचे से एक आदमी ने कहा—"गाड़ी में सब चीज़ें आ गईं न? कुछ रह तो नहीं गया? एक दफ़े गिन कर सब चीज़ों को अच्छी तरह देख लीजिए।" सुनते ही बाबू ने ख़ूब उच्च स्वर से एक दो करके असबाब गिनना आरम्भ किया। इतने में गाड़ी चलने की घंटी बजी।

दो तीन दफ़े गिन कर बाबू बोले—"क्यों रे सात ही क्यों? देख, देख; कोई एक चीज़ नीचे रह गई। सब मिलाकर आठ थे न?" गाड़ी चल पड़ी। बाबू खिड़की से सिर निकाल कर ख़ूब ज़ोर से चिल्लाने लगे—"हाँड़ी—हाँड़ी—हाँड़ी—"

एक आदमी गाड़ी के साथ साथ दौड़ा आया और उनके हाथ में हाँड़ी देने लगा। किन्तु वे उसे पकड़ न सके। हाँड़ी नीचे गिर गई। हम लोगों ने भी उसके फूटने का शब्द सुना।

तब क्रोध से उन्मत्त होकर बाबू साहब बड़े वेग से बेञ्च के ऊपर बैठ गये। उपस्थित व्यक्तियों में वे शायद मुझको श्रेष्ठ समझ कर कहने लगे—देखा महाशय आपने! इतनी बड़ी हाँड़ी सो क्या स्टेशन पर पड़ी रह जाय?

हम उनकी इस नालिश से विलक्षण आनन्द का अनुभव करने लगे। हमने बड़ी मुश्किल से हँसी रोक कर पूछा—हाँड़ी में क्या था?

"महाशय! खाने की वस्तुएँ थीं। दो रुपये से कम की न रही होंगी। गईं, छुट्टी हुई। सब प्लेट-फ़ार्म की मिट्टी में मिल गईं। मैं घर से ही बराबर कहता आता हूँ कि देखना 'कहीं पकवान की हाँड़ी न छूट जाय! पकवान की हाँड़ी न रह जाय'! पर कौन सुनता है। मेरे साथ में इतने लोग थे तो भी किसी को हाँड़ी का ध्यान न रहा। आख़िर वह बरबाद हो ही गया। एक हाँड़ी पकवान मुफ़्त में हाथ से गया। हाँड़ी में भाँति भाँति की मिठाइयाँ भरी थीं। मेरे नसीब में उसका भोग बदा न था। मैं बाज़ार की पूरी-मिठाई भी तो नहीं खाता। वह मुझे हज़म नहीं होती। इसलिए मैं भोजन की सामग्री अपने साथ रखता हूँ। मेरी फूफी आज सबेरे पाँच ही बजे से पकवान बनाने बैठी थी। क्या कहूँ (बाबू ने उँगली पर गिनना शुरू किया) पूरी थी, कचौड़ी थी, मोहनभोग था, आलू और बैंगन की तरकारी थी, सब से उमदा एक चीज़ और थी—मोलनाई के लडडू थे आध सेर। मोलनाई के लड्डू आपने कभी खाये हैं?"

बाबू साहब की वक्तृता का आरम्भ होते ही सहयात्री युवक मुँह छिपा कर हँसने लगे थे, पर मोलनाई के लड्डू का नाम सुनते ही खिलखिला उठे। हमने गम्भीरतापूर्वक कहा—स्मरण तो नहीं होता।

बाबू साहब ने कहा—तो आपने न खाये होंगे। खाते तो ज़रूर याद रहता, वह क्या भूलने की चीज़ है?

हम—हो सकता है।

बाबू०—मोलनाई के लड्डू का आपने नाम कभी नहीं सुना ?

"नहीं, इसका कुछ भी हाल मुझे मालूम नहीं।"

"आप कहाँ से आते हैं ?"

"कलकत्ते से।"

"घर कहाँ है ?"

"कलकत्ते ही।"

बाबू०—ओह ! आप पूरे शहराती मालूम होते हैं। देहात की कुछ भी ख़बर नहीं रखते। अच्छा, मोलनाई के लड्डू की एक कहानी आप से कहता हूँ। ज़रा ठहरिए, एक चिलम तम्बाकू पी लूँ।

यह कहकर वह तम्बाकू पीने लगा। हम इतने दिनों से रेल का सफ़र कर रहे हैं, पर ऐसे विचित्र मनुष्य से कभी भेंट न हुई थी। अफ़सोस यही है कि ऐसे वक्ता के हाथ बंगाले का राजनीति-सम्बन्धी कोई काम नहीं सौंपा गया। हमने एक फ़ायदे की बात सोची। मधुपुर में ट्रेन बड़े बेवक़्—ठीक निद्रा आने के समय—पहुँचती है। ऊँघ जाने से दो एक स्टेशन आगे बढ़ जाने की आशङ्का थी। अब इस वक्ता महाशय की कृपा से जागता रहूँगा। निद्रा देवी कोसों दूर रहकर रूठी रहेगी।

तम्बाकू पीते पीते बाबू ने पूछा—आप का नाम ?

"महानन्द चट्टोपाध्याय।"

बाबू०—मेरा नाम श्रीमदनगोपाल नारायण देव शर्म्मा मुखोपाध्याय है। घर मोलनाई के समीप ही इलछोरा गाँव में है। जिला वर्धमान है। यज्ञेश्वर पण्डित के वंशज हम लोग हैं, शाण्डिल्य गोत्र, सामवेदीय नैकुष्य कुलीन ब्राह्मण। यज्ञेश्वर

परिडत के सात पुत्र थे। "यज्ञेश्वर सुत सात-शङ्कर, शिवदत्त, जानकी नाथ"—हम लोग उन्हीं जानकीनाथ की सन्तान हैं।

यह वक्तृता इतने ही में समाप्त हो गई। इसका कारण यह कि बाबू चिलम फूकने में तन्मय थे। उनका चेहरा कुछ देर पहले करुणभावापन्न था। जान पड़ता है, उदासी का कारण वही हाँड़ी का खोना था। अब चेहरे पर कुछ गर्व का भाव झलकने लगा। मालूम होता है, यह कुल-गौरव के स्मरण से उत्पन्न हुआ है। जो हो, हम बड़े कुतूहल के साथ उनके चेहरे की ओर देखने लगे। गाड़ी बर्धमान आ पहुँची।

हमारे पास चुरुट न था। हम गाड़ी से उतर कर चुरुट ख़रीदने होटल में गये। जब तक गाड़ी रवाना होने की आख़िरी घंटी न बजी तब तक हम बराबर प्लेटफ़ार्म पर टहलते रहे। गाड़ी चलने पर देखा, और लोग उतर गये हैं, सिर्फ़ हमी दोनों आदमी रह गये हैं।

मदनगोपाल बाबू ने मेरी ओर देख कर कहा—"हाँ, तब—सदानन्द बाबू—"

हमने रोक कर कहा—हमारा नाम महानन्द है।

"हाँ, ठीक ठीक ! महानन्द बाबू ! कहाँ तक जाना होगा ?"

"मधुपुर तक।"

बाबू—मैं काशी जाऊँगा। आप तो कुछ देर में मधुपुर पहुँच जाँयगे। दो तीन घंटे और लगेंगे। मुझे तो आज की रात और कल दिन भर गाड़ी ही में रहना होगा। क्या खाकर प्राण-रक्षा करूँगा—इसी की चिन्ता है। कल साँझ तक काशी पहुँचूँगा। काशी में हमारी पूजनीया माता जी रहती हैं। आज तीन साल से काशीवास करती हैं। वे बहुत बूढ़ी हो गई हैं। सत्तर

साल से भी उनकी उम्र कुछ ऊपर होगी। अब भी वे प्रतिदिन तड़के उठकर दशाश्वमेध घाट पर गंगा-स्नान करने जाती हैं। क्या जाड़ा, क्या गरमी, क्या वर्षा, क्या आँधी, कोई दिन बिना गंगा नहाये नहीं रहतीं। सुना है कि पिछले भादों से उन्हें कभी कभी ज्वर हो आता है। इसलिए कहा कि एक बार उन्हें देख आऊँ। हैं तो वे बहुत अच्छी जगह में—किसी तरह का उन्हें कष्ट न होता होगा तथापि जब कान से उनकी बीमारी की ख़बर सुनी तब मैं उनकी सन्तान होकर कैसे चुप बैठ रहता। मेरे गुरुमहाराज के मँझले बेटे काशी के कालिज में अध्यापक हैं। वहाँ वे सकुटुम्ब रहते हैं। उन्हीं के मकान में मेरी माँ रहती हैं। मेरे गुरुपुत्र बड़े सज्जन हैं। न्यायशास्त्र में उनकी बराबरी का विद्वान् प्रायः काशी में कोई नहीं। मेरी ही उम्र के हैं। बाल्यावस्था में हम दोनों साथ ही पढ़ते थे, एक ही साथ खेलते थे। उनकी बुद्धि की सूक्ष्मता बचपन से ही देखी गई थी। अपने सहपाठियों में सब से तेज़ वही थे। सर्वत्र उनकी बुद्धि की प्रशंसा होती थी।

हमने कहा—महाशय, आप चुरुट पीते हैं?

बाबू—हाँ, कभी कभी पीता हूँ। बाल्य-काल में जब मैं कलकत्ते में अँगरेज़ी पढ़ता था तब बहुत पीता था। उस समय तरह तरह के चुरुटों का चलन न था। अच्छा चुरुट है?

हमने कहा—"बुरा नहीं है, देखिए न?" हमने चुरुट का बक्स खोल कर उनके आगे रख दिया। उन्होंने उसमें से एक निकाल कर मुँह में लगाया। हमने भी एक चुरुट होठों से दबा कर दियासलाई जलाई।

गाड़ी रानीगंज पार कर गई। सड़क के दोनों तरफ़ कोयले की खानें हैं। कहीं कहीं, स्तूपाकार कोयले के ढेर में आग लगा

दी गई है जिससे खब प्रकाश हो रहा है। पास ही कुली लोग अपने अपने झोपड़े में बैठे हैं। कोई रसोई बना रहा है। कोई गीत गा रहा है। कोई हुक्का पी रहा है।

हम भी भूखे थे। सोचा, इस समय कुछ खा लें। हमारे साथ टिफ़िन-बास्केट थी, उसमें खाने की चीज़ें थीं। हमने मदन-गोपाल बाबू के सामान को हटा कर अपना भोजन निकाला। विचार किया, हम खायँ और हमारे साथ के ये वृद्ध यात्री भूखे रहें—यह कैसे होगा। अगर हम उनसे खाने के लिए आग्रह करें तो वह खायँगे या नहीं, इसका भी निश्चय नहीं क्योंकि हमारी खाद्य-सामग्री सोलहों आने हिन्दू-धर्म-संगत नहीं है। और वृद्ध महाशय कट्टर हिन्दू मालूम होते हैं। सोच विचार कर हमने उनसे पूछना ही उचित समझा। खायँगे तो बेहतर, नहीं तो क्या किया जायगा। हमने बेञ्च पर भोजन रख कर मदन-गोपाल से कहा—आप जो खाने की वस्तु लाये थे, वह तो नष्ट हो गई। हमारे पास कुछ खाने की चीज़ें हैं। यदि आप को खाने में कोई बाधा न हो तो हम आप दोनों मिल कर खालें।

मदनगोपाल हमारे भोजन की ओर औत्सुक्य-पूर्ण दृष्टि से देख कर बोले—क्या क्या है?

हमने कहा—रोटी है, दो तीन तरह का मांस है और मक्खन मिसरी आदि साधारण वस्तुएँ हैं।

मदन०—मांस हिन्दुओं के खाने लायक़ है या होटल का?

हमने कहा—होटल का नहीं है। हमारे रसोइये का बनाया हुआ है। सिर्फ़ रोटी होटल की है। और सब वस्तुएँ तो हिन्दू मात्र के खाने योग्य हैं।

मदनगोपाल—"तो क्या हर्ज़ है? होटल की रोटी खाने में

मुझे उज़्र नहीं है। जब मैं कलकत्ते में था और अँगरेज़ी पढ़ता था तब मेरे लिए होटल की रोटी पवित्र थी। वह ज़माना ही दूसरा था। उन दिनों छात्र-समाज बड़ा उच्छृङ्खल था।" यह कह कर वे खूब ज़ोर से हँसने लगे।

हम अब उनसे विशेष पूछ-ताछ न करके खाने की वस्तुएँ निकाल कर तश्तरी में सजाने लगे। इसके बाद उनसे पूछा—छुरी-काँटे का भी आप व्यवहार करते हैं?

मदनगोपाल—नहीं भाई, उसकी ज़रूरत नहीं। दीजिए, मैं हाथ से ही खालूँगा।

खाते ही खाते मदनगोपाल ने हिन्दू-धर्म पर वक्तृता देना आरम्भ किया। उस वक्तृता का निचोड़ यही कि मुसलमान के हाथ का छुआ न खाना चाहिए—इसका उल्लेख शास्त्र में कहीं पाया नहीं जाता। क्योंकि जब शास्त्र बना था तब भारत में मुसलमान की पैदाइश ही न थी। जब वे लोग अन्य देश से आकर हम लोगों को सताने लगे, हम लोगों पर अत्याचार करने लगे, तब हम लोगों ने उनसे सख़्त नाराज़ होकर इस प्रकार लोकाचार का प्रचार किया कि यवन के हाथ का छुआ कोई न खाय, उसके हाथ का कोई पानी भी न पिये।

मांस ख़तम हो जाने पर हमने मदनगोपाल से कहा—रोटियाँ रक्खी हैं, मक्खन है, और मर्मलेड भी है। लीजिएगा?

मदनगोपाल—मर्मलेड? हाँ हाँ, दीजिए, खाकर देखें कैसा है?

हमने यथेष्ट दे दिया। भोजन कर चुकने पर मदनगोपाल ने गिलास में पानी ले खिड़की के बाहर मुँह-हाथ धो डाला। फिर अच्छी तरह बानात ओढ़ कर वे बेञ्च पर पैर रख कर बैठ गये।

हमने उनको एक और चुरुट देना चाहा, किन्तु उन्होंने कहा—नहीं, तम्बाकू भरता हूँ।

जब चिलम भर कर उन्होंने हाथ में हुक्का लिया तब हमने कहा—मदन बाबू ! मोलनाई के लड्डू की कहानी तो रही गई।

उन्होंने कहा—अच्छी याद दिलाई। मैं भूला जा रहा था। यह हमारे समय की बात नहीं है। वृद्ध के मुँह से जो सुना है वह आपसे कहता हूँ। सुनिए। बर्धमान के महाराज मोलनाई के लड्डू खाकर बहुत ख़ुश हुए थे। इससे उन्होंने हुक्म दिया था कि "मोलनाई का जो प्रधान हलवाई हो उसे बुला लाओ। वह बर्धमान में रह कर लड्डू बनाया करे।" राजा का हुक्म कैसे टाला जाय। प्रधान हलवाई मिठाई बनाने का सब सामान लेकर बर्धमान आया। लड्डू बनाये, पर वैसे स्वादिष्ठ न हुए। राजा ने हलवाई को बुला कर कहा—"क्यों रे ! लड्डू वैसा स्वादिष्ठ क्यों नहीं है" ? हलवाई ने हाथ जोड़ कर कहा—(यहाँ मदनगोपाल ने भी हाथ जोड़े) "महाराज, कुसूर माफ़ करें तो दास कुछ अर्ज़ करे।" महाराज ने कहा—"माफ़ किया, कहो।" हलवाई बोला—"महाराज, मैं मोलनाई से सिर्फ़ देह लेकर आया हूँ। मोलनाई की मिट्टी और पानी तो ला नहीं सका। वहाँ के मिट्टी-पानी की तासीर ही कुछ और है।" यह कह कर मदनगोपाल ख़ूब हँसने और खाँसने लगे। जब उनकी हँसी और खाँसी रुकी तब बोले—बाबू, मोलनाई का लड्डू बिना खाये उसकी सिफ़त, उसका मज़ा, मालूम न होगा। अच्छा, मुझे काशी से लौटने दीजिए। क्या आप किसी शनिवार या रविवार को मेरे यहाँ नहीं आ सकते ?

हमने कहा—क्यों नहीं ?

मदनगोपाल—तो मैं आपको निमन्त्रण भेजूँगा, अवश्य आइएगा। स्टेशन पर बैलगाड़ी मौजूद रहेगी, आपको ले जायगी। पाँडुआ से इलछोरा बहुत दूर नहीं है। मोलनाई का लड्डू आप को खिला दूँगा और अपना देशी मर्मलेड भी।

हमने आश्चर्ययुक्त होकर कहा—देशी मर्मलेड कैसा होता है? हम नहीं जानते।

मदनगोपाल ने हँस कर कहा—"ओहो! आप बिलकुल शहरी आदमी हैं। शहर से बाहर की कुछ भी ख़बर नहीं रखते। मालूम होता है, आपने कभी धान का पौदा भी नहीं देखा? धान के पौदे में लाल लाल फूल होते हैं, उसका तना बहुत मोटा होता है। चीरने से बड़े बड़े तख़्ते निकलते हैं।" यह कह कर वे फिर हँसने और खाँसने लगे। कुछ स्वस्थ होने पर बोले—मर्मलेड बेल का मुरब्बा है। कलकत्ते में भी तो बहुत मिलता है।

हमने एक बार चुरुट का ख़ूब लम्बा दम लगा कर कहा—क्षमा कीजिए, मर्मलेड का बेल के साथ कोई सम्पर्क नहीं।

"क्या?"

हम—मर्मलेड का बेल के साथ कोई सम्पर्क नहीं है।

मदनगो०—क्यों, मर्मलेड माने क्या? बेल का मुरब्बा नहीं?

"हर्गिज़ नहीं।"

मदनगोपाल—आश्चर्य है! यह तो आप ही को कहते सुनता हूँ। मैं ने बाल्यावस्था में पढ़ा था, बख़ूबी याद है। मर्मलेड माने बेल का मुरब्बा।

"मास्टर ने आप को यही बतलाया था?"

मदन०—हाँ जनाब! बेल का मुरब्बा नहीं तो किसका मुरब्बा?

"यदि मुरब्बा ही कहना है तो नारंगी का मुरब्बा कहिये।"

यह बात सुनकर मदनगोपाल चौंक पड़े। वे संदिग्ध स्वर में बोले—संतरे का मुरब्बा?

हमने उनकी सकपकाहट देखकर सोचा, बात क्या है? आश्चर्य के साथ कहा—हाँ, संतरे ही का।

"संतरे का होता तो बहुत मीठा होता। इसमें तो मीठेपन के साथ साथ कुछ कसैलापन था, यह क्यों?"

"यह हम लोगों के देश की नारङ्गी का नहीं है। स्पेन के सेविल देश में एक प्रकार का संतरा होता है। वह देखने में अपने देश का सा ही होता है। उसका स्वाद कुछ कसैला होता है। उसी का मर्मलेड बनता है।"

मदनगोपाल बाबू के चेहरे पर कुछ चिढ़ने का चिह्न दिखाई देने लगा। उन्होंने कहा—"आप ठीक जानते हैं?" उनका स्वर कुछ कठोर था।

"जी हाँ, ठीक जानता हूँ।"

मदनगोपाल ने मुँह बनाकर कहा—ठीक जानता हूँ!

यह देखकर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ, साथ ही क्रोध भी उत्पन्न हुआ। हमने कहा—"महाशय! मुँह बिगाड़ना शिष्टता का लक्षण नहीं है।" यह कह कर हम ने खिड़की की ओर पीठ कर ली और वेञ्च पर पर रख कर ऊपर लालटेन की ओर देखने लगे।

मदनगोपाल—आप अपने मन से राजा बनते हैं। राम राम! मेरे साथ तुम्हारी क्या शत्रुता थी? हम आज बीस वर्ष से नारङ्गी नहीं खाते। आपने क्यों मुझे नारंगी खिलादी?

हमने कहा—क्यों? वह तो कोई अखाद्य वस्तु नहीं है। उसमें ज़हर भी नहीं होता।

मदन०—तुम्हारे लिए वह भले ही अच्छी चीज़ हो, तुम उसे अमृत ही क्यों न समझो, पर मेरे लिए वह ज़हर ही है। मैं जब संतरा खाता ही नहीं तब तुमने खिलाया क्यों?

हमने भी ज़रा कड़े होकर कहा—वाह साहब! क्या आपने मुझ से यह बात पहले कही थी?

मदनगोपाल फिर मुँह बना कर बोले—वाह साहब! क्या आपने यह बात मुझ से पहले कही थी! आपने उसी समय क्यों नहीं कह दिया कि मर्मलेड नारङ्गी का है?

उनका व्यवहार देख कर मेरा सारा अङ्ग क्रोध से जल उठा। मैंने झल्ला कर कहा—क्यों महाशय, आप इस तरह शिष्टता की सीमा क्यों उल्लंघन करते हैं?

मदन०—जाओ जाओ, तुम्हारे जैसे बीसियों कलकत्ते के बाबू देखे हैं। 'सीमा-लङ्घन करते हैं'। उलटा चोर कोतवाल को डाँटे! शिष्टता की शिक्षा देने आये हैं। छुरी-काँटे से मांस खाना जानने ही से कोई शिष्ट नहीं हो जाता। एक अनजान आदमी जो चीज़ नहीं खाता उसको वह चीज़ खिला देना बड़ी भद्रता है!

हमने कहा—भूख से मर रहे थे—अपने भोजन में से खाने को दिया उसका यह अच्छा प्रतिफल है!

मदन०—मान लो, मैं भूख से मरा ही जा रहा था। तो क्या मैं तुम्हारे आगे रोने गया था, या तुमसे कहने गया था कि मुझे खाने को दो?

हमने रुष्ट होकर कहा—"जो जी में आवे बकिए।" इसके बाद हम कम्बल से मुँह ढक कर बेञ्च पर लेट रहे।

मदनगोपाल आप ही आप अंट संट बकने लगे। धीरे धीरे उन का स्वर कुछ मुलायम होने लगा। हमारे मौन-साधन

ने उनके क्रोध को भड़कने न दिया। "मौनेन कलहोनास्ति।" हमें चुप देख वे ठंढे हुए। पर वे देर तक ठंढे न रह सके, फिर उन्हें हाँड़ी की सुध आते ही शोक उमँड़ पड़ा। हाँड़ी के नुक़सान होने का खेद उनके हृदय को मसोसने लगा। वे बोले—"यदि पकवान की हाँड़ी साथ रहती तो मेरे सिर यह आफ़त क्यों आती? मामूली मर्मलेड खाकर क्यों मैं अपना इतने दिन का नियम भङ्ग करता?" वे इस प्रकार अनुताप करने लगे।

हमने मन में कहा कि हो न हो इसे एक तरह की सनक है। बहुत बकते बकते जब मदनगोपाल थक गये तब तम्बाकू पीने बैठे। हम कम्बल तान कर सोने की चेष्टा कर रहे थे, पर नींद न आई।

मदनगोपाल देर तक हुक्का पीते रहे। क्रमशः गाड़ी आसनसोल में आकर ठहरी। मदनगोपाल ने पुकारा—"चपरासी, ओ चपरासी!" डब्बे के पास एक शख़्स आया। मदनगोपाल ने पूछा—क्यों भाई, कै, बजे हैं?

उसने कहा—साढ़े ग्यारह।

मदनगोपाल—मधुपुर गाड़ी कब पहुँचेगी?

"बारह बजे।"

हमने सोचा, हमारे ऊपर इसे इतना क्रोध हो गया है कि जब तक हम गाड़ी से न उतरेंगे, जब तक यह अपने दुश्मन को रुख़सत न कर लेगा, स्थिर न होगा।

गाड़ी आसनसोल से रवाना हुई। कुछ देर बाद कम्बल पर किसी के हाथ का स्पर्श मालूम हुआ।

"सदानन्द बाबू, उठए, उठिए।"

हमारा नाम सदानन्द नहीं था। इसलिए हमने कुछ जवाब न दिया।

मदनगोपाल—"भैया, उठ बैठो। मधुपुर अब आया ही समझो।" उन्होंने हमको निद्रित समझ जगाने के अभिप्राय से कम्बल खींचा। हमने मुँह पर से कम्बल हटा दिया।

मदन०—भाई नाराज़ मत हो।

हम उठ बैठे। रूखेपन के साथ कहा—तो क्या ग़ुस्से का ठेका आपने ही ले लिया है?

वृद्ध मदनगोपाल मेरी पीठ थपथपा कर बोले—नहीं, नहीं, आपको मेरी सौगंद है। आप उन बातों को एकदम भूल जायँ। मैं वृद्ध हूँ, यदि दो एक बातें मैंने अनर्गल कह डालीं तो क्या आप उससे नाराज़ होंगे? कमज़ोरी के सबब से मेरा दिमाग़ एकाएक गरम हो गया था। इससे मैं सब दोष आप ही का समझ बैठा था। मैं अब आप से क्षमा माँगता हूँ।

हमने देखा, इसका स्वभाव ही ऐसा है। अब भी कह रहा है, "सब दोष आप ही का समझ बैठा था" अर्थात् अब भी इसके मन में यह विश्वास है कि सब न सही तो कुछ न कुछ हमारा भी दोष ज़रूर है। किन्तु वृद्ध महाशय का स्वर ऐसा कोमल और कारुण्यजनक जान पड़ा जिससे हमारा रहा सहा क्रोध जाता रहा। हमने मीठी हँसी हँस कर क्षमा की सूचना दी।

मदनगोपाल ने कहा—मैं सन्तरा क्यों नहीं खाता, इसका कारण यदि आपसे स्पष्ट कह दूँ तो आप समझ जायँगे।

हमने कहा—कहिए।

वे कहने लगे—यह बीस वर्ष की बात है। मैंने एक मनुष्य की हत्या की थी।

हम काँप उठे। विस्मित स्वर में पूछा—मनुष्य-हत्या की थी?

मदनगोपाल—हत्या न कहें तो और क्या कहें? उसे हत्या ही

कहना चाहिए। सुनिए। कहता हूँ. मुद्दत की बात है, न कहूँगा तो आप कैसे जानेंगे ? आप देवता तो हैं नहीं कि बिना कहे सब जान लें। माघ की द्वितीया को मेरी बड़ी लड़की का विवाह होने वाला था, इसलिए मैं पूस के अख़ीर में बाज़ार से कुछ आवश्यक वस्तुएँ लाने के लिए कलकत्ते गया। वहाँ एक 'मेस' में जा कर ठहरा। उसमें कालिज के बहुत से छात्र रहते थे, कोई भी कमरा ख़ाली न था। सिर्फ़ एक कमरे में थोड़ी सी जगह थी। उस में एक ज्वर-पीड़ित युवक पड़ा था। उसका साला भी उसी कमरे में रहता था। बहनोई का नाम केदार और साले का यशोधर था। बहनोई की उमर बीस बाईस वर्ष की थी। यशोधर उससे दो तीन वर्ष छोटा था। वह कालिज जाना छोड़ कर बराबर बहनोई की सेवा-टहल में लगा रहता था। घंटे घंटे पर उसे दवा देता, पसीना पोंछता और पैर दबाता था। रात को उसके पास सावधानी से बैठा रहता था। कौन जाने किस वक्त रोगी को क्या ज़रूरत हो ? कई दिन बहुत कष्ट पाने के अनन्तर वह कुछ स्वस्थ हुआ। ज्वर का वेग बहुत कम पड़ गया। ज्वर सम्बन्धी उपद्रव भी शान्त हो चला। मैं उसी दिन संध्याकाल घर जाने को था। सबेरे माधव बाबू के बाज़ार से एक सौ उम्दा नारङ्गियाँ मोल ले आया। मैंने यशोधर से पूछा—'इस कमरे में बीमार आदमी है, नारङ्गियाँ रखने—" यशोधर ने कहा—'कोई चिन्ता नहीं, ख़ुशी से रखिए।' रखकर मैं फिर बाज़ार से सौदा लाने गया। यशोधर भी बहनोई को कुछ अच्छा देखकर कई दिन बाद कालिज चला गया। मैंने साँझ को डेरे पर आकर देखा, भारी अनर्थ हो गया। केदार सूने घर में लोभ को न रोक सका। उसने चुपचाप बैठे बैठे पंद्रह नारङ्गियाँ खा डालीं जिससे उसे फिर बड़े ज़ोर शोर से बुख़ार चढ़ आया।

ज्वर के ताप से वह बेहोश हो गया। मेरा घर जाना रुक गया। मैं रोगी की सेवा में जी-जान से लग पड़ा। लड़की के व्याह का रुपया खर्च करके अच्छे अच्छे डाक्टर-हकीमों को बुलवाया। कलकत्ते जैसे बड़े शहर में रोगी की उपयुक्त सेवा करने में मैंने कुछ उठा न रक्खा। बिना कुछ खाये पिये तीन दिन तीन रात जागकर मैंने रोगी की सेवा की परन्तु किसी तरह उसे बचा न सका।—यह कह कर वृद्ध महाशय चुप हुए।

हम बड़े ध्यान से चुपचाप बैठे इस शोक-कहानी को सुन रहे थे। रेलगाड़ी अँधेरे में बड़े वेग से दौड़ी जा रही थी। डब्बे में दूसरा मुसाफ़िर कोई न था, हम और मदनगोपाल यही दो प्राणी थे। लालटेन की रोशनी धीमी पड़ गई थी। हमने एक लम्बी साँस लेकर कहा—इसमें आप का क्या अपराध? आपने तो जान बूझ कर उसका कोई अनिष्ट किया नहीं। ख़ास कर उसके साले ने जब वह बात कही—

"साला छोकरा था, मेरी उम्र उसके बाप की इतनी थी। उसने भूल की तो की, मैंने क्यों भूल की?"

हम ने कहा—घटना विशेष शोचनीय है, इसमें सन्देह नहीं। तो भी इसके लिए आप का अपने को इतना बड़ा दोषी समझ लेना ठीक नहीं। आप कदापि उतने बड़े दोषी नहीं हैं। पाप का परिमाण कार्य के फल में नहीं होता; किन्तु कार्यकर्त्ता की इच्छा के अनुसार होता है।

मदनगोपाल ने टूटे स्वर में कहा—इस बात को जी नहीं मानता। मैं ही इसके लिए जवाबदेह हूँ। यशोधर का रोना अगर आप देखते तो अधीर हो उठते। उसके पाँच भाई और एक बहन थी। यही एक मात्र बहन जो तेरह वर्ष की थी—इसी

उम्र में बेवा हो गई। उस समय मेरी लड़की भी तेरह वर्ष की थी। मैंने घर आकर लड़की का ब्याह दिया। तब से मैं अपनी लड़की की ओर भूल कर भी नहीं देखता। उसे देखते ही मुझे उस लड़की का स्मरण हो आता है जिसका मैंने सर्वनाश किया है।

गाड़ी की चाल क्रमशः मन्द होने लगी। मधुपुर स्टेशन के समीप गाड़ी आ पहुँची। वृद्ध को क्या कह कर सान्त्वना दें? अन्त में हमने सोच कर कहा—मदनगोपाल बाबू, आप वृथा अपने को दोषी समझते हैं। जन्म, मृत्यु ये सब घटनायें ईश्वराधीन हैं। मनुष्य के अधीन नहीं। हम लोगों के शास्त्र पर क्या आप विश्वास नहीं करते?

"हानि-लाभ जीवन-मरण, यश-अपयश विधि हाथ"।

मदनगोपाल चुप हो रहे। उनकी आँखों में आँसू भर आये। गाड़ी स्टेशन पर आकर ठहर गई। निद्रा से पराभूत ख़लासी लोग क्षीण स्वर से पुकारने लगे—"मधुपुर—मधुपुर।" मदनगोपाल को नमस्कार कर के हम गाड़ी से उतर पड़े।



अवध का उपहार।

पहला परिच्छेद।

अखिल बाबू के कचहरी से आते ही उनकी घरवाली ने उन्हें अवध के सब गुण सुना दिये।

अखिल बाबू उस दिन एक मुक़दमा हार आये थे। विपक्ष-दल के वकील ने किसी जिरह में उन्हें अच्छी तरह बनाया था। इस कारण उनका मिज़ाज पहले ही से बिगड़ा था। उस पर घर आते ही यह मामला देखा—गृहिणी आँखें लाल किये है, उनमें आँसू भरे हैं। अखिल बाबू क्रोध से आग-बबूला हो उठे। पास ही एक दासी जा रही थी। उससे कहा कि अवध को फ़ौरन् भेज दे।

दो एक मिनट बाद अवध उनके सामने आ खड़ा हुआ। आज उसके नेत्र और दिन की भाँति विनीत नहीं हैं। उसने अपनी मूँछों को ऐंठ कर जर्मन-सम्राट् की तरह खड़ा कर लिया है। उसके सिर पर साफ़ा है। वह हर वक्त साफ़ा नहीं बाँधे रहता। जब किसी कारण उसके मन में क्रोध उत्पन्न होता है तब वह झटपट साफ़ा बाँध लेता है। मन में वीरत्व-भाव जाग उठने पर बाहर उसका चिह्न प्रकट करने की इच्छा एक स्वाभाविक बात है।

अवध की सूरत-शकल देख कर अखिल बाबू की क्रोधाग्नि और भी भड़क उठी। किन्तु वे क्रोध को दबाकर शान्त भाव

से गम्भीर स्वर में धीरे धीरे इस तरह बोले जैसे कि जज फ़ैसला सुनाता है—

"अवध, तू बहुत दिनों का नौकर है । पुराना होने से अच्छा होना दूर रहा तू दिन दिन बिगड़ता जाता है। उमर के साथ साथ तेरी बदज़ाती भी बढ़ती जाती है। तूने मेरे मन को जला डाला । तुझे पुराना नौकर जान कर बहुत सहा, अब नहीं सहा जाता। जहाँ तेरा जी चाहे, जा। पहली तारीख़ से तू अपने को मौकूफ़ समझ।"

अवध ने सिर हिला कर उद्धत भाव से अवज्ञा-भरे स्वर में कहा—"जो हुक्म सरकार ! हम राज़ी ख़ुशी के साथ चले जायँगे ! अगर आप जवाब नहीं देते तो हम ख़ुद इस्तीफ़ा देने को तैयार थे।" अवध के दोनों होंठ काँपने लगे।

कोई यह न समझे कि अवध बँगला बोलना नहीं जानता। उसने अखिल बाबू के यहाँ अठारह वर्ष नौकरी की है। वह अच्छी तरह बँगला बोलता था । किन्तु जब उसे क्रोध होता था तब वह बँगला न बोल कर हिन्दी ही में बातें करता था। वङ्ग भाषा कोमल और कर्णमधुर होती है । क्रोधावस्था में लोग इसी से शायद उसका प्रयोग नहीं करते। अवध की बात जाने दीजिए, कितने ही बंगाली भी क्रोधान्ध होने पर चिर-अभ्यस्त बँगला नहीं बोलते—हिन्दी या अँगरेज़ी बोलते हैं।

अवध के इस अविनीत भाषण से भी अखिल बाबू गर्म न हुए । वे पूर्ववत् धीरतापूर्वक बोले—देखो, तुम इतने दिन मेरे यहाँ रहे, पर तुम्हें शऊर न हुआ कि मालिक के साथ किस अदब लिहाज़ से रहना चाहिए। अच्छा, आज मैं फिर तुम्हें चिताये देता हूँ—सँभल कर रहना। तीन दफ़े तुम्हारा क़ुसूर माफ़ कर चुका हूँ । अब नहीं कर सकता । अब आओगे

तो मैं तुमको न रक्खूँगा। यही तुम्हारा मेरे यहाँ का आख़िरी दाना-पानी है।

अवध—नहीं सरकार! अब नहीं आवेंगे। हम भी बहुत दिक़ हो गये, क्या करें—

उसकी वक्तृता में बाधा डाल कर बाबू ने कड़ी दृष्टि से उसकी ओर देखा और दर्वाज़े की तरफ़ उँगली उठा कर कहा—"जाओ।"

अवध ने जाते जाते अपना वक्तव्य मुख़्तसर में पूरा कर लिया—"थक गये, अब नौकरी नहीं करेंगे, जो किया सो किया, बस, हद हो गई।" यह कह कर बाबू की नज़र के सामने से हट गया।

अखिल बाबू ने कुरसी पर बैठ कर तम्बाकू भर लाने के लिए दासी को पुकारा। और दिन अवध ही उनको तम्बाकू भर कर पिलाता था।

दूसरा परिच्छेद।

दोपहर का समय है। चारों ओर सन्नाटा छाया है। अखिल बाबू कचहरी गये हैं और लड़के कालिज। गृहिणी पलँग पर आराम कर रही है।

आज जाड़ा कुछ ज़्यादा मालूम होता है। अवध बरामदे में, धूप में चटाई बिछा कर सोने की चेष्टा कर रहा है, पर नींद नहीं आती। बाबू की एक छोटी लड़की उसके सिरहाने बैठी है।

लड़की ने कहा—अवधू, तुम क्यों जाते हो?

अवध—तुम्हारे बाबू जी ने मुझ को जवाब दे दिया है। कल पहली तारीख़ है, कल ही घर जाऊँगा।

बालिका ने पूछा—अवधू, फिर कब आओगे?

अवध—बेटा! अब क्यों आऊँगा? इस दफ़े जो जाऊँगा सो फिर न आऊँगा।

बालिका अवध के गले से लिपट कर बोली—नहीं, अवध, तुमको आना होगा।

अवध—अच्छा, जब तुम्हारी शादी होगी तब तुम मुझे ख़त लिखना, हम आवेंगे।

बालिका ने खेद भरे स्वर में कहा—क्या मैं लिखना जानती हूँ?

अवध—भैया जी से कहना, वे तुम्हें ख़त लिख देंगे।

अवध ने फिर मुँह ढँक कर सोने की चेष्टा की, पर कृतकार्य न हो सका। पीछे उसने बालिका से कहा—क्यों बेटी, तुम मेरी शादी देखने आओगी?

बालिका खिलखिला कर बोली—धत्, तू, झूठ बोलता है। तुम से कौन शादी करेगी? तुम तो बूढ़े हो गये।

अवध—तुम्हीं बूढ़ी हो, हम क्यों बूढ़े होने लगे?

बालिका—तुम बूढ़े नहीं हो? मैं जैसे कुछ जानती ही नहीं। उस दिन माजी और सब लोग कहते थे।

अवध—क्या कहते थे?

बालिका—कहते थे कि अवध बूढ़ा हो गया तो भी शादी करना चाहता है। कोई उसकी शादी करना चाहे तो वह तैयार हो जाय। पर उसे अब कौन लड़की देगा?

अवध—अच्छा, अभी उन लोगों को कहने दो, जब मेरी शादी होगी तब देखना वे क्या कहते हैं।

बालिका—अच्छा, मैं पूछती हूँ, तू क्यों शादी करेगा?

अवध—शादी न करूँगा तो मुझे रसोई बना कर कौन खिलावेगा?

इस उत्तर में अवध के जीवन का वृत्तान्त छिपा था। वह जो नौकरी छोड़ कर तीन दफ़े यही कह कर घर गया था कि अब न आवेंगे। परन्तु जब वह फिर तीनों बार एकाएक आया तब बाबू से कलप कर कहने लगा—"अपने हाथ से रसोई बना कर खाने में बड़ी तकलीफ़ होती थी। रोज़ रोज़ कौन हाथ जलावे, इस से चला आया हूँ।" बचपन में ही अवध का ब्याह हो गया था। जब वह पहले पहल अखिल बाबू के यहाँ बहाल हुआ तब उसकी स्त्री जीती थी। इधर कई साल से वह स्त्री-हीन हो गया है। दूसरी शादी करना चाहता है, पर कहीं होती नहीं।

बालिका ने कहा—क्यों जी, सच कहो, क्या इस दफ़े तुम ज़रूर शादी करोगे?

अवध—सच नहीं तो क्या झूठ कहता हूँ।

बालिका—कै हज़ार रुपया मिलेगा?

अवध हँस कर बोला—बेटी, क्या कहा? कै हज़ार रुपया मिलेगा? मिलेगा क्या, और अपनी गाँठ से देना पड़ेगा। क्या यह बङ्गाली की शादी है?

बालिका—तो गहना भी देना होगा?

अवध—"हाँ, गहना तो देना ही होगा। शादी क्या सहज ही होगी? बहुत रुपया खर्च करना होगा।" फिर वह सोने की चेष्टा करने लगा।

बालिका कुछ सोच कर आग्रह-पूर्ण स्वर में बोली—अवध! मैं तुम्हारी दुलहिन को एक गहना दूँगी।

अवध ने जम्हाई ले कर कहा—बेटी, क्या गहना दोगी?

बालिका—क्यों? मेरा पुराना कँगना रक्खा है, साढ़े तीन भर होगा। वह तो मैं अब पहरती नहीं। वही तुम्हारी दुलहिन के लिए दूँगी। अभी लाये देती हूँ।

अवध हँस कर बोला—पहले कन्या ठीक हो ले, फिर कँगना, पहुँची, पायल सब कुछ देना।

"नहीं, तू मेरा कँगना लिये जा" कह कर बालिका झट उठ कर घर के भीतर गई और कुछ देर बाद दोनों कँगना ले आई। कहने लगी—अभी अपने सन्दूक़ में रख दो, माँ उठेगी और उसे यह मालूम होगा तो नहीं देने देगी।

अवध—यह कँगना तुम कहाँ से ले आई हो?

बालिका—क्यों, क्या मैं नहीं जानती कि कँगना कहाँ रक्खा था?

अवध—जा जा, जहाँ कँगना था वहीं रख आ।

अवध ने जम्हाई ले कर करवट फेरी। बालिका कँगना को बजा कर कुछ गुनगुनाने लगी। अवध ने कहा—जाओ कँगना रख आओ, कहीं खो दोगी तो बड़ी मुश्किल होगी।

बालिका चुपचाप उठ कर चली गई। अवध फिर मुँह ढक कर सोने की चेष्टा करने लगा।

तीसरा परिच्छेद।

बालिका ने अपनी माँ के कमरे में जा कर देखा कि वह सो रही है। उसकी खुली हुई केश-राशि पलँग से लटक कर धरती में लोट रही है।

इसके बाद वह पूजा के घर में गई। "अकालमृत्युहरणं सर्व-व्याधिविनाशनम्" कह कर उसने भगवान् का चरणामृत पिया और कुछ सिर पर डाला। फिर उसने देखा कि घर के कोने में एक बिल्ली बैठी है। वह आँखें बन्द किये सो रही थी। बालिका निर्माल के मुट्ठी भर फूल ले कर धीरे धीरे बिल्ली के पास गई और नमो नमो कह कर उसके सिर पर एक एक फूल फेंकने लगी। माथे में ठंडी वस्तु का स्पर्श होने से बिल्ली ने आँखें खोल कर कातर दृष्टि से बालिका की ओर देखा, फिर कारुण्य-सूचक एक बार (मेंओ) शब्द करके भाग गई।

पूजाभङ्ग होते देख बालिका कुछ देर बिल्ली के पीछे पीछे दौड़ी। रसोई-घर के पास आ कर देखा कि किवाड़ में ज़ञ्जीर लगी है। तब वह कहीं से एक स्टूल उठा लाई। उसे द्वार के समीप रक्खा और उस पर चढ़ कर वह ज़ञ्जीर खोलने लगी परन्तु खोल न सकी। तब वह स्टूल से उतर कर इधर उधर कुछ खोजने लगी। कोयले का एक टुकड़ा मिल जाने से उसके मुँह पर हर्ष का चिह्न दिखाई दिया। कोयला ले कर वह स्नान-घर में गई। नहाने की जगह में बहुत देर से पानी न गिरने के कारण जगह खूब सूख गई थी। उस सूखी जगह में बालिका ने कोयले से कई प्रकोष्ठ लिखे। प्रत्येक कोष्ठ में "क" लिख दिया। इस के बाद टब से पानी ले कर धीरे धीरे अपने बनाये कोष्ठ पर ढालने लगी। कई लोटे पानी ढालते ढालते वह थक गई।

बड़ी देर तक पानी छूते रहने के कारण उसे कुछ ठंडक जान पड़ी। तब वह स्नानागार से निकल कर बरामदे में गई। देखा, अवध नासिकाध्वनि से अपनी गाढ़ निद्रा का परिचय दे रहा है।

बालिका चुपचाप अवध के बिछौने पर बैठ गई। उसकी कमर में एक कुञ्जी बँधी थी। बालिका ने बड़ी सावधानी से वह खोल ली। वह जानती थी कि अवध का देवदारु का बक्स कहाँ रक्खा है। उसने वह बक्स खोल कर दोनों कँगना सब वस्तुओं के नीचे छिपा कर रख दिये। बक्स के ऊपर एक आइना और एक काठ की कङ्घी रक्खी थी। बालिका ने कङ्घी को दो एक बार बालों में लगाया। आइने में मुँह देखा, फिर उन्हें यथास्थान रख दिया और बक्स बन्द कर के कुञ्जी पूर्ववत् अवध की कमर में बाँध दी।

चौथा परिच्छेद।

दूसरे दिन सबेरे अवध भोजन कर के जाने को तैयार हुआ। गृहिणी और बाबू को प्रणाम कर के तथा बाबू के बाल-बच्चों से बार बार मिल कर वह घर को रवाना हुआ। बालिका उसे जाते देख रोने लगी। गृहिणी भी आँचल से बारंबार आँसू पोंछने लगी। चलते समय अवध भी अपनी आँखों के आँसू न रोक सका।

अवध का घर मुँगेर स्टेशन से दस कोस पर है। वह स्टेशन से किराये की एक बैल गाड़ी में बैठ कर घर गया।

इसी मुँगेर में वह पहले पहल अखिल बाबू के यहाँ नौकर हुआ था। यह क्या आज कल की बात है। अखिल बाबू ने उस समय आईन पास कर के वकालत करना आरम्भ ही किया था। मुँगेर में उन्होंने अच्छा पैसा जमा कर लिया तब हाईकोर्ट गये। जाने के दिन इसी मुँगेर स्टेशन में गाड़ी पर चढ़ते समय, भीड़ भाड़ में, अखिल बाबू का बड़ा बेटा सतीश किधर गया यह किसी ने न देखा। वह क़िले के फाटक के पास पीपल के पेड़ तले खड़ा रो रहा था। अवध ही उसे खोज लाया था। बाबू ने ख़ुश होकर अपना नया विलायती जूता अवध को इनाम दिया। यह पुरानी बात अवध को याद हो आई। इसके बाद वही सतीश कलकत्ते में सन्निपात ज्वर से जाता रहा। उस समय अवध ने इक्कीस दिन और इक्कीस रात जाग कर रोगी की सेवा की थी। बालक का अग्नि-संस्कार करके अखिल बाबू जब घर पर आये तब उन्होंने अवध के गले से लिपट कर रोकर कहा— "अवधू तू एक दफ़े मेरे खोये हुए लड़के को खोज लाया था— उसे फिर खोज कर ले आ।" सुख में, दुःख में, हर्ष में और शोक में शरीक होकर जिनके साथ उसने अठारह वर्ष बिताये हैं उनसे हमेशा के लिए इस दफ़े नाता टूट गया। अवध की गाड़ी बहुत दूर तक गङ्गा के किनारे ही किनारे गई। जब रास्ता दूसरी ओर मुड़ा, गङ्गा जी दृष्टि-पथ से दूर होने लगीं तब उसने हाथ जोड़ कर गङ्गा को प्रणाम किया और मन ही मन उनसे कुछ माँगा।

महीनों से अवध को घर का कोई पत्र न मिला था। घर में सिर्फ़ उसकी एक वृद्धा चाची थी और कोई न था। इतने दिन में वह मर गई या जीती है, यह सोचते सोचते अवध ने गाँव में प्रवेश किया।

घर पहुँच कर देखा कि दर्वाज़े में बाहर से ताला लगा है। अवध हताश हो पड़ोसी के घर हाल पूँछने गया तो सुना कि चाची को मरे छः महीने हुए। अड़ोस पड़ोस के समझदारों ने आपस में सलाह कर के "अवध महतो, कलकत्ता" इस पते से मुन्शी दमड़ी लाल के द्वारा चिट्ठी लिखा कर भेज दी थी, किन्तु वह पत्र दो महीने बाद लौट आया और बेचारे दमड़ी लाल को एक आना पैसा जुर्माने का देना पड़ा। उन लोगों ने अवध से कहा कि दमड़ी लाल से भेंट कर के उसको एक आना पैसा दे दे।

पड़ोसी के यहाँ से कुञ्जी लेकर अवध पछताते पछताते घर आया। उसने दर्वाज़ा खोला। आँगन में जंगल ही जंगल देख पड़ा। भाँति भाँति के छोटे बड़े पौदे उगे हैं। घर का भी वही हाल है। कूड़ा करकट जमा हो गया है। चारपाई में दीमक लग गई है। घर के कोने में चूहे ने मिट्टी का ढेर लगा दिया है। सन्दूक़ में झींगुर के सिवा और कुछ भी दिखाई नहीं देता।

अवध ने ठण्ढी साँस लेकर घर का दर्वाज़ा बन्द किया और एक पड़ोसी के घर जाकर आश्रय लिया। नौकरी से अलग होने की बात किसी से नहीं कही—कहा कि छुट्टी लेकर आया हूँ।

पड़ोसियों ने बड़ी ख़ातिरदारी के साथ उसे हुक्का पीने को दिया। उसने दो एक बार तम्बाकू पीकर खों खों कर खाँसते खाँसते हुक्का नीचे रख दिया। बाबू के यहाँ ख़ुशबूदार तम्बाकू पीते पीते उसकी ज़िन्दगी गुज़री है, मामूली तम्बाकू अब उसे कैसे बरदाश्त हो।

दूसरे दिन सबेरे उठकर अवध ने मज़दूर से घर और आँगन साफ़ कराया। लोग कहने लगे कि अवध कलकत्ते की

नौकरी कर के अमीर हो गया है। नहीं तो जिसके बाप-दादे ने बुद मज़दूरी कर के जीवन बिताया था वह क्या अभी दो आने रोज़ पर मज़दूर रख सकता!

अवध ने साँझ को अपने घर में रसोई बनाई। रेंड़ी के तेल का चिराग़ जलाया। दिये की धुँधली रोशनी देख कर उसे अपने मालिक के घर की बिजली की तेज़ रोशनी याद आने लगी।

अवध को घर आये एक महीना हो गया। टोले-महल्ले के लोग क्रमशः पूछने लगें—"कहो अवधू, कितने दिन की छुट्टी थी? कलकत्ते कब जाओगे?" वह कहता था—"बहुत दिन बाद घर आया हूँ, कुछ दिन और रहूँगा। इस दफ़े कुछ ज़्यादा दिन की फ़ुरसत ली है।" अवध किसी से मिलता जुलता नहीं, दिन भर अकेला बैठा रहता है। बन्धु-बान्धवों और पड़ोसियों को तुच्छ समझता है। उनके साथ बैठना-उठना या उनसे हँस कर बोलना वह नापसन्द करता है। वह अपने घर में चुपचाप अकेला बैठ कर मन ही मन कुछ सोचता रहता है। अखिल बाबू के बाल-बच्चों को गोद खिला कर उसने बड़ा किया था। अतएव उसका मन आठों पहर कलकत्ते के उसी प्रिय-भवन में उन्हीं प्यारे बालकों के साथ फिरा करता है, केवल शरीर मात्र उसका यहाँ है।

इस प्रकार ज्यों त्यों करके दो महीने बीते। आख़िर उसने यह बात सोची कि बूढ़े बाबू (अखिल बाबू के पिता) को पत्र लिख कर सब का कुशल मँगा लूँ। अँगरेज़ी में चिट्ठी लिखा कर भेजना ठीक होगा। गाँव में कोई अँगरेज़ी लिखा पढ़ा आदमी न था। इस प्रान्त में अँगरेज़ी जानने वाला कोई था तो एक खड्गपुर का पोस्ट-मास्टर। इस कारण अवध गाँव से थोड़ा सा

गाय का बढ़िया घी संग्रह कर पोस्ट-मास्टर के लिए लेता गया। उसके गाँव से खड्गपुर दो कोस था। वह पोस्ट-मास्टर के निकट भेंट रख कर और अँगरेज़ी में एक चिट्ठी लिखा कर कलकत्ते को, बूढ़े बाबू के नाम, रवाना कर आया।

एक सप्ताह के बाद बूढ़े बाबू के यहाँ से ख़त का जवाब आया। जिस चिट्ठीरसा के हाथ अवध को यह चिट्ठी मिली उसे अवध ने बगीची से एक विलायती कोहड़ा तोड़ कर बख़शिश दी। फिर वह उसी समय साफ़ा बाँध, और मिरज़ई पहन कर खड्गपुर गया। वहाँ पोस्ट-मास्टर से पत्र पढ़वाया।

"बूढ़े बाबू उसका पत्र पाकर बहुत ख़ुश हुए हैं, घर के सब लोग प्रसन्न हैं। बैसाख की ५ को अखिल बाबू की लड़की का व्याह होगा। वह अवध को बहुत याद करती है।"

आँसू पोंछ कर अवध घर लौट आया। उसने बूढ़े बाबू के नाम से दस रुपये का मनीआर्डर भेंजने का विचार इसलिए किया कि वे उसकी ओर से एक रंगीन साड़ी ख़रीद कर बालिका को दें।

रुपया निकालने के लिए अवध ने सन्दूक़ खोला। जब से वह घर आया है तब से एक दिन भी उसे सन्दूक़ खोलने की ज़रूरत नहीं पड़ी थी। बक्स खोल कर देखा, उसमें सोने का एक जोड़ी कँगना है। वह भौंचक सा हो रहा। सन्दूक़ में कँगना कैसे आया! कंघी ऊपर रक्खी थी। उसे उठा कर देखा तो उसमें बालिका के दो एक लम्बे केश लगे थे। तब उसकी समझ में सब बातें आगईं।

पाँच ही मिनट में उसने अपना कर्तव्य स्थिर कर लिया। दूसरे दिन वह घर में ताला लगा कर कलकत्ते को रवाना हुआ।

बड़े बाज़ार में एक महाजन से उसकी जान-पहचान थी। उसकी दूकान में जाकर वह कई दिन रहा। उसने बालिका का कँगना तुड़वा डाला और अपनी ओर से कुछ और सोना मिला कर उससे कुछ बड़े फाँद का एक जोड़ी उम्दा कँगना बनवा लिया।

उसने अपने लिए भी कुछ कपड़े मोल लिये। एक जोड़ा धोती बसन्ती रङ्ग में रँग ली। गुलाबी रङ्ग में पगड़ी को रँग लिया। उत्सव के उपयुक्त पोशाक पहन कर अवध वैशाख की ५ को दोपहर के बाद अखिल बाबू के यहाँ गया।

उसे देखकर घर के सब लोग ख़ुश हुए। उसका दिया कँगना पहन कर बालिका मारे हर्ष के फूल उठी। अखिल बाबू ने आ कर कहा—तुम्हें मेरा पत्र मिल गया था?

अवध ने अचरज से कहा—बूढ़े बाबू का पत्र?

अखिल बाबू—बूढ़े बाबू का नहीं, मेरा पत्र। एक सप्ताह हुआ है, बच्ची के ब्याह में आने के लिए तुमको रजिस्टरी करा कर निमन्त्रण-पत्र भेजा है, उसके साथ राह-ख़र्च के लिए दस रुपये का नोट भी है। क्या वह तुमको नहीं मिला?

गृहिणी ने कहा—वह अपने घर पर थोड़े ही था? वह इसी कलकत्ते में बच्ची के लिए कँगना बनवा रहा था।

कँगने की बात सुनकर बाबू क्रोध करने लगे। उन्होंने कहा—तुम ग़रीब आदमी! इतना रुपया तुमने क्यों ख़र्च किया? यह तुम्हारी ना समझी नहीं तो और क्या है?

अवध ने हँसते हँसते कँगने का सब वृत्तान्त कह सुनाया। गृहिणी बोलीं—ठीक है, मैं कहती थी कि बच्ची का पुराना

कँगना क्या हुआ। आलमारी में रक्खा था या सन्दूक़ में—इसका कुछ निश्चय न कर सकती थी। खोजने से कहीं मिलता भी न था।

अखिल बाबू ने कहा—"ठीक है। बच्ची ही की जीत हुई।" यह कहकर वे हँसते हँसते अपने कमरे में गये। अवध ने अपनी रङ्गीन पगड़ी और मिरज़ई उतार कर यथास्थान रख दी। वह बड़ी उमङ्ग के साथ विवाह-सम्बन्धी काम की देख-भाल करने लगा।

बलवान जामाता ।

पहला परिच्छेद ।

शरद बाबू अलीपुर के पोस्ट-मास्टर हैं । आज वे बहुत उद्विग्न देख पड़ते हैं। आफ़िस में बैठ कर बार बार घड़ी की ओर देख रहे हैं । ज्यों ज्यों दिन ढलता जाता है त्यों त्यों उनकी घबराहट बढ़ती जाती है। कुआर का महीना है, देवी-पूजा का दिन आगे आ गया है । शरद बाबू ने छुट्टी के लिए दरख़्वास्त दी थी, किन्तु अभी तक हेड-आफ़िस से हुक्म नहीं आया। यदि आज पाँच बजे के भीतर हुक्म आ जाय तो शरद बाबू आज ही मेल-ट्रेन से इलाहाबाद को रवाना हो जायँगे । इलाहाबाद में उनकी ससुराल है । शरद बाबू पहले पहल ससुराल जायँगे । यात्रा का सब सामान ठीक किये बैठे हैं, किन्तु अभी छुट्टी का कोई हुक्म नहीं आया । चार बजते ही टेली-फ़ोन की घंटी बजी । शरद बाबू ने बड़ी आशा से टेली-फ़ोन की नली में मुँह लगा कर कहा—"Yes"

किन्तु छुट्टी का हुक्म न आया । एक मनीआर्डर के सम्बन्ध में कुछ गड़बड़ हो गई थी, उसी के विषय में पूछा गया था ।

शरद बाबू हताश हो कर फिर कुरसी पर आ बैठे । डाक-सम्बन्धी दो-एक मामूली काम करके पाकेट से एक पत्र निकाल कर पढ़ने लगे । पत्र उनकी स्त्री ने लिखा था । इसके पूर्व भी वे इसे कई बार पढ़ चुके हैं। इस समय फिर पढ़ा :

(ऊपर एक हंस का चित्र है)
(नीचे सुनहले अक्षरों में छपा है)

"जाहु तहाँ उड़ि हंस तुम, जहाँ प्राणपति मोर।"

प्रियतम,

आपका सुधा-सिञ्चित पत्र पा कर मेरा मन, प्राण और हृदय शीतल हुआ। प्राणनाथ! क्या इतने दिन बाद विरह का अवसान होगा? आप का मुखचन्द्र देखने के लिए मेरा चित्त-चकोर उत्कण्ठित हो रहा है। ब्याह हुए आज दो वर्ष हो गये, पर अब तक एक दिन भी आप की सेवा करने का अवसर न मिला। आप छुट्टी मिलते ही शीघ्र चले आइए। यह दुःखिनी आप के आने की बाट देख रही है। दिनाजपुर से आज मँझली बहन आई हैं। आप को कब तक छुट्टी मिलेगी? क्या आप पञ्चमी को यात्रा कर सकेंगे? अब शीघ्र आइए। स्मरण रखिएगा, भूलिएगा नहीं।

आप ही की एकमात्र,

सरोजिनी।

शरद बाबू ने पत्र पढ़ कर ठण्ढी साँस ली। पत्र को हृदय से लगा कर फिर पाकेट में रख लिया।

पाँच बजने में अधिक विलम्ब नहीं है। आज भी छुट्टी मिलने का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता। वे भग्नोत्साह की भाँति टूटे दिल से फिर आफ़िस के काम में जी लगाने की चेष्टा करने लगे। एक बात से उनके मन में कुछ धैर्य हो आया। आज चौथ है। यदि कल भी छुट्टी की मंजूरी आ जाय तो पञ्चमी को रवाना हो सकेंगे।

पाँच बजने में जब दो एक मिनट की देरी रह गई तब

फिर टेलीफ़ोन की घंटी बजी। शरद बाबू ने नली में मुँह लगा कर कहा—"Yes"

छुट्टी मिल गई। शरद बाबू को दो हफ़्ते की छुट्टी मिली है। वे डिपुटी पोस्ट-मास्टर को चार्ज दे कर आज ही रात को जा सकते हैं।

दूसरा परिच्छेद।

सरोजिनी के पत्र से ज़ाहिर हुआ है कि "दिनाजपुर से उसकी मँझली बहन आई है।" उसके आने की बात वे पहले ही से जानते थे इस लिए उनको और भी इलाहाबाद जाने का आग्रह है। दिनाजपुर वाली साली पर उनको कुछ क्रोध है। इसी से एक बार उसकी भेंट के लिए वे बड़े व्यग्र हैं। जब हम इस घटना का उल्लेख करने बैठे हैं तब इस सम्बन्ध में मँझली साली का कुछ परिचय दे देना और शरद बाबू के व्याह में जो एक घटना हो गई थी उसका कुछ वृत्तान्त भी कह देना आवश्यक है।

शरद बाबू की मँझली साली के स्वामी अपने को साहब से किसी अंश में न्यून नहीं समझते। वे दिनाजपुर के डिपुटी मैजिस्ट्रेट हैं। उनकी सहधर्मिणी का नाम लेते ही सब लोग उसे अनायास ही पहचान सकेंगे। श्रीमती कुञ्जबाला देवी की स्वदेशी-विषयक ओजस्विनी कवितायें सामयिक मासिक पत्रिकाओं में किसने न पढ़ी होंगी? सौभाग्यवश फ़ुलर साहब बँगला नहीं जानते, नहीं तो अब तक कुञ्जबाला के स्वामी की नौकरी की न जाने क्या दशा होती।

कुञ्जबाला विदुषी है, इसलिए यह कहने की ज़रूरत नहीं कि उसकी ज़बान तेग़ से भी बढ़ कर तीक्ष्ण है। वह अँगरेज़ी भी पढ़ी-लिखी है। अतएव उसका ख़याल सभी बातों में साधारण वङ्ग-ललनाओं से न्यारा है। उसका एक दृष्टान्त सुनिए:— एक बार उसका एक देवर एक शीशी सुगन्धित तेल ख़रीद कर लाया। देख कर कुञ्जबाला ने पूछा:—

"यह किसके लिए लाये हो?"

"अपने लिए।"

कुञ्जबाला—यह चीज़ तो ख़ास कर स्त्रियों के लिए है, अब बाबू लोग भी इसका व्यवहार करने लगे? मर्द कहीं यह तेल मलते हैं!

देवर अल्प-वयस्क था। उसने भाभी के उत्कट परिहास का मर्म न समझ कर भलेमानस की तरह जवाब दिया—क्यों, तेल लगाने से क्या कोई मर्द औरत बन जाता है?

शरद बाबू की जब शादी हुई थी तब वे बेढब मोटे थे। उनका शरीर बहुत ही मुलायम जान पड़ता था। हाथ कमल-नाल की तरह कोमल थे। गोल गोल गाल ऐसे फूल गये थे कि आँखें उनके भीतर धँसी हुई सी जान पड़ती थीं। शारीरिक व्यायाम के बिना स्थूल शरीर जैसा कुछ बेडौल होता है वैसा ही था। शिष्टता के अनुकूल न होने पर भी, कुञ्जबाला उनकी बेढंगी मुटाई पर, ताने के तीक्ष्ण बाण फेंकने की इच्छा को न रोक सकी। उसने किसी कवि की कविता में कुछ फेर-फार करके कहा—

"शरच्चन्द्र हैं चन्द्र सम, दर्शनीय अभिराम।
तन सुडौल नव-कमल से, कोमल अति सुख-धाम॥

एक श्लेष-वाक्य किसी को जितना सावधान करता है दस उपदेश-वाक्यों से उतना होना संभव नहीं। वह श्लेष-वाक्य यदि सुन्दरी के मुँह से निकला हो, और सुन्दरी यदि सम्बन्ध में साली हो तो उस श्लेष-वचन का असर सौगुना मर्मान्तिक हो जाता है।

ब्याह हो जाने पर शरद बाबू कलकत्ते लौट आये। उनके ससुर महाशय भी सपरिवार इलाहाबाद अपने काम पर चले गये। किन्तु शरद बाबू विदुषी साली के व्यङ्ग-वचन को किसी तरह भूल न सके।

एक दिन संध्या समय डाकघर से अपने घर आकर शरद बाबू आराम-कुरसी पर बैठे गुड़गुड़ी पी रहे थे। ऐसे समय एकाएक उन्हें एक बात सूझी। उन्होंने सोचा कि कुछ चेष्टा करने ही से हम इस कलङ्क से उद्धार पा सकते हैं; अपने शरीर को सुडौल और पुरुषोचित दृढ़ बना सकते हैं। दूसरे दिन बाज़ार से मुगदर, डम्बल आदि मँगवाये और घर में नित्य साँझ-सवेरे नियमपूर्वक व्यायाम (कसरत) करने लगे। उन्होंने अपने दैनिक भोजन में भी बहुत कुछ हेर फेर किया। घी, भात, दही, मिठाई आदि मेद-वर्द्धक पदार्थों का खाना यथासम्भव कम करके उसकी जगह मांस, अण्डे, रोटी, मक्खन आदि व्यवहार करने लगे। शुरू शुरू में वे पाँच-सात मिनट से अधिक व्यायाम नहीं कर सकते थे, थक जाते थे। किन्तु अभ्यास-गुण से धीरे धीरे उनके व्यायाम का समय बढ़ने लगा। कुछ ही दिन बाद वे नियम-पूर्वक दोनों समय आध आध घंटे तक व्यायाम करने लगे। अब उन्हें थकावट मालूम न होकर फ़ुरती और शरीर सबल होने का कुछ कुछ अनुभव होने लगा। इसके साथ साथ शरीर का बेढंगापन भी

सुधरने लगा। वे अपनी दैहिक अवस्था को परिवर्तित होते देख बहुत खुश हुए।

इसी प्रकार एक वर्ष तक व्यायाम करने से उनका शरीर विलक्षण रूप से सुन्दर, सुडौल और दृढ़ हो गया। तब अपने चेहरे को और भी रोबदार करने के लिए उन्होंने दाढ़ी बनवाना छोड़ दिया। दो एक शिकारी मित्रों के साथ कभी कभी देहात में जाकर वे बनैले सूअर और चिड़ियों का भी शिकार करने और बन्दूक़ चलाने में प्रवीणता प्राप्त करने का अभ्यास करने लगे।

इस तरह दो वर्ष बीते। अब वे शरद बाबू नहीं हैं। जिसने दो वर्ष पहले उन्हें देखा है वह अब सहसा न पहचानेगा कि ये वही हैं। उनका मुँह अब सूजा हुआ सा नहीं देख पड़ता। ढीला-ढाला पेट सुडौल हो गया है। वक्षःस्थल उच्च, बाँहें मोटी मोटी और कन्धे मांसल हो गये हैं। वे हट्टे-कट्टे पहलवान से देख पड़ते हैं। इन दिनों वे अब एक बार कुञ्जबाला से भेंट करना ज़रूरी समझते हैं। कुञ्जबाला की बात से वे यहाँ तक चिढ़ गये हैं कि उनको यदि ईश्वर पुत्र देगा तो वे बचपन ही से उसे अन्य शिक्षा के साथ साथ व्यायाम की भी शिक्षा देंगे और नाम भी उसका कुछ भीषण रक्खेंगे।

तीसरा परिच्छेद।

दूसरे दिन दो बजे दिन को शरद बाबू इलाहाबाद स्टेशन पर उतरे। वे एक पायजामा और पंजाबी कोट पहने थे, तथा सिर पर साफ़ा बँधा था। हाथ में मोटी सी लाठी थी।

असबाब के साथ एक बन्दूक़ का बक्स भी था। ससुराल में अवकाश मिलेगा। दो एक दिन शिकार खेलने का उनका इरादा था।

स्टेशन पर उतर कर उन्होंने चारों ओर देखा। पर उनकी अभ्यर्थना के लिए ससुराल से कोई न आया था। कल उन्होंने रवाना होने के पहले ससुर के नाम से एक बारह आने का तार भेजा था, शायद वह पहुँचा नहीं। शरद बाबू कुली को पुकार कर चीज़ असबाब लेकर स्टेशन के बाहर गये। एक गाड़ीवान से पूछा—महेन्द्रनाथ वकील का घर जानता है?

गाड़ीवान—हाँ, बाबू आइए।

शरद बाबू—चलो।

गाड़ी पर असबाब लाद कर कुली मज़दूरी लेकर चला गया। बाबू गाड़ी में जा बैठे।

शरद बाबू इसके पूर्व कभी इलाहाबाद न आये थे। बल्कि यों कहिए कि वे अभी पहले पहल वङ्ग देश की सीमा से बाहर निकले हैं। युक्त प्रदेश के शहर का नूतन दृश्य देखते हुए वे एक अपूर्व आनन्द का अनुभव करते चले।

आध घंटे में गाड़ी एक बड़े अहाते के भीतर मकान के सदर फाटक के पास पहुँची। सामने ही बाहर के बरामदे में नौ-दस वर्ष की एक बालिका खेल रही थी। बरामदे के नीचे बाँई ओर एक कुँआ था। वहाँ एक नौकर ज़ोर लगा कर कड़ाही माँज रहा था।

शरद बाब ने गाड़ी से उतर कर उस नौकर से पूछा—महेन्द्रनाथ वकील का यही मकान है?

नौकर—हाँ बाबू।

शरद—बाबू हैं ?

नौकर—नहीं, वे केदारनाथ वकील के यहाँ चौसर खेलने गये हैं।

शरद बाबू—अच्छा, भीतर जाकर कहो कि जमाई आये हैं।

यह सुनते ही जो लड़की बरामदे में खेल रही थी वह दौड़ कर भीतर गई और खूब ज़ोर से चिल्ला कर बोली—तुम्हारे जमाई बाबू आये हैं।

नौकर का नाम रामशरण है। शरद बाबू की बात सुन कर वह प्रसन्नता से बोला—"आप बाबू के जमाई हैं ?" उसने झट हाथ धो डाले और खड़े होकर शरद बाबू को लम्बा सलाम किया।

इसके बाद रामशरण ने गाड़ी से असबाब उतार कर चबूतरे पर रक्खा। इधर भीतर के दर्वाज़े पर खड़ी अनेक बालक-बालिकायें झाँक कर जमाई बाबू को देखने लगीं। रामशरण ने शरद बाबू को कमरे के भीतर ले जाकर बिठाया। फिर पूछा बाबू साहब, स्नान भी कीजिएगा ?

शरद बाबू—हाँ, स्नान करूँगा। तुम गुसलख़ाने में पानी रख दो।

इसी समय एक बंगालिन नौकरनी ने आकर उन्हें प्रणाम किया और कहा—आप अच्छे रहे ?

शरद बाबू—हाँ अच्छा हूँ। तुम लोग कैसे थीं ?

दासी ने हँस कर कहा—जैसे आपने रक्खा है। मैं छः महीने से यहाँ काम करती हूँ। बेटी-मालकिन से रोज़ रोज़ पूछती थी "जमाई बाबू कब आवेंगे ?" वे कहती थीं "छुट्टी

होगी तो आवेंगे।" भला इतने दिन बाद आपने ख़बर ली! अब आप शीघ्र स्नान कर लें। बहू जी ने पूछा है—अभी जलपान करेंगे या रसोई चढ़ा दी जाय।

शरद बाबू मुग़लसराय स्टेशन पर सवेरे ही डट कर भोजन कर चुके थे। इससे कहा—रसोई चढ़ाने की कोई ज़रूरत नहीं, अभी जलपान कर लूँगा।

नौकरनी—"तो आप जल्दी कपड़े बदल डालें फिर आप को एक नई चीज़ दिखाऊँगी। मेरे इनाम के लिए जो कुछ गहना कपड़ा लाये हों सो निकाल रखिए।" यह कह कर प्रौढ़ा दासी शरद बाबू के प्रति कटाक्षपात कर के मुसकुराई।

रामशरण ने कहा—तुम इनाम लोगी, हम कोरे रहेंगे? पहले हम इनाम ले लेंगे तब तुम्हें मिलेगा।

शरद बाबू इस 'इनाम' का कुछ अर्थ न समझ सके। केवल गम्भीरभाव से सिर हिलाने लगे।

शरद बाबू नहा कर आये तो देखा कि बालक-बालिकाओं ने बन्दूक़ का बक्स खोलकर बन्दूक़ निकाल ली है, और उसके भिन्न भिन्न अंशों को जोड़ने की चेष्टा कर रहे हैं। शरद बाबू ने उन लोगों के हाथ से बन्दूक़ लेकर सावधानी से दूसरी जगह रख दी। इसी समय वह नौकरनी फिर कमरे में आई। उसकी गोद में कई महीने का छोटा सा बच्चा था। उसका मुँह अभी अभी पोंछा गया है, आँखों में काजल भी अभी डाला गया है, और किसी ने कङ्घी से बाल सँवार दिये हैं।

नौकरनी ने बच्चे को हाथों में लेकर और नचाकर कहा—देखिए, दूल्हा जी, सुदृष्टि से बालक का मुँह देखिए। कैसा

सोने का चाँद सा सुन्दर मुखड़ा है। मालूम होता है, जैसे राज-कुँवर हो। लीजिए, इसे गोद में लीजिए।

शरद बाबू छोटे बच्चे को कभी गोद में लेना पसन्द नहीं करते थे। तथापि शिष्टता का ख़याल कर के कहा—"वाह! वाह! बच्चा सचमुच सुन्दर है।" यह कह कर उन्होंने उसे गोद में लिया।

नौकरनी ने कहा—बहुत सुन्दर कहने ही से काम न चलेगा। बच्चे की मुँह-दिखाई जो कुछ देनी हो सो अभी दे दीजिए।

शरद बाबू ने पाकेट से दो रुपये निकाल कर बालक की बँधी हुई मुट्ठी को खोल कर रख दिये।

कलकत्ते की रहने वाली दासी गाल पर हाथ रख कर बोली—यह क्या? लोग देखकर क्या कहेंगे? सोने के चाँद की मुँह-दिखाई रूपा?

जो बालक-बालिकागण वहाँ खड़े थे खिल-खिलाकर हँस उठे। शरद बाबू बड़े सङ्कोच में पड़े। दासी के प्रश्न ने उन्हें निरुत्तर कर दिया। आख़िर "हम सोना साथ नहीं लाये हैं।" यह कह कर वे मन ही मन अपनी स्त्री पर नाराज़ होने लगे। क्या उसे यह लिखना उचित न था कि अमुक के सन्तान हुई है; उसका मुँह देखने के लिए गिन्नी लेते आना।

दासी—"सोना नहीं लाये"—इतना कहने ही से काम न चलेगा। सोना यहाँ भी बहुत मिलता है। आज ही सुनार को बुलवा कर सोने का कोई गहना बनाने की आज्ञा दीजिए। लड़के का बाप होने ही से कुछ नहीं होता।

शरद बाबू की बुद्धि इसके पहले ही उलझन में पड़ चुकी थी, यह आख़िरी बात सुन कर उनकी रही सही बुद्धि भी जाती रही। वे हक्का-बक्का से हो रहे। "लड़के का बाप होने ही से कुछ नहीं होता" इसका क्या अर्थ? तो क्या मैं ही इस लड़के का बाप हूँ?

शरद बाबू ने बच्चे को दासी की गोद में देकर डरते हुए पूछा—यह कब हुआ?

दासी ने फिर गाल पर हाथ रख कर कहा—आप ग़ज़ब करते हैं? आप के लड़का कब हुआ, यह आप नहीं जानते, महल्ले के लोगों से पूछते फिरते हैं।

वहाँ जो बालक थे उनमें एक लड़की कुछ सयानी थी, वह दासी की व्यङ्गोक्ति सुन कर हँसने लगी। उसको हँसते देख छोटे बालक और बालिकाओं ने भी हास्य की झड़ी लगा दी।

शरद बाबू ने अभी नहाया था पर तो भी उनके उन्नत ललाट पर पसीने की बूँदें झलकने लगीं। वे अपने मन के आश्चर्य्य को मन ही में दबा रखने की प्राण-पण से चेष्टा करने लगे। इस विकट पहेली को समझ लेना उनकी समझ के बाहर है।

इसी समय एक लड़की ने शरद बाबू के हाथ में एक गिलास देकर कहा—लीजिए, थोड़ा सा शरबत पी लीजिए।

शरद बाबू ने गिलास को मुँह से लगा कर देखा, जल में नमक घुला था। उन्होंने गिलास को नीचे रख दिया। किवाड़ की आड़ से दो एक युवतियों के खिलखिलाने का मधुर शब्द उन्हें सुन पड़ा। तब एकाएक शरद बाबू ने सोचा कि हम जो अभी लड़के के बाप बनाये गये हैं सो यह भी साली-सलहज के

ठट्ठे ही का एक अंश होगा। इस भावना का उदय होने से उनका चित्त कुछ शान्त हुआ। उनकी चढ़ी हुई भौंहें फिर उतर गईं।

उस कमरे के एक कोने में किवाड़ खुलने का शब्द हुआ। सामने का परदा हटा कर रामशरण ने कहा—बाबू चलिए, जल-पान कीजिए।

शरद बाबू ने झाँक कर देखा, भीतर एक कमरा देख पड़ा। वे उठ कर वहाँ गये। कमरे के बीच में एक सुन्दर आसन बिछा था। उसके आगे चाँदी की तश्तरी और कटोरों में भाँति भाँति की खाने की सामग्री और गिलास में जल रक्खा था। शरद बाबू आसन पर बैठ कर जलपान करने लगे।

इसी समय दूसरी कोठरी में पायज़ेब का झम्झम् शब्द सुन पड़ा। एक छोटी सी बालिका ने चौखट के पास खड़ी हो द्वार के भीतर मुँह कर के कहा—मँझली बहन आती हैं।

शरद बाबू ने समझा कुञ्जबाला आती है। उन्होंने दहने हाथ की आस्तीन को अच्छी तरह ऊपर इस लिए चढ़ा लिया कि कुञ्जबाला आ कर देख ले मेरी कलाई को जो अब चौड़ी, पुष्ट और दृढ़ है।

पायज़ेब का शब्द सन्निकट होने लगा। "क्यों जी, इतने दिन बाद सुध आई?" कहते कहते युवती उमङ्ग भरे मन से उनके सामने आ खड़ी हुई। किन्तु यह केवल लहमे भर के लिए। चार आँखें होते ही वह युवती लम्बा घूँघट तान कर वहाँ से निकल भागी। शरद बाबू ने देख लिया—वह कुञ्जबाला न थी।

पास की कोठरी से दो तीन युवतियों का उत्तेजित कण्ठस्वर शरद बाबू को सुन पड़ा।

"क्यों री, भाग क्यों आई ?"

"न जाने वह कौन है।"

"अयँ! दूसरा आदमी! हमारे नलिनी बाबू नहीं हैं ?"

"नहीं, नलिनी बाबू नहीं, उन्हें क्या मैं पहचानती नहीं ?"

"तो कौन है ?"

"मैं क्या जानूँ ?"

"बड़ा अन्धेर है! कोई ठग तो नहीं है ?"

"डील-डौल से तो वैसा ही जान पड़ता है।"

"बड़े अचरज की बात है! दामाद बन कर ठगने आया है!"

एक लड़के ने कहा—एक बन्दूक़ भी इसके साथ है और लाठी इतनी मोटी कि मैं क्या कहूँ।

"अरे अम्माँ! यह क्या हुआ? यह कौन घुस आया? अरे रामशरण! कहाँ गया रे! जल्दी बाबू को ख़बर दे! दौड़ कर जा।" इसके अनन्तर घबराहट के साथ स्त्रियों के दौड़ने की आवाज़ सुन पड़ी।

जिस कमरे में शरद बाबू जल-पान कर रहे थे उसमें पुस्तकों से भरी एक आलमारी थी। जिस समय भीतर चोर-डाकू के डर से हलचल मच रही थी उसी समय शरद बाबू की दृष्टि एकाएक आलमारी की पोथियों पर पड़ी। सभी पुस्तकें (ला-रिपोर्ट) की जिल्द बँधी है। सभी के नीचे सुनहले अक्षरों में लिखा है—एम्० एन्० घोष।

शरद बाबू सब बातें स्पष्ट रूप से समझ गये। उनके ससुर का नाम है—महेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय। ये हैं महेन्द्रनाथ घोष। तो उन्होंने भूल से दूसरे की ससुराल पर धावा बोल दिया है।

शरद बाबू ने मन ही मन हँस कर निश्चिन्त भाव से एक एक कर जल-पान के सब कटोरों को ख़ाली कर डाला ।

चौथा परिच्छेद ।

इधर रामशरण नौकर दम साध कर बाबू को ख़बर देने दौड़ा । केदारनाथ वकील की बैठक में छुट्टी के समय प्रायः चौसर का खेल हुआ करता था । आज यहाँ बड़े महेन्द्रनाथ, छोटे महेन्द्रनाथ (शरद के असली ससुर) तथा और भी अनेक वकील इकट्ठे हुए हैं ।

चौसर का खेल हो रहा था इसी समय रामशरण आँधी की तरह एकाएक वहाँ पहुँचा । अपने मालिक की ओर देख कर बोला—बाबू साहब ! बाबू साहब ! जल्दी चलिए ।

उसका मुँह और आँखें देख कर महेन्द्रनाथ ने डर कर कहा—क्यों रे ! क्या हुआ ? कोई बीमार तो नहीं हो गया ?

रामशरण—बाबू साहब ! घर में एक डाकू आया है ।

सभी लोग उत्सुक हो गये । महेन्द्रनाथ घोष ने कहा—डाकू ? दिन दहाड़े डाकू ?

रामशरण ने कहा—डाकू है कि ठग है कि पागल है, इसका कुछ ठिकाना नहीं । वह कहता है कि "हम बाबू के दामाद हैं ।"

यह सुन कर और लोग हँसने लगे । किन्तु महेन्द्रनाथ घोष ने उत्तेजित स्वर में पूछा—कब आया है ? क्या कर रहा है ?

रामशरण—अभी तीन बजे आया है। साथ में बड़ी सी लाठी है और एक बन्दूक़ है। भीतर जाकर जलपान किया है। उसे बाहरी आदमी समझ कर माई जी और अन्य स्त्रियों को बड़ा डर लगा है।

"बन्दूक़ है! लाठी है! नालायक, पाजी, सूअर, तू घर किस के भरोसे छोड़ कर यहाँ दौड़ा आया—" यह कह कर महेन्द्रनाथ घोष पागल की भाँति कमरे से निकल कर बाहर आये। गाड़ी तैयार थी। तुरन्त ही गाड़ी में जा बैठे। कोचवान को ज़ोर से गाड़ी हाँकने की आज्ञा दी।

उनके साथ साथ और भी कई वकील बाहर आये थे। किसी ने कहा—"कोई पागल होगा।" दूसरे ने कहा—"पागल होता तो साथ में बन्दूक़ क्यों लाता? कोई गुण्डा होगा।" छोटे महेन्द्रनाथ (शरद् के श्वशुर) ने कहा—पागल हो या गुण्डा हो, कोई हो, उसे पकड़ कर फ़ौरन पुलिस में भेज दीजिए।

गाड़ी हवा की तरह उड़ चली। मकान के सदर फाटक के पास गाड़ी पहुँचते ही महेन्द्रनाथ गाड़ी से कूद कर बोले—कहाँ है? जल्दी बताओ।

इसी समय शरद बाबू कमरे से निकल कर बरामदे में आये। उन्होंने घर के मालिक को अभिवादन कर के कहा—आप ही महेन्द्रनाथ हैं? आप से मुझे क्षमा माँग कर कुछ निवेदन करना है।

शरद बाबू का तौर तरीक़ा और बातचीत का ढँग देख कर महेन्द्रनाथ ठिठक गये। घर पहुँचते ही जो बन्दोबस्त करने की बात उन्होंने सोची थी उसमें बाधा पड़ गई।

महेन्द्रनाथ ने पूछा—आप कौन हैं?

शरद—मेरा नाम शरच्चन्द्र मुखोपाध्याय है। मैं महेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय का जामाता हूँ। मैंने गाड़ीवान से महेन्द्रनाथ वकील के घर ले चलने को कहा था। वह मुझे यहाँ ले आया। मैं पहले कभी इलाहाबाद न आया था। अभी अभी मुझे अपनी भूल मालूम हुई है। मैं अब तक यहाँ से चला गया होता किन्तु आपको बुलाने के लिए एक आदमी गया है, यह देख आप से अपनी भूल के लिए क्षमा प्रार्थना कर के जाऊँगा, इसी इच्छा से ठहर गया।

यह सुन कर महेन्द्र घोष का रोष ठंडा हो गया। वे शरद बाबू का हाथ पकड़ कर ख़ूब हँसे। फिर कहने लगे—"तुम महेन्द्र के दामाद हो तो मेरे भी दामाद ही हुए, कोई हर्ज़ नहीं। यह भी अपना ही घर समझो। यहाँ महेन्द्रनाथ नाम के दो वकील हैं; इससे कभी कभी मुवक्किलों को लेकर बड़ा गोलमाल हो जाता है। देहात से किसी मुख़तार ने मुकदमा भेज दिया मेरे यहाँ, तो मुवक्किल काग़ज़ लेकर हाज़िर हुआ तुम्हारे ससुर के यहाँ। किन्तु जमाई के विषय में गोलमाल होने का यह पहला ही अवसर है!" यह कह कर वे फिर हँसने लगे।

अब उन्होंने शरच्चन्द्र को कमरे के भीतर ले जाकर बिठाया। कुछ देर उनसे बात-चीत की। इतने में शरद बाबू के लिए एक भाड़े की गाड़ी आ गई। तब वे गाड़ी पर अपना असबाब रख कर ससुराल को चले।

———

पाँचवाँ परिच्छेद।

महेन्द्र घोष के चले जाने पर केदारनाथ के यहाँ उस दिन चौसर की बाज़ी अच्छी न जमी। खेल छोड़ कर सब लोग ठग-लुटेरों की विचित्र बातें करने लगे। अनेक पागलों का भी ज़िक्र हुआ। इसके बाद सभा भङ्ग हुई। वकील लोग अपने अपने घर चले गये।

महेन्द्र वन्द्योपाध्याय का घर था शाहगंज महल्ले में। उन्होंने घर आकर नौकर से तम्बाकू भरने को कहा। फिर वे बैठक में आराम-कुर्सी पर बैठ कर चाय पीने लगे। नौकर एक बड़ी चिलम को हुक्क़े पर रख कर धीरे धीरे पंखे की हवा से आग सुलगाने लगा।

चाय पीने के बाद महेन्द्रनाथ गुड़गुड़ी के नाल को मुँह में दबा कर आराम से आँखें बन्द करके आराम-कुर्सी पर लेट रहे।

कुछ देर तक वे यौंही लेटे रहे। इतने में एक भाड़े की गाड़ी उनके मकान के हाते के भीतर आई। वकील के यहाँ लोग आते ही जाते रहते हैं। इससे गाड़ी आने की आवाज़ सुन कर महेन्द्र-नाथ चञ्चल न हुए। सिर्फ़ आँखें खोल कर देखने लगे कि कौन आता है।

उन्होंने सुना, बाहर एक अपरिचित आदमी पूछ रहा है—यही महेन्द्रनाथ वकील का मकान है?

"हाँ बाबू।"

"ख़बर दो, बाबू के दामाद आये हैं।"

महेन्द्रनाथ 'दामाद' शब्द सुनते ही झट उठ खड़े हुए।

खिड़की की झिलमिली उठा कर देखा, हाथ में मोटी लाठी लिये एक पँचहत्था जवान खड़ा है। गाड़ी के भीतर से गाड़ीवान बन्दूक़ का बक्स निकाल रहा है।

महेन्द्रनाथ को लाठी-बन्दूक़ का हाल पहले ही मालूम हो चुका था। इससे उन्होंने बिना सोचे समझे पुकारा—"कोई है रे!" यह कहते कहते वे बाहर बरामदे में आकर खड़े हुए।

उनकी क्रोधभरी मूर्ति देख कर बेचारा शरद सकपका गया। महेन्द्रनाथ ने ज़ोर से गरज कर कहा—पाजी, चोर, साले, भागो यहाँ से, अभी भागो। जब कहीं दाल न गली तो अब मेरे घर डाका डालने आये हैं! इतने बड़े शहर में साले को और कोई न मिला, मुझी को ससुर बता कर ठगने आया है। चोट्टा! बदमाश! गुंडा!

बाबू को ललकार कर बोलते देख वहाँ कई एक नौकर-चाकर और दरबान आदि आ गये। महेन्द्रनाथ ने हुक्म दिया—साले को मार कर निकाल दो। गर्दनिया देकर हाते के बाहर कर दो।

मालिक की आज्ञा पाकर नौकरों ने शरच्चन्द्र पर आक्रमण करना चाहा। यह देख कर शरद ने लाठी घुमाई और कहा—ख़बरदार! हाम अभी चला जाता हय, लेकिन जो हाम को छुएगा उसका हड्डी हाम चूर चूर कर डालेगा।

शरद की विशालमूर्ति और मोटी लाठी देख नौकर-चाकर डर कर खड़े हो रहे।

शरच्चन्द्र ने महेन्द्र बाबू की ओर लक्ष्य कर के कहा—आप भूलते हैं। मैं आप का जामाता शरद हूँ।

यह सुनते ही महेन्द्रनाथ क्रोध से आग बबूला हो कर बोले—

चोट्टा कहीं का ! साले ! तुम ससुर को पहचानता है, और हम अपने दामाद को नहीं पहचानता ? मेरे जमाई का चेहरा ऐसा ही गुंडे का सा है ? भागो यहाँ से, अभी यहाँ से निकल जाओ नहीं तो हम अभी पुलिस में भेजेंगे—

शरद ने इस पर कुछ कहना उचित न समझ गाड़ी के भीतर बैठ कर गाड़ीवान से कहा—चलो स्टेशन ।

———

छठा परिच्छेद ।

शरद बाबू के चले जाने पर हल्ला ठंडा पड़ गया । महेन्द्रनाथ तम्बाकू पीकर भीतर गये ।

उनकी गृहिणी ने उन्हें देख कर कहा—आपने आज कुछ नशा तो नहीं खाया है ? जमाई को मार पीट कर निकाल दिया !

महेन्द्रनाथ ने गम्भीरतापूर्वक कहा—तुम किसको जमाई समझ रही हो ? वह तो कोई ठग या गुंडा था ।

"आपने कैसे जाना कि वह ठग है ?"

तब महेन्द्रनाथ ने चौसर खेलने के समय केदारनाथ की बैठक में जो कुछ सुना था, सब कह सुनाया ।

गृहिणी—अच्छा, तो इससे यह कैसे साबित हुआ कि वह कोई ठग है । आप दोनों का एक ही नाम है, दोनों ही वकील हैं । शायद वे धोखे से उनके यहाँ चले गये हों ।

स्त्री के मुँह से यह युक्ति सुन कर महेन्द्रनाथ कुछ सोच में पड़ गये । वे लाठी और बन्दूक देख कर ही घबरा गये थे ।

इन बातों को अच्छी तरह सोच विचार कर देखने का उन्हें अवसर नहीं मिला।

कुछ सोच कर महेन्द्रनाथ ने कहा—यदि दामाद होता तो ख़बर देकर आता। हम लोग स्टेशन पर उन्हें लाने को जाते। आने की न कोई ख़बर न बात, क्या इस तरह कभी जमाई पहली दफ़े ससुराल आता है? वह ज़रूर कोई ठग था।

"क्यों, उनके आने की बात न थी? आने की बात तो थी ही। दशहरे के पहले ही वे आने वाले थे, यह हम लोग जानती थीं। सिर्फ़ यही न मालूम था कि किस तारीख़ को आवेंगे।"

पिता के ऊपर यह संकट देख कुञ्जबाला ने कहा—वह शरद नहीं था, मैंने भी उसे देखा था।

महेन्द्रनाथ ने कहा—क्या तूने भी उसे देखा था? अच्छा, बता कहाँ से देखा?

कुञ्जबाला—जब बाहर शोर-गुल होते सुना तब मैंने कोठे पर जाकर खिड़की से देखा। हमारे शरद बाबू तो मक्खन के पुतले हैं। यह तो एक हट्टा-कट्टा जवान था।

महेन्द्रनाथ बड़े आश्वस्त होकर बोले—तू ठीक कहती है। यह बात मैंने उसके मुँह पर ही कह दी थी कि क्या मैं अपने जमाई को नहीं पहचानता? उसका चेहरा क्या ऐसा काशी के गुंडे का सा है? उसका दिव्य शरीर कमल सा चेहरा क्या भूलने का है? विवाह के समय एक ही दिन मैंने उसे देखा था, इससे क्या एकदम इतनी भूल होगी?

इस तरह आपस में बात चीत हो ही रही थी, कि एक नौकर ने आकर कहा—बाबू, तार आया है।

तार पढ़ने से महेन्द्रनाथ का मुँह सूख गया। यह वही कल वाला बारह आने का तार है जिसे शरद बाबू ने भेजा था।

गृहिणी ने पूछा—क्या ख़बर है?

महेन्द्रनाथ नितान्त दोषी की भाँति सिटपिटाकर क्षीण स्वर से बोले—ख़बर तो अच्छी है। तार शरद का ही भेजा हुआ है। तो वह जमाई ही था।

गृहिणी—तो अब उनके लौटाने का कुछ यतन कीजिएगा या योंही वीरता प्रकट कर बैठे रहिएगा।

महेन्द्रनाथ—मैं ख़ुद जाता हूँ। यहाँ से जाते समय उन्होंने गाड़ीवान से स्टेशन चलने को कहा था। अभी तो कलकत्ता जाने की कोई ट्रेन नहीं है। जान पड़ता है, गाड़ी की प्रतीक्षा में वे अभी स्टेशन पर बैठे होंगे। जाता हूँ, विनय करके लौटा लाता हूँ।

* * * *

घर वालों ने सोचा था कि शरद इस घटना के कारण साली-सलहजों से ठट्ठा करके पूरा पूरा बदला लेंगे। किन्तु शरद ने लौटकर एक दिन भी उस बात का ज़िक्र तक नहीं किया। जो भूल उनके ससुर से होगई है, उसके लिए घर भर के लोग लज्जित और अनुतप्त हैं। इसी को शरद बाबू अपनी मान-हानि का भरपूर बदला समझते हैं। सिर्फ़ एक दिन उन्होंने महेन्द्रनाथ घोष का ज़िक्र निकल आने पर कहा—जो हो, दूसरे की ससुराल में जाने से जैसा आदर सत्कार हुआ था वैसा बहुतों का अपनी ससुराल में भी नहीं होता।

चालाक चाचा।

पहला परिच्छेद।

भादों का महीना है। साँझ हो चुकी है। चूड़ामणि चक्रवर्ती भीतरी दालान में चटाई पर बैठे हुक्का पी रहे हैं। भीतर उनके वृद्ध ज्येष्ठभ्राता रोग-शय्या पर पड़े हैं। वे ज्वर से पीड़ित हैं, अभी डाक्टर आने वाले हैं।

चूड़ामणि और चद्रकान्त दोनों भाई हैं। ये नैहाटी के निकट चन्द्रदेवपुर गाँव में रहते हैं। ये मध्यम अवस्था के गृहस्थ हैं। न विशेष धनी हैं, न ग़रीब। किन्तु लोग कहते हैं कि वृद्ध चन्द्रकान्त के पास नक़द दस हज़ार रुपया है। इसे कोई ग़प समझता है और कोई सच्ची बात। किन्तु किसी ने आज तक वह रुपया अपनी आँखों नहीं देखा। वह रुपया लोहे के जिस सन्दूक़ में है या नहीं है, उसी को सब ने देखा है। वृद्ध के शयनगृह में रक्खा है। वृद्ध उस घर में रहते और सन्दूक़ को सदा अपने सामने रखते हैं। उनका पुत्र नवकुमार पश्चिमोत्तर प्रदेश में कहीं नौकरी करता है। उसने कई बार चाहा कि अपने वृद्ध पिता को वहाँ अपने साथ ले जाय, किन्तु वृद्ध महाशय कभी जाने को राज़ी नहीं हुए। लोग कहते हैं कि वे सन्दूक़ को छोड़ कर कहीं जाना पसन्द नहीं करते।

चूड़ामणि चुपचाप बैठे तम्बाकू पी रहे हैं। इतने में डाक्टर की लालटेन की रोशनी आँगन में पड़ी। डाक्टर ने उसारे के नीचे खड़े होकर पूछा—चक्रवर्ती महाशय, क्या समाचार है?

चक्रवर्ती ने हुक्के को नीचे रख कर कहा—डाक्टर साहब! आइए, आइए। समाचार अच्छा है। अब भी बेहोशी है। ज्वर का वेग बहुत तेज़ था न, पर नाड़ी की गति अच्छी है। ऊपर आइए, एक बार अपनी आँख से देख लीजिए।

चूड़ामणि किवाड़ खोल कर डाक्टर को दालान के भीतर ले गये। रोगी की शय्या के समीप चिराग़दान पर एक मिट्टी का दिया टिमटिमा रहा था। एक लम्बे चौड़े तख़्तपोश के ऊपर मैले बिछौने पर वृद्ध रोगी पड़ा है। उसके पैताने बैठी उसकी पतोहू सावित्री रोगी के तलुवे में हल्दी का सफ़ूफ़ मल रही है। इन लोगों को भीतर आते देख सावित्री ने घूँघट काढ़ लिया। चूड़ामणि चक्रवर्ती ने चिराग़ को ज़रा तेज़ कर दिया। डाक्टर ने वृद्ध की नाड़ी देखी। थर्मामीटर से ज्वर के ताप-क्रम की जाँच की। रोगी को अच्छी तरह देखभाल कर कहा—अब भी बुख़ार बहुत तेज़ है। वह फ़ीवर-मिक्सचर पिलाते जाते हो न?

सावित्री ने घूँघट से ढँके हुए सिर को हिला कर सूचित किया—पिलाया जाता है।

डाक्टर ने कहा—"आज रात भर वही दवा दी जाय। भगवत्कृपा होगी तो सवेरा होते होते ज्वर जाता रहेगा।" यह कह कर डाक्टर साहब बाहर आये। चूड़ामणि भी उनके पीछे पीछे दर्वाज़े तक गये।

डाक्टर ने पूछा—नवकुमार को बीमारी की ख़बर दी गई है?

"नहीं दी गई। कोई चिन्ता की बात नहीं। भाई अच्छे हो जायँगे। बीच बाच में उन्हें इस तरह कई बार होता है, फिर आराम हो जाता है। नवू को ख़बर दी जाय तो वह दौड़ा-

दौड़ घर आवेगा। आने-जाने में पूरा ख़र्च पड़ेगा, इसी लिए ख़बर नहीं दी।

डाक्टर बाबू—देखिए, अब की बार लक्षण अच्छा नहीं जान पड़ता। आज पाँच दिन से ज्वर एक सा बना है। कमज़ोरी बहुत बढ़ गई है। ज्वर टूटने के समय सँभल जायँ तो सँभल जायँ।

चूड़ामणि—नहीं, नहीं। मैं इनके स्वभाव से भली भाँति परिचित हूँ। अभी इन्हें कुछ न होगा। आप की दवा से शीघ्र अच्छे हो जायँगे।

डाक्टर—"उमर बुढ़ापे की है, इसी का डर है।" यह कह कर डाक्टर धीरे धीरे चले गये।

डाक्टर ही की बात सच हुई। सवेरा होते होते वृद्ध के देह-पिञ्जर से प्राण-पक्षी उड़ गया। मृत्यु के दो एक मिनट पूर्व उन्हें एक बार चेत हुआ था। तब उन्होंने सिर्फ़ इतना ही कहा था कि—नबू—नबू आया है?

* * * *

घर में रोने-पीटने का हल्ला मच गया। पड़ोस के लोग क्रमशः आकर इकट्ठे होने लगे। सब लोग आश्वासन देने लगे—गये तो अच्छा ही हुआ। उनकी उम्र हो चुकी थी। तुम लोगों के लिए सब कुछ रख गये हैं। उन्होंने अपनी ज़िन्दगी में अपना सब हौसला पूरा कर लिया। तुम लोगों के सामने उनका चोला बदल गया, यह उनका सौभाग्य ही कहना चाहिए। अफ़सोस इतना ही था कि नबू न आया। वह पास रहता तो अच्छा था। मरते समय उन्होंने नबू को न देखा।

मृतक के संस्कार की तैयारी होने लगी। वहाँ सत्यानन्द

नाम का एक युवा खड़ा था। वह नवकुमार का हार्दिक मित्र था। चूड़ामणि ने उसका हाथ पकड़ कर कहा—बाबू, तुम नबू को तार दे दो, मेरे हाथ-पैर इस समय काम नहीं देते।

सत्यानन्द ने कहा—"अच्छा, मैं आफ़िस जाते समय स्टेशन से तार दे दूँगा।" सत्यानन्द कलकत्ते में नौकरी करता है। रोज़ नौ बजे की ट्रेन से आफ़िस जाता है।

दूसरा परिच्छेद।

वह सारा दिन शोक ही में बीता। साँझ होने पर सब लोग दूध पीकर सो रहे। चूड़ामणि स्त्री-रहित हैं। वे अकेले एक घर में सोये। धीरे धीरे रात गहरी हुई। सर्वत्र सन्नाटा छा गया। कहीं कोई शब्द सुनने में नहीं आता। सभी लोग निद्रा देवी की गोद में अचेत पड़े हैं। केवल चूड़ामणि चक्रवर्ती अपने बिछौने पर पड़े पड़े करवटें बदल रहे हैं। जान पड़ता है, सब से बढ़ कर शोक इन्हीं को हुआ है। शोक है या आतङ्क—यह नहीं कह सकते। दो निकट सम्पर्कीय वृद्धों में एक के मरने से दूसरे को सहज ही एक प्रकार का भय उत्पन्न होता है। उसके मन में यह सोच समाता है कि अब मेरी बारी आई। कुछ दिन में मेरी भी यही गति होगी।

जब रात खूब गहरी हुई तब चूड़ामणि धीरे धीरे बिस्तर से उठे। अँधेरे में टटोलते टटोलते बहुत ही हलके हाथ से अपने कमरे के किवाड़ खोल कर खाली पैर बाहर आ खड़े हुए। एक तो अँधेरी रात थी दूसरे आकाश मेघ से ढँका था, इससे चारों

ओर घोर अन्धकार छाया था। बाहर मैदान में एक गीदड़ बोल उठा। चूड़ामणि कुछ देर चुपचाप खड़े रहे। इसके बाद पैरों की आहट बचा कर धीरे धीरे दालान के उसारे की ओर गये। जिस कमरे में उनके बूढ़े भाई रहते थे, जहाँ कल रात को उनके बूढ़े भाई की मृत्यु हुई है, उस कमरे में आज ताला लगा हुआ है। चूड़ामणि धीरे से ताला खोल कर उसमें घुसे। भय से उनका कलेजा काँपने लगा, छाती धड़कने लगी। हाय रे भ्रातृस्नेह! मालूम होता है, इतनी रात को भाई शोकाकुल होकर उनीदी आँखों से बड़े भाई की एक बार मृत्यु-शय्या देखने और आँसू बहाने के लिए आये हैं!

चूड़ामणि चक्रवर्ती ने बड़ी सावधानी से घर का द्वार बन्द करके दियासलाई बाल कर चिराग़ जलाया। फिर वे पूर्व-कथित लोहे के सन्दूक़ के पास गये। उन्होंने सन्दूक़ पर से टूटा हुआ छोटा सा काठ का कैश-बक्स, एक जीर्ण शीर्ण महाभारत की पोथी, और कई एक ख़ाली शीशियों को उतार कर सन्दूक़ को खोल लिया। सन्दूक़ के भीतर से छोटी छोटी कई पोटलियाँ निकालने के बाद सब के नीचे से काग़ज़ का एक पुलिन्दा निकाला जो कई परत कपड़ों से मज़बूती के साथ बँधा था। खोल कर देखा तो उसमें नोट थे। देखते ही उस धुँधली रोशनी में, उस मृत्यु-गृह में, चूड़ामणि के काले मुख-मण्डल के बीच श्वेत दन्त-पंक्ति की छटा—काली घटा में बिजुली की भाँति—चमक उठी।

चूड़ामणि ने और सब वस्तुओं को झटपट फिर यथास्थान रख कर सन्दूक़ बन्द कर दिया। उसके ऊपर महाभारत की पोथी, टूटा बक्स और दवाई की शीशियाँ पूर्ववत रख दीं; फिर

चिराग़ बुझा कर द्वार में ताला लगा दिया। इसके बाद अपने शयन-गृह में चले आये।

अपने कमरे का दरवाज़ा बन्द कर के चिराग़ जला कर चूड़ामणि चक्रवर्ती बिछौने पर बैठे। तकिये के नीचे से चशमे को निकाल कर लगाया; फिर पुलिन्दा खोल कर नोटों को देखने लगे। सभी नोट दस दस रुपये के थे। उनमें एक भी सौ, पाँच सौ, या हज़ार का नोट न था। उन्होंने पुलिन्दे से एक नत्थी खोल कर सावधानी से गिन कर देखा—एक एक में सौ नोट थे। ऐसी ऐसी दस नत्थियाँ थीं, दसों में एक एक सौ नोट थे। गिनती में पूरे दस हज़ार रुपये हुए।

चूड़ामणि को एक बार गिनने से तृप्ति न हुई। वे वारंवार नोटों को गिन कर देखने लगे। इसी तरह गिनते गिनते सवेरा हो गया। तब उन्होंने नोटों के पुलिन्दे को उसी तरह कपड़े में बाँध कर अपने सन्दूक़ में बन्द कर दिया। इसके बाद चिराग़ बुझा कर वे घर के बाहर आये। देखा, सूर्य्योदय होने में अब विलम्ब नहीं है। दो एक कौवे इधर उधर काँव काँव कर रहे हैं। चूड़ामणि लोटा लेकर घर से निकले और ग्राम के बग़ीचे से हो कर तालाब के किनारे गये। उस समय भी कोई मनुष्य कहीं देख न पड़ा। चूड़ामणि ने झट कमर से भैया के लोहे के सन्दूक़ की कुंजी निकाल कर ज़ोर से तालाब के बीच में फेंक दी। इसके बाद हाथ-मुँह धो कर और लोटे में पानी भर कर वे धीरे धीरे घर लौट आये।

———

तीसरा परिच्छेद।

आज नौ बजे की गाड़ी से नवकुमार परदेश से घर पहुँचा। उसके घर आते ही फिर एक बार क्रन्दन का कोलाहल हो उठा। यह सुन कर पड़ोसी लोग आकर समझाने लगे। सब ने करुण स्वर में कहा—नबू! रो मत, चुप हो जा बाबू! माँ-बाप क्या सदा जीते रहते हैं? तुम्हारे बाप की जगह अब यही चाचा जी हैं।

पड़ोसी लोग जब जाने लगे तब आपस में कहने लगे—देखो, चूड़ामणि चक्रवर्ती का चेहरा एक ही दिन में कैसा हो गया है? बुढ़ापे का शोक! एक ही दिन में आँखें धँस गई हैं। मालूम होता है कि जैसे बहुत दिन का रोगी हो।

एक ने कहा—भाई का शोक ऐसा ही होता है। बेचारा सूख कर काँटा हो गया है।

दूसरे ने कहा—चूड़ामणि भी अब भाई के शोक से बहुत दिन न बचेगा।

किन्तु चूड़ामणि के शरीर की शिथिलता, चेहरे की उदासी और आँखों की दुर्दशा का कारण है सारी रात का जागरण और मन के आँगन में शैतान की धूम, पर यह कोई न जान सका।

नवकुमार ने दोपहर को चाचा के साथ बैठ कर हविष्य भोजन किया। भोजन करने के बाद चूड़ामणि चटाई पर बैठ कर हुक्का पीने लगे। नवकुमार उनके पास चुपचाप बैठा था। चाचा जी ने कहा—श्राद्ध की और ब्रह्म-भोज की सामग्री का प्रबन्ध तो अभी से करना होगा। कुछ रुपया-पैसा लाये हो?

नवकुमार—मेरे पास रुपया पैसा कहाँ? पिता जी के सन्दूक़ से कुछ निकल आवे तो काम चले।

"तो देखो—शायद कुछ हो।"

"कुंजी?"

"कुंजी! कुंजी कहाँ है—मैं नहीं कह सकता। शायद बहू को दे गये हों। उससे पूछो तो।"

नवकुमार ने सावित्री से जाकर पूछा। उसने कहा—मुझको तो कुंजी नहीं दे गये। मरते दम तक कुंजी उनकी कमर में डोरे से बँधी थी। शायद चाचा जी ने खोल ली होगी।

"नहीं, उन्होंने तो कहा है, मालूम नहीं कुंजी कहाँ है।"

नवकुमार ने यह बात चाचा से आ कर कही। उन्होंने कहा—ठीक है। कुञ्जी उनकी कमर में रही होगी। पर मैंने उस पर लक्ष्य नहीं किया। भूल से वह उन्हीं के पास रह गई जो अब उनकी चिता में भस्म हो गई होगी।

नवकुमार ने ज़रा रुखाई से कहा—उस पर आपने ध्यान नहीं किया? कुञ्जी लेना आप एकदम भूल गये?

चूड़ामणि चाचा हुक्क़े को नीचे रख कर, रोनी सूरत बना कर, लड़खड़ाती ज़बान से बोले—अरे बेटा, उस समय मेरे मन की अवस्था क्या रुपये-पैसे की बात सोचने या कुञ्जी लेने लायक़ थी? मुझ पर जो बीत रही थी वह मैं ही जानता हूँ। तुम लोग होते तो अलबत्ता सब कुछ कर सकते।

नवकुमार ज़रा चुप रहा। चाचा को हुक़्क़ा पी कर जाते देख उसने कहा—तो अब क्या होगा?

चाचा—होगा क्या? लोहार को बुला कर सन्दूक़ खुलवाना होगा।

लोहार बुलवा कर सन्दूक़ खुलवाया गया। सन्दूक़ से सिर्फ़

तीस बत्तीस रुपया नक़द और नवकुमार की स्वर्गीया माता के पहनने का सोने-चाँदी का कुछ पुराना ज़ेवर निकला।

यह देख कर नवकुमार सिर थाम कर बैठ रहा। उसके मन में भी यह दृढ़ धारणा थी कि पिता जी के सन्दूक़ में दस हज़ार रुपया है। उसके मन में चाचा पर सन्देह हुआ। चाचा ने सन्दूक़ से रुपया निकाल कर दबा रक्खा है। पर इसका कुछ सही-सबूत तो था नहीं।

नवकुमार खुले हुए सन्दूक़ के सामने बैठ कर सोच कर रहा था, इसी समय चूड़ामणि चाचा ने आ कर पूछा—क्यों, कुछ मिला?

सन्दूक़ से जो कुछ निकला था वह नवकुमार ने चाचा को दिखला दिया और उनसे पूछा—सन्दूक़ में दस हज़ार रुपया था सो क्या हुआ?

चूड़ामणि चकित हो कर बोले—कितना रुपया?

"दस हज़ार"।

चाचा का चेहरा उतर गया। उन्होंने झूठी हँसी हँस कर कहा—दस हज़ार रुपया? तुम पागल हो, दस हज़ार रुपया उनके पास कहाँ से आया?

नवकुमार—"कहाँ से आया" यह मैं नहीं जानता। परन्तु सब लोग कहते थे कि इस सन्दूक़ में दस हज़ार रुपया है।

"लोगों के कहने से क्या होता है? भाई जी तो बराबर कहते थे कि उनके हाथ में एक पैसा भी नहीं है। पच्छिम से तुम जो कुछ रुपया-पैसा कभी कभी भेज दिया करते थे उसी से वे घर का ख़र्च चलाते थे और ख़र्च से जो कुछ बच जाता था उसे

जमा करते जाते थे ! अयँ–दस हज़ार रुपया ! बेटा, दस हज़ार रुपया जमा करना साधारण बात नहीं है।"

नवकुमार बेचारा क्या करता। चुप हो रहा। चाचा के ऊपर जो उसे सन्देह और क्रोध हुआ था उसे मन ही मन दबा कर उसने ठीक समय पर पिता का श्राद्ध आदि किया। इसके कुछ ही दिन बाद उसकी छुट्टी पूरी हो गई। उसके पास इतनी पूँजी न बच रही जो कुछ दिन वह और घर पर रह सके। आख़िर उसने अपनी नौकरी पर जाने ही का विचार किया। अब तक वह अपनी स्त्री को पिता की सेवा-शुश्रूषा के लिए घर पर छोड़े हुए था। अब सावित्री को वह अपने साथ पच्छिम ले जायगा और वहीं रक्खेगा। चलते समय वह स्त्री से कह गया कि दशहरे की तातील अब क़रीब ही है। इस अरसे में हम मकान का प्रबन्ध करके देवी-पूजा के समय घर आकर तुमको ले जायँगे।

चौथा परिच्छेद।

नवकुमार घर से चल कर पहले कलकत्ते गया। उसे कुछ सोने-चाँदी का पुराना ज़ेवर बेचना था और कुछ कपड़े आदि आवश्यक वस्तुएँ ख़रीदनी थीं। बहूबाज़ार से ले कर बड़े बाज़ार तक दिन भर घूम फिर कर उसने ढाई सौ रुपये में कुल गहने बेच डाले। बड़े-बाज़ार के एक मारवाड़ी की दूकान में बैठ कर उसने कुछ कपड़े मोल लिये। उसकी पाकेट-बुक में नोट थे। दाम देने के लिए पाकेट-बुक निकालनी चाही। देखा,

पाकेट-बुक ग़ायब—नोटों का कहीं पता नहीं । मालूम नहीं गिरह-कट ने कब पाकेट-बुक चुरा ली । बेचारा हाथ मल कर रह गया ।

विपत्ति पर विपत्ति ! उस पाकेट-बुक में उसका रिटर्न टिकट भी था, ढाई सौ रुपये के नोट थे, कुछ पुरानी चिट्ठी-पत्रियाँ थीं—सब के सब एक साथ चले गये ।

दूकानदार को कपड़े लौटा कर नवकुमार डेरे पर लौट आया । उसने पञ्जाब-मेल से आज अपनी नौकरी पर जाने का विचार किया था । किन्तु अब उसके पास इतने रुपये भी न बच रहे कि नया टिकट लेकर वह जा सके ।

उसने सोचा, कल सत्यानन्द आवेगा तो आफ़िस में उस से भेंट कर कुछ रुपया उधार लूँगा । दुःख-शोक के मारे म्रियमाण होकर नवकुमार ने किसी तरह रात बिताई । सबेरा हुआ तो भी वह चारपाई पर पड़ा ही रहा । उसी स्थान के एक मोटे बाबू एक दैनिक समाचार-पत्र हाथ में लिये आये और बोले—नव-कुमार बाबू ! देखिए, ईश्वर जो कुछ करते हैं अच्छे ही के लिए करते हैं । कल जो आपकी पाकेट-बुक चोरी गई थी उसे आप एक विशेष मङ्गलमय घटना समझिए ।

नवकुमार ने चौंक कर कहा—क्यों, क्या कुछ नया समाचार है ?

स्थूलकाय बाबू ने पढ़ कर सुनाया—कल रात में पंजाब-मेल आसनसोल के समीप मालगाड़ी से लड़ गई । एञ्जिन के समीप की दो तीन गाड़ियाँ, जो मुसाफ़िरों से भरी थीं, चूर चूर हो गईं । गाड़ी से कूदने के कारण ड्राइवर सख़्त घायल हो अस्पताल में पड़ा है । यात्रियों में छः की लाश पाई गई है, बाइस

सांघातिक रूप से आहत हैं। उन लोगों के बचने की कम आशा है। मृत-व्यक्तियों की सूची देखिए—

इसमें नवकुमार चक्रवर्ती का भी नाम है।

मोटे बाबू ने कहा—कहिए, कैसी भयानक ख़बर है? क्या आप भी मर गये हैं?

नवकुमार—जान पड़ता है, मेरे नाम का कोई और होगा?

युवक ने हँस कर कहा—"आप भी तो कल रात की ट्रेन से जाने वाले थे, कौन जाने कहीं भूत बन कर यहाँ आये हों"—यह कह कर वे चले गये।

यह समाचार सुन कर नवकुमार को दो एक बातें सूझीं। उसने सबेरे मुँह-हाथ धोया और भोजन कर सत्यानन्द से कुछ रुपया उधार ले आसनसोल चला गया।

वहाँ जाकर उसने थाने में खोज की। दारोग़ा से पूछा—यहाँ जो एक आदमी नवकुमार चक्रवर्ती मर गया है, उसका नाम आप को कैसे मालूम हुआ?

दारोग़ा ने कहा—उस के पाकेट से यह पाकेट-बुक निकली है।

यह नवकुमार ही की पाकेट-बुक थी। उसमें उसका नोट, चिट्ठी और रिटर्न टिकट सब कुछ थे। उसने जो अनुमान किया था वही हुआ। वही गिरहकट उठाईगीरा मारा गया है। पाप का ऐसे लगे हाथ प्रतिफल मिलना आज कल संयोग ही से देख पड़ता है।

दारोग़ा ने पूछा—आप कौन हैं?

"मैं नवकुमार का एक मित्र हूँ।"

दारोग़ा—लाश का क्या होगा? तहक़ीक़ात के बाद हमने न्यूज़-पेपरों को टेलीग्राम कर दिया है। लाश का रिश्तेदार कोई आकर जलाने का बन्दोबस्त करेगा तो करेगा नहीं तो हम उसे गड़वा देंगे।

नवकुमार ने एक बार सोचा—ज़मीन में गाड़ दिया जाय तो क्या हर्ज़ है। फिर उसने तर्क किया, यदि ख़बर पाकर चाचा जी आजायँ तो लाश देखते ही समझ सकेंगे कि यह लाश मेरी नहीं है।

इस लिए उसने दारोग़ा से लाश जलाने की अनुमति चाही। दारोग़ा ने कहा—यह रुपया, पैसा? लाश का वारिस कौन है?

"उसकी स्त्री है, चाचा है। वारिस उसकी जोरू होगी। इसके चाचा को ख़बर दी ज़ाय तो वे आकर रुपया ले जायँगे।"

दारोग़ा ने उसके चाचा का पता-ठिकाना लिख लिया। लाश को जला कर नवकुमार कलकत्ते लौट आया। मोटे बाबू ने नवकुमार से पूछा—कहिए, क्या ख़बर है?

नवकुमार ने गम्भीर-भाव से कहा—मैं वहाँ जाकर देख आया। मैं नहीं, कोई और ही शख़्स था।

बाबू ने कहा—यह अच्छा ही हुआ।

दूसरे दिन नवकुमार ने आफ़िस जाकर सत्यानन्द से भेंट की। उसने सत्यानन्द की ज़बानी सुना कि "यद्यपि देहात में दैनिक समाचार-पत्र नहीं जाता है तथापि लोगों के मुँह से तुम्हारे घरवालों ने तुम्हारा मृत्यु-संवाद सुन लिया है।" वह सत्यानन्द के साथ देर तक कुछ गुप्त परामर्श करके स्थान को लौट आया।

पाँचवाँ परिच्छेद।

साँझ का समय है। चूड़ामणि बैठक में चटाई पर बैठे हुक्का पी रहे हैं। पड़ोस के दो चार बूढ़े उनके पास बैठे हैं। कल नवकुमार का श्राद्ध हो गया है। वृद्ध का श्राद्ध जिस आडम्बर से होता है वैसा युवक का नहीं होता। चूड़ामणि आसनसोल से मृत-व्यक्ति के जो ढाई सौ रुपये के नोट लाये थे उसमें से केवल पचास रुपया उन्होंने नवकुमार के श्राद्ध में ख़र्च किये और बाक़ी दो सौ रुपये नवकुमार की विधवा को दे दिये।

सावित्री जब सधवा थी तब उसके सौभाग्य की जो सर्वत्र प्रशंसा थी उसमें अब आघात लगा। जिस दिन उसने स्वामी के मरने का संवाद सुना उस दिन वह दिन भर रोती पीटती रही। रात को सत्यानन्द की स्त्री ने आकर उसे बहुत समझाया। दूसरे दिन से वह मुँह उदास किये रहती थी, किन्तु विधवा होने पर जैसा अमङ्गल-वेष चाहिए वैसा उस का न देख पड़ता था। वह रोज़ दोपहर को सत्यानन्द की स्त्री के पास जाती थी। इस अवस्था में इस तरह महल्ले में घूमना क्या उसके लिए उचित था ? हिन्दुओं के घर में ऐसी स्वेच्छाचारिणी विधवा तो प्रायः देखने में नहीं आती। पड़ोस की स्त्रियाँ जहाँ तहाँ उसका चबाव करने लगीं।

एकत्रित वृद्धगणों में हुक्का नियमित रूप से घूमने लगा। दो-एक बार हुक्के को गुड़गुड़ा कर एक दूसरे के हाथ में देता है, पर कोई कुछ बोलता नहीं। सब के चेहरे पर उदासी छाई है। बीच बीच में कोई आप ही आप बोल उठता है—"संसार अनित्य है। सब माया है। सर्वं मिथ्या मरणसमये धर्म एको

सहायः ।" कोई कहता है—नवकुमार बड़ा अच्छा था, आज कल वैसा सुशील युवक प्रायः देखने में नहीं आता।

नवकुमार की मृत्यु पर इसी तरह सभी शोक प्रकट कर रहे थे, इतने में बाहर किसी के दौड़ने का शब्द सुन पड़ा। एक मिनट में चुल्हाई नौकर हाँफते हाँफते बैठक के भीतर आया। भय से उसका शरीर थर थर काँप रहा था। उसने ऊपर की ओर दम खींचते खींचते सिर्फ़ दो बार कहा—"मालिक मालिक!" उसके मुँह से और कोई शब्द न निकला। वह बेहोश हो कर गिर पड़ा।

सभी लोग उसकी दशा देख कर डर गये। मूर्च्छा हटाने के लिए अनेक उपचार कर उसे होश में लाये। बड़ी देर में जा कर वह सचेत हुआ। तब लोगों ने उससे पूछा—क्यों रे चुल्हाई, तुझे क्या हो गया था?

चुल्हाई ने भय से काँप कर कहा—राम, राम, क्या कहूँ। भूत देखा है।

उनमें जिस वृद्ध ने बाल्यकाल में कुछ अँगरेज़ी पढ़ी थी उसने कहा—धत् तेरे की, भूत देखा है? भूत है कहाँ जो देखेगा! भ्रम हुआ है, भ्रम।

चुल्हाई ने आँखें फाड़ कर कहा—क्या कहते हैं आप? भूत नहीं है? बाबू इस पोखर के पास की बँसवारी में चल कर देखिए तो।

बहुत शङ्का-समाधान के बाद चुल्हाई ने कहा—मैं अभी कुछ देर पहले पोखर में बर्तन माँज कर लौटा आ रहा था तब पोखर के ईशान-कोण में बँसवारी के भीतर अँधेरे में देखा कि न जाने कौन सिर से पाँव तक सारा शरीर सफ़ेद कपड़े से

ढँके हुए है और धीरे धीरे टहल रहा है। जब वह मेरे नज़दीक पहुँचा तब उसका चेहरा ठीक नवकुमार के ऐसा देख पड़ा। उसने सानुनासिक स्वर में कहा—"एँ चुल्हाईं, एँक बाँर चाँचाँ जी कों मेरें पाँस भेंज दों।" यह सुनते ही मैं कुल काँसे-पीतल के बर्तनों को वहीं छोड़ कर जान लेकर भाग आया हूँ।

यह सुन कर चाचा चूड़ामणि ईश्वर का स्मरण करने लगे। उन्होंने भयभीत होकर पूछा—तुमने ठीक देखा है?

"ठीक नहीं तो क्या बेठीक देखा है मालिक! अरे दादा! अब मैं साँझ को कभी बर्तन मलने पोखर पर न जाऊँगा। मेरे माँ-बाप के पुण्य से आज मेरी जान बच गई।"

पूर्वोक्त नास्तिक-प्रकृति के वृद्ध ने कहा—"चक्रवर्ती महाशय! क्या आप इसकी बात पर विश्वास करते हैं? इस नशाख़ोर ने असावधानी से बर्तन फोड़ डाला है इसी से यह झूठी बात बना कर यहाँ कहने आया है कि जिसमें आप इस पर नाराज़ न हों।" किन्तु कहते समय उनकी छाती धड़क रही थी।

पड़ोसी लोग क्रमशः उठ कर अपने अपने घर गये। चूड़ामणि को सारी रात चिन्ता और भय से नींद न आई। चुल्हाई की बात को झूठ कह कर लोगों ने उड़ा दिया था किन्तु दूसरे दिन से महल्ले के अच्छे अच्छे लोग आकर चूड़ामणि को ख़बर देने लगे कि किसी ने पोखर के घाट पर, किसी ने फूटे शिवालय के समीप और किसी ने और ही जगह नवकुमार को देखा है। महल्ले भर में भूत का हल्ला मच गया। लोग रात को अकेले बाहर जाने में शङ्कित होने लगे। पूर्वोक्त नास्तिक वृद्ध साँझ होने के बाद अब बाहर जाते आते दिखाई नहीं देते। अन्यान्य वृद्धगण चूड़ामणि चक्रवर्ती की बैठक में आकर कहने लगे—

शास्त्र का वचन कभी मिथ्या होने का नहीं। अपमृत्यु हुई है न? तब तो ऐसा होना ही चाहिए। कुशल इतना ही है कि बेचारा भूत हो कर भी किसी को सताता नहीं। आप गया जाकर उसे पिण्ड दे दीजिये जिससे इस भूत-योनि से उसका उद्धार हो जाय।

चूड़ामणि एक दिन शाम को पोखर के घाट से मुँह-हाथ धोकर पानी से भरे लोटे को हाथ में ले बाग़ के भीतर होकर घर आ रहे थे। सहसा एक श्वेतवस्त्र से ढकी मूर्ति उनके सामने आ खड़ी हुई। मुँह के सिवा उसका सारा बदन सफ़ेद कपड़े से ढका था। उसने अपना परिचय देने की इच्छा से कहा—चाँचाँ जीं—वँह दँस हँज़ार रुँपयाँ—

इतना सुनते ही चाचा जी का जी उड़ गया। वे लोटे को वहीं फेंक कर राम, राम करते हुए घर की ओर प्राण लेकर भागे।

दूसरे दिन अमावस थी। आज साँझ होने के बाद वे घर से न निकले। नौ बजे रात को भोजन कर के सो रहे। वे गाढ़ निद्रा में निमग्न थे—सर्वत्र सन्नाटा छाया था। क़रीब आधी रात के समय शरीर में किसी के ठंढे हाथ का स्पर्श होने से चाचा जी की आँख खुल गई। वे चौंक कर आँख बन्द किये ही बोले—कौन है?

उस अन्धकारमय घर में शब्द हुआ—मैं हूँ नँवकुँमाँर।

सुनते ही चाचा की नींद एकदम उचट गई। वे मारे डर के काठ की भाँति पड़े रहे।

भूत ने कहा—वँह दँस हँज़ार रुँपयाँ जँब तँक तुँम मेरी स्त्रीं को नँ दोंगे तँब तँक मैं रोँज़ तँक़ाज़ा कँरने आँऊँगा। रोँज़ आँऊँगा, रोँज़ आँऊँगाँ।

यह कह कर नवकुमार चुप हो रहा। चाचा जी जल्दी जल्दी ऊपर को दम खींचने लगे। उनकी आँखें मुँद गईं। दाँत पर दाँत बैठ गये। मूर्च्छा का पूर्व रूप उपस्थित हुआ। तब नवकुमार ने बरफ़ की पोटली उठा कर बाहर फेंकी और खुली खिड़की की राह धीरे धीरे बाहर निकल गया। बाहर कुछ दूर पर सत्यानन्द उसके आने की प्रतीक्षा कर रहा था।

दूसरे दिन सन्ध्या समय सत्यानन्द ने आफ़िस से लौट कर नवकुमार को ख़बर दी कि चाचा चूड़ामणि चक्रवर्ती नौ बजे की ट्रेन से कलकत्ते गये थे। सावित्री के नाम से दस हज़ार रुपये का कम्पनी का काग़ज़ ख़रीद लाये हैं। सत्यानन्द ने पूछा था—"यह रुपया कहाँ से आया?" चड़ामणि ने कहा—रुपया मेरे भाई जी ही का था। लोग कहते थे कि उनके पास दस हज़ार रुपया है, सो यह बात झूठ न थी। किन्तु यह रुपया उनके लोहे के सन्दूक़ में नहीं मिला। कल रात को मैंने उनका एक पुराना टीन का बक्स खोल कर देखा, उसमें कपड़े से बँधा हुआ दस हज़ार रुपये के नोटों का पुलिन्दा मिला। देख कर मुझे हर्ष के साथ साथ विषाद भी बहुत हुआ। हाय! इस समय यदि नबू जीता रहता तो पिता का सञ्चित धन पाकर कितना ख़ुश होता! ख़ैर, इस रुपये से उसकी विधवा का समय तो सुख से कटेगा। बाबू! मैं ऐसा अधर्मी नहीं हूँ कि दूसरे का रुपया हज़म कर जाता।

इसके अनन्तर नवकुमार ने कलकत्ते जाकर चाचा के पास एक पत्र भेजा। पत्र का संक्षिप्त वृत्तान्त यही है कि यह सुन कर मुझे बड़ा खेद हुआ कि लोगों ने झूठ मूठ मेरी मृत्यु की अफ़वाह उड़ा दी, जिससे मेरा श्राद्ध तक हो चुका है। किन्तु ईश्वर की कृपा से मैं अब तक जीता जागता हूँ। किसी काम से अन्यत्र

गया था । आगामी रविवार को मैं घर आऊगा और एक दिन रह कर अपनी स्त्री को साथ ले पश्चिम की यात्रा करूँगा ।

* * * *

नवकुमार ने घर आकर सुना कि चाचा चूड़ामणि एक आवश्यक कार्यवश दूसरे गाँव को गये हैं । चाचा से नवकुमार की भेट न हुई । वह अपनी स्त्री को लेकर पश्चिम को चल दिया ।

बड़ों का कहना नहीं माना।

पहला परिच्छेद।

डाक्टर बोस सिविल-सर्जन हो कर जब हुगली में आये उसके दो ही महीने बाद सुना गया कि उनकी कन्या प्रभावती का ब्याह कालिज के अध्यापक दिवाकर बाबू के साथ होगा।

इसके कुछ ही दिन बाद देखा गया कि रविवार और अन्यान्य छुट्टियों के दिन सवेरे ये दोनों प्रणयी (प्रभा और दिवाकर) दो बाइसिकिलों पर चढ़ कर बाहर घूमने जाया करते हैं।

प्रभा और दिवाकर ने हुगली के चारों ओर की बस्तियों के भीतर, पैरगाड़ी के परिभ्रमण का, अपूर्व दृश्य दिखा कर ग्रामवासियों को चकित कर दिया। बङ्गाली की लड़की को बाइसिकिल पर चढ़ कर पुरुष के साथ घूमते देख बढ़े लोगों ने निश्चय किया कि अब घोर कलिकाल आ गया। निठल्ले युवकों ने परस्पर विचार कर इस घटना पर खासी टीका-टिप्पणी कर के समाचार-पत्रों में लेख भेजा। युवतियाँ घूँघट के भीतर से इस घटना को अपनी आँखों देख कर आपस में कहने लगीं— "धन्य है यह लड़की, इसके माँ-बाप को धन्य कहना चाहिए।" किन्तु ये ताने की बातें प्रभा और दिवाकर के कान तक पहुँचने का कोई सुयोग न था। वे केवल परस्पर के निरन्तर सुख-भोग ही में व्यग्र थे। उन दोनों को दुनिया के लोगों से कोई मतलब न था।

दो महीने और यों ही बीतने पर प्रभावती और दिवाकर के ब्याह की तारीख़ नियत हुई—अँगरेज़ी नये साल की पहली जनवरी। डाकृर बोस चाहते थे कि हुगली ही में लड़की का ब्याह हो जाय पर उनकी धर्मपत्नी को यह पसन्द न था। वह चाहती थीं कि कलकत्ते के मकान में लड़की की शादी हो। ऐसा न होने से विशेष आनन्द-उत्सव न होगा। डाकृर बोस ने पहले मुलायमियत के साथ कुछ उज्र् कर कहा—"कलकत्ते जा कर लड़की की शादी करने में बहुत खर्च पड़ेगा।" परन्तु गृहिणी ने इस आपत्ति की परवा न की। इन बातों में स्त्री ही की राय अटल रहती है। सो यहाँ भी गृहिणी ही की बात रही। डाकृर बोस को हार मान कर स्त्री की इच्छा के अनुसार चलना पड़ा।

कलकत्ते जा कर ब्याह होने की बात सुन कर प्रभावती और दिवाकर ने एक नई सलाह कर रक्खी है। वह जैसी अद्भुत है वैसी ही आफ़त में डालने वाली भी है। उन दोनों ने विचार किया है कि अन्यान्य लोगों के साथ रेलगाड़ी से न जा कर बाइसिकिल से ही कलकत्ते जायँगे। किन्तु गुरुजन यह विचार सुन कर प्रसन्न न हुए। प्रभा और दिवाकर के सामने एक दिन घर के लोगों ने इस विषय की आलोचना की। किसी की राय न हुई कि ये लोग पैरगाड़ी से कलकत्ते जायँ। शुभ-कामना में बाधा पड़ते देख प्रभावती की आँखों में आँसू भर आये। उसकी यह दशा देख लोगों ने दिवाकर बाबू से पूछा—"प्रभा तो अभी नासमझ लड़की है, आप क्या कहते हैं?" हाय, प्रेम भी कैसी विचित्र वस्तु है। उसके फेर में पड़ कर कालिज के अध्यापक की भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। दिवाकर ने मुस्कुरा कर कहा—आप लोग जो एक भविष्यत् विपत्ति की आशङ्का कर रहे हैं

उसका कोई कारण नहीं देख पड़ता। गङ्गा के किनारे किनारे बहुत बढ़िया सड़क है। जाड़े के समय प्रातःकाल धूप भी कुछ कष्टप्रद न होगी। रेलगाड़ी में चुपचाप मरीज़ की भाँति हाथ पैर मोड़ कर जाना होगा। बाइसिकिल की सवारी में यह बात नहीं है।

प्रभा की माँ ने कहा—मान लो रास्ते में कोई कष्ट न होगा, पर तुम लोग क्या ठीक समय पर पहुँच सकोगे? कभी न पहुँच सकोगे। यहाँ से दधि-मङ्गल (दही और चिउड़ा खा) करके चलना होगा। कलकत्ते जाकर देह में हल्दी-तेल लगाया जायगा। क्या नौ दस बजे तक कलकत्ते पहुँच सकोगे? पैरगाड़ी से जाने का विचार छोड़ दो।

इतना समझ लेना चाहिए कि यद्यपि ये लोग नई सभ्यता के पक्षपाती हैं तथापि विवाह-सम्बन्धी आपत्ति-विहीन पुरानी रीति की रक्षा करने की इन्हें उत्कण्ठा है। दधिमङ्गल के समय शंख बजाने के लिए कलकत्ते से प्रभावती की बहन कमलिनी आई है।

दिवाकर ने कहा—कलकत्ता यहाँ से कुल छब्बीस मील होगा। हम लोग नौ दस बजे के पूर्व ही पहुँच जायँगे।

कमलिनी ने कहा—जो बड़ों की बात नहीं मानते वे पीछे पछताते हैं।

यह सुन कर प्रभावती ने अपनी बहन को रोष-भरी दृष्टि से देखा। उसके नेत्रों में यदि इस समय जल के बदले आग रहती तो उसकी बहन शीघ्र ही जल कर ख़ाक़ हो जाती, इसमें सन्देह नहीं।

आख़िर कन्या-वर की रुचि देखकर लोगों ने उन्हीं के मत का अनुमोदन किया। प्रभावती की आँसू-भरी आँखों में हँसी की झलक दिखाई देने लगी।

दूसरा परिच्छेद।

आज जनवरी की पहली तारीख़ है। आज ही प्रभा और दिवाकर का ब्याह होगा। कुछ रात रहते ही बोस परिवार के सब लोग जाग उठे। दधिमङ्गल इसी समय होगा। पहले अनेक आपत्तियाँ दिखा कर भी दिवाकर, प्रभावती के साथ, दधिमङ्गल की विधि करने को राज़ी हुए हैं।

सब सामान ठीक है। दिवाकर के आने भर की देर है। कुछ ही देर में दिवाकर की बाइसिकिल की घंटी बजी। उन्होंने अपना ज़रूरी असबाब नौकर के हाथ स्टेशन पर भिजवा दिया है।

कमलिनी ने हँसकर कहा—पहले वर-कन्या का दधिमङ्गल अलग अलग होता था।

माँ ने कहा—तू ने ही तो ज़िद करके उन्हें बुलाया है। अब फिर ऐसी बात क्यों कहती है?

दिवाकर—देखिए तो एकदम ऐसी बेइन्साफ़ी! इन्होंने मुझ को एकान्त में बुलाकर कहा था कि 'मेरे ब्याह के समय मुझे अकेली ही दधिमङ्गल की विधि करनी पड़ी थी, जिसका दुःख अब तक मन में बना है। मेरी कोई बड़ी बहन न थी, जो मुझे वर के साथ बिठा कर मेरा दधिमङ्गल कराती। मेरा वह मनोरथ प्रभावती को वर के साथ दधिमङ्गल करते देख कर पूर्ण होगा,' किन्तु अभी ये दूसरी ही बात कर रही हैं।

कमलिनी ने आश्चर्य के साथ कहा—मैंने कहा है? भला मैंने यह बात तुम से कब कही है?

दिवाकर—आप ने नहीं कहा?

कमलिनी—कभी नहीं।

दिवाकर—न कहा होगा किन्तु मैंने आपका चेहरा देख कर अनुमान कर लिया था। आप के मन में ठीक ऐसा ही था।

यह सुन कर सब लोग हँसने लगे। कमलिनी ने कहा—तुम में यह अद्भुत शक्ति है। क्या मनुष्य का मुँह देख कर, उसके मन की बात बता सकते हो?

दिवाकर—बड़ी आसानी से।

कमलिनी—"अच्छा, मेरे मन में अभी क्या है, बताओ?" यह कह कर वह गम्भीर भाव धारण कर उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी।

दिवाकर ने उससे भी बढ़कर गम्भीर भाव धारण कर पाकेट से चशमा निकाल कर लगा लिया। फिर बड़े ग़ौर से झुक कर कमलिनी का मुँह देखने लगे। अच्छी तरह देख भाल कर कहा—सच कहूँ या झूठ?

कमलिनी—सच।

दिवाकर—आप के मन में यही बात है कि कब कलकत्ते पहुँचूँगी और कब एक विशेष-व्यक्ति से भेंट होगी।

(कमलिनी के स्वामी उन दिनों कलकत्ते में थे।)

कमलिनी ने कहा—नहीं नहीं, तुम नहीं समझे। मेरे मन में था कि तुम बड़े भारी गधा हो।

दिवाकर ने अत्यन्त विनय की मुद्रा कर के कहा—अहा! मुझे आप इतना बड़ा क्यों समझने लगीं, मैं तो एक छोटा सा जीव हूँ।

फिर हँसी की धूम मच गई। इसी तरह हास्य-विनोद के साथ साथ दधिमङ्गल की विधि समाप्त हुई।

इतने में पाँच बज गये। छः बजे सवेरे कलकत्ते को ट्रेन रवाना होती है। उसी ट्रेन से सब लोग कलकत्ते जायँगे। बाहर घोड़ागाड़ी खड़ी है।

सब लोग जाने के लिए तयार हो बाहर बरामदे में आये। प्रभा की माँ ने दिवाकर से कहा—तुम लोग ख़ूब सावधाना से जाना, जिसमें मार्ग में कहीं किसी तरह का टंटा न हो। जहाँ तक हो जल्दी ही पहुँचने की कोशिश करना। आठ बजे के पूर्व ही वहाँ पहुँचना ठीक होगा। जब कलकत्ते पहुँचोगे तब तेल हल्दी की रस्म होगी। तुम्हारे घर से तेल आवेगा, हल्दी आवेगी, दही आवेगा, मछली आवेगी और खीर भी। वही हल्दी-तेल लगा कर प्रभा को आज स्नान करना होगा और उसी खीर-मछली का भोजन। रास्ते में कुछ खाना मत। जब तक तेल-हल्दी की रस्म न हो लेगी तब तक कुछ खाने न पाओगे।

कमलिनी—सिर्फ़ तेल, हल्दी, मछली, दही क्यों आवेगा? उसके साथ साथ दिवाकर भी आवे।

दिवाकर—मेरा क्या काम?

कमलिनी—तुम भार-वाहक हो कर आना। इनाम मिलेगा।

यों ही हास्यालाप करते करते सब गाड़ी में बैठे। गाड़ी स्टेशन को रवाना हुई। तब भी प्रभा की माँ खिड़की से मुँह निकाल कर पुकार कर कहने लगी—"ख़ूब सावधानी से जाना।" कमलिनी को यह कहते सुना—"जो गुरुजन की बात नहीं मानते वे पीछे—" आगे उन लोगों ने और क्या कहा यह सुनाई न दिया, तब तक गाड़ी फाटक से बाहर निकल गई।

तीसरा परिच्छेद।

धीरे धीरे उजेला होने लगा। दिवाकर को अकेले छोड़ प्रभा यात्रा के लिए तैयार होने गई। कई मिनट बाद वह सुसज्जित होकर बाहर आई। दोनों अपनी अपनी बाइसिकिल लेकर बरामदे के नीचे पुष्पोद्यान में आ खड़े हुए।

तब भी प्रकाश की मात्रा में कुछ कमी थी। बाग़ में देशी-विलायती अनेक प्रकार के फूल खिले थे। दूर का फूल तब भी साफ़ साफ़ नज़र न आता था। उनकी सुगन्धि मात्र का अनुभव होता था। प्रभा और दिवाकर दोनों इस उद्यान में देर तक खड़े रहे।

रवाना होने के पूर्व दिवाकर ने बड़े स्नेह से प्रभा के दोनों हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—प्रभा! आज हम लोग कहाँ जा रहे हैं?

प्रभा के मन में यह उत्तर आया कि "सुख-समुद्र में तैरने" किन्तु लज्जा के मारे उसके मुँह से यह बात न निकली। उसने समीप-स्थित एक पेड़ से शिशिर-सिक्त प्रस्फुटित गुलाब का फूल तोड़ कर दिवाकर के कोट में लगा दिया। दिवाकर ने प्रेम से पुलकित हो उसके अधर का चुम्बन कर मौखिक धन्यवाद न देकर हार्दिक धन्यवाद की सूचना दे दी।

धीरे धीरे प्रकाश बढ़ने लगा। अब दूर दूर की वस्तुयें भी दिखाई देने लगीं। दोनों बाइसिकिल पर चढ़ कर द्रुतगति से रवाना हुए।

हुगली शहर की सीमा पार करते देर न लगी। इस रास्ते से वे इसके पूर्व कई बार आये-गये हैं। बात इतनी है कि पाँच

सात मील से अधिक कभी न गये थे। मैदान में आकर ख़ूब जाड़ा मालूम होने लगा। दोनों बाइसिकिलें बड़ी तेजी से पास ही पास जा रही हैं।

सड़क के दोनों तरफ़ क़तारबन्दी से पेड़-पौधे लगे हैं। बाँईं ओर कभी कभी गङ्गा की धार देख पड़ती है। दहिनी ओर कुछ दूर तक मैदान—उसके बाद ही रेलवे लाइन है। कुछ ही देर बाद भक् भक् करती हुई कलकत्ता जाने वाली पैसिञ्जर ट्रेन रेलवे लाइन से होकर आगे निकल गई। उसी में प्रभा के माता-पिता और अन्यान्य सम्बन्धी थे। किन्तु गाड़ी इतनी तेज़ जा रही थी कि किसी का मुँह न देख पड़ा।

क्रमशः सूर्योदय हुआ। तबजाड़े का क्लेश बहुत कुछ निवृत्त हो चला। ये दोनों अब उस रास्ते से बाहर निकले जिसका चक्कर पहले कई बार लगा चुके हैं। रास्ते में कहीं कहीं दो एक बैलगाड़ियाँ आती जाती दिखाई देने लगीं। रेलवे-लाइन अब नहीं देख पड़ती। किन्तु गङ्गा का प्रवाह अभी समीप ही है। कितने ही गाँव, घर, बाग़, मैदान, जो आगे देख पड़ते हैं वे—कुछ ही देर में इन दोनों द्रुतगामी बाइसिकिल के सवारों के पीछे रह जाते हैं।

धूप अब अच्छी तरह निकल आई। जाड़ा दूर होने के साथ साथ एक और असुविधा मालूम होने लगी। सूर्य ठीक मुँह के सामने पड़े। धूप से प्रभा का चेहरा लाल हो गया। इस असुविधा की बात इसके पूर्व प्रभा या दिवाकर के मन में न आई थी। नये प्रणयी भविष्यत् की विपत्ति सोच कर कोई काम थोड़े ही करते हैं?

जब वे दोनों पन्द्रह-सोलह मील रास्ता तय कर चुके तब

सामने की धूप से प्रभा को विशेष कष्ट होने लगा। उसका प्रसन्न मुख-मण्डल जलविहीन कमल की भाँति कुम्हला गया। यह देख कर दिवाकर अच्छी तरह समझ गये कि प्रभा को कष्ट हो रहा है। किन्तु प्रभा इस बात को कब स्वीकार करेगी ? यदि करेगी भी तो कष्ट-निवारण का उपाय ही क्या है ?

जब मारे प्यास के प्रभा का कण्ठ सूखने लगा तब वह चुप न रह सकी। उसने दिवाकर से कहा—"बड़ी प्यास लगी है। दिवाकर ने कहा—"पास ही गङ्गा है। बाइसिकिल यहीं रख कर चलो हम-तुम गङ्गातट से जल पी आवें।" उस राह से एक ग्वाले का लड़का जा रहा था। इनाम के लालच से वह दोनों बाइसिकिलों की रक्षा के लिए खड़ा रहने को राज़ी हो गया।

प्रभा और दिवाकर बाइसिकिल से उतर कर गङ्गातट की ओर चले। खेत के बीच से होकर जो पगडंडी गङ्गा-किनारे गई थी, उसी राह से इन दोनों ने जाना सुगम समझा। कुछ देर में दोनों गङ्गा किनारे पहुँच गये। ठीक घाट के ऊपर एक बहुत बड़ा आम का बाग़ है। बाग़ की शोभा देखते हुए दोनों नीचे उतरे। घाट से ज़रा हट कर एक पत्थर पड़ा था जिसका आधा हिस्सा पानी में और आधा ऊपर था। उसी पर बैठ कर प्रभा और दिवाकर ने मुँह-हाथ धोया और अञ्जलि भर भर कर गङ्गाजल पिया। दोनों के हृदय-प्राण शीतल हुए, थकावट दूर हुई।

दोनों स्थिर दृष्टि से गङ्गा की शोभा देखने लगे। मन्द पवन के संस्पर्श से गङ्गा की धार में जो सूक्ष्म तरङ्ग चल रही है उस पर धूप पड़ने से मालूम होता है जैसे सूर्य्य की चमकती हुई किरणें उस पर नाच रही हों। धार के उस पार एक बस्ती देख

पड़ती है। दो एक नावें धारा में इधर उधर जाती दिखाई दे रही हैं।

जी ठण्डा हो जाने पर प्रभा और दिवाकर धीरे धीरे वहाँ से लौट चले। निर्जन बाग़ के भीतर से हो कर जाने लगे। किसी किसी पेड़ में नवमञ्जरी देख पड़ती है, जिस पर झुण्ड के झुण्ड भौंरे झूम रहे हैं। उसका उत्कट मद-गन्ध लेकर हवा अलग ही मस्त है। इस उद्दीपन विभाव की नवीन सृष्टि का निरीक्षण करते हुए दोनों बाग़ से बाहर हो खेत में आये। मार्ग के एक ओर अलसी-सरसों का खेत है, दूसरी ओर मटर, मसूर आदि का। परस्पर एक दूसरे का हाथ पकड़े खेत की शोभा देखते हुए जाने लगे। दिवाकर ने फूले हुए अलसी के खेत की ओर देख कर प्रभा से कहा—देखो, फूल कैसे सुन्दर दिखाई दे रहे हैं।

प्रभा—वाह ! क्या कहना है।

दिवाकर—मैं कभी कभी सोचता हूँ कि ऐसे सुन्दर फूल को हम लोगों के काव्य में कभी स्थान क्यों नहीं मिलता ?

प्रभा—अँगरेज़ी काव्य में सिर्फ़ फूलों की ख़ूबसूरती देखी जाती है। हम लोगों के काव्य में जिन फूलों का विशेष आदर है वे सभी सुगन्धयुक्त हैं। जान पड़ता है, निर्गन्ध होने के कारण ये फूल हम लोगों के काव्य में आदर नहीं पाते।

दिवाकर—सच कहती हो, सुन्दरता की ओर विशेष लक्ष्य नहीं किया गया है, सिर्फ़ सुगन्ध के ज़ोर से ही फूलों को काव्य में स्थान मिला है—जैसे मौलसिरी।

इस प्रकार गहन विषय की आलोचना करते करते दोनों प्रणयी चले। एक जगह मार्ग के समीप खेत में मटर की छीमियाँ

फली थीं। प्रभा ने तोड़ कर कुछ आप खाईं और कुछ दिवाकर को दीं।

जब ये दोनों सड़क पर आये तब जो कुछ देखा उससे दोनों की अक्ल पर पत्थर पड़ गये। ग्वाले का लड़का सड़क के किनारे बैठा रो रहा है, उसकी नाक से लोहू बह रहा है। प्रभा की पाँवगाड़ी है, दिवाकर की नहीं।।

लड़के ने रोते रोते कहा—एक पल्टनिया-गोरा इस रास्ते से जा रहा था। वह ज़बरदस्ती एक बाइसिकिल छीन कर ले गया। मैंने रोका था, इससे मेरी नाक पर एक ऐसा घूँसा मारा कि मैं गिर पड़ा।

दिवाकर ने उत्तेजित स्वर में पूछा—किस तरफ़ गया?

लड़के ने उँगली से हुगली की तरफ़ का रास्ता दिखा दिया और कहा—अभी बहुत दूर न गया होगा, अभी अभी तो गया है।

"तुम कुछ देर यहाँ ठहरो, मैं देखता हूँ।" प्रभा से यह कह कर दिवाकर झट प्रभा की बाइसिकिल पर चढ़ कर तीर की तरह उस तरफ़ दौड़े।

तीन चार मिनट में ही इन्होंने बाइसिकिल के चोर को देख लिया। लाल कुर्ता पहने एक गोरा बाइसिकिल दौड़ाये लिये जा रहा है।

उसको देखते ही दिवाकर ने द्विगुण वेग से उसका पीछा किया। देखते ही देखते वे उसके पास पहुँच गये। मालूम होता है, गोरा अपने को शत्रु के हाथ से बेखटके समझ मस्ती से चला जा रहा था। दिवाकर ने अँगरेज़ी में ख़ूब ज़ोर से चिल्ला-कर कहा—ठहरो, बदमाश!

यह अतर्कित शब्द सुन कर गोरे ने तुरन्त पीछे की ओर घूम कर देखा । बाइसिकिल चलाने में होशियार न होने के कारण हो, किंवा मार्ग में ईंट आदि बाधक-पदार्थ की ठोकर लगने के कारण हो, वह उसी समय बाइसिकिल समेत धड़ाम से गिर पड़ा ।

दिवाकर अपनी बाइसिकिल को वहीं सड़क पर छोड़ बाघ की तरह उछल कर उस पर टूट पड़े ।

वह उजड्ड जंगली गोरा उठ कर ज्यों ही खड़ा हुआ त्यों ही दिवाकर ने घूँसे-थप्पड़ की मार से फिर उसे धरती पर गिरा दिया । दिवाकर ने देखा कि धरती पर गिरने से उस का सिर फट गया है जिससे खून जा रहा है । तब उन्होंने मन में सोचा कि यह न्याय-युद्ध नहीं । उसको प्रस्तुत होने के लिए समय देना चाहिए । यह सोच कर दिवाकर उसे पीटना छोड़ कुछ देर अपेक्षा करने लगे ।

गोरा फिर बदन की मिट्टी झाड़ कर खड़ा हुआ । दिवाकर ने कहा—तैयार हो ?

गोरे ने दिवाकर का जिमनास्टिक और डम्बल किया हुआ कठोर और सबल हाथ देख कर कहा–"माफ़ करो, बहुत हुआ । लड़के के मुँह से सुना था कि बाबू की बाइसिकिल है । बाबुओं में कोई ऐसा भी ज़बरदस्त साहसी है यह मैं न जानता था ।" यह कह कर वह बेचारा लँगड़ाता लँगड़ाता हुगली की ओर रवाना हुआ ।

अब तक दिवाकर की दृष्टि अपहृत बाइसिकिल पर न गई थी । अब उन्होंने देखा, बाइसिकिल बीच से टूट गई है, दोनों पहिये दो तरफ़ पड़े हैं । पहिये भी टेढ़े मेढ़े हो गये हैं ।

दिवाकर ने कुछ देर वहाँ ठहर कर बाइसिकिल को उलट

पलट कर देखा, वह एकदम बिगड़ गई थी। अपने हाथ से मरम्मत के लायक़ न रही। उस रास्ते से एक किसान जा रहा था। बाबू ने उससे कहा—दोनों पहिये कन्धे पर रख कर कुछ दूर चल सकते हो? इनाम मिलेगा।

वह ले चलने को राज़ी हुआ। दिवाकर ने कहा—"तुम लिये आओ। यहाँ से डेढ़ दो मील पर सड़क पर जो पक्का पुल है, वहीं हम ठहरेंगे।" यह कह वे बाइसिकिल दौड़ा कर प्रभा के पास पहुँचे।

चौथा परिच्छेद।

प्रभा पुल पर एक रूमाल बिछाये चुपचाप बैठी है। ग्वाले का लड़का गङ्गा की धार से हाथ-मुँह धो आया है। प्रभा ने उसे चाकलेट (एक क़िस्म की मिठाई) दी है। वह उसी को खा रहा है।

दिवाकर ने आ कर सब हाल संक्षेप से कह सुनाया। प्रभा ने देखा कि दिवाकर के चेहरे पर चिन्ता का चिह्न है। मन अत्यन्त खिन्न है। तब उसने चतुर गृहिणी की भाँति दिवाकर के मन से रञ्ज और चिन्ता को दूर करने की कोशिश की। उसने हँस कर कहा—इसके लिए इतनी चिन्ता क्यों?

दिवाकर—अब कलकत्ते किस तरह पहुँचेंगे?

प्रभा—क्यों, हम लोग रेलगाड़ी से चलेंगे। यहाँ से स्टेशन क़रीब होगा। चलो, अब जो ट्रेन मिलेगी उसी से कलकत्ते चले जायँगे।

दिवाकर ने ग्वाले से पूछा—यहाँ से नज़दीक कौन स्टेशन है ?

चकलेट-भरे मुँह से ग्वाले ने कहा—स्टेशन ? श्रीरामपुर नज़दीक है ।

दिवाकर—यहाँ से कितनी दूर है ?

ग्वाला—दो कोस होगा ।

प्रभा ने कहा—"तो चलो, हम लोग श्रीरामपुर चलें"। इतने में वह किसान टूटी हुई बाइसिकिल लिये आ पहुँचा ।

दिवाकर ने प्रभा से कहा—क्या तुम इस धूप में दो कोस चल सकोगी ? तुमको बड़ा कष्ट होगा ।

प्रभा प्रसन्न-मुँह से उत्साह-पूर्वक बोली—कुछ कष्ट न होगा। मैं दो कोस मज़े में जा सकती हूँ ।

दिवाकर ने ग्वाले से कहा—तू किसी गाँव से पालकी-कहार का बन्दोबस्त कर ला सकता है ?

ग्वाला—हाँ बाबू, ला सकता हूँ । किन्तु गाँव दूर है, जाने-आने में दो घण्टे से कम समय न लगेगा ।

प्रभा ने कहा—नहीं, नहीं, पालकी की कोई ज़रूरत नहीं । मैं टहलते टहलते स्टेशन तक चली जाऊँगी । आप मुझे जितनी सुकुमार समझते हैं मैं उतनी कोमलाङ्गिनी नहीं हूँ । मैं पूर्व-काल की राजकुमारी की भाँति फूल की चोट से मूर्च्छित होने वाली नहीं ।

फूल की बात सुन कर दिवाकर ने अपने कोट की ओर देखा । साथ ही प्रभा की भी दृष्टि उस तरफ़ गई । प्रभा बोली—मेरा फूल क्या किया ? युद्ध में तो नहीं खो आये, वीर महाशय !

दिवाकर खेद प्रकट करते हुए बोले—हाँ ! फूल शायद उस बदमाश को पीटते समय गिर गया ।

प्रभा--"गया तो जाने दीजिए, उसके लिए खेद करने की ज़रूरत नहीं।" यह कह कर वह खेत में से अलसी के फूलों का एक गुच्छा तोड़ लाई और दिवाकर के कोट में खोंस कर बोली—आप इस फूल की बड़ी तारीफ़ करते थे। लीजिए, इसी को ग्रहण कीजिए।

अब कहीं दिवाकर के मुँह पर ज़रा हँसी का चिह्न दिखाई दिया। यहाँ ग्वाले का छोकड़ा मौजूद था इससे संकुचित हो वे 'धन्यवाद' न दे सके। सिर्फ़ प्रभा का कर-कमल अपने हाथ में लेकर स्नेह से दबा दिया।

इसी समय हुगली की तरफ़ से एक घोड़ा-गाड़ी आ रही थी। देखकर दोनों बड़े आग्रह के साथ आशा करने लगे कि अगर गाड़ी ख़ाली हो तो बड़ा अच्छा हो।

गाड़ी ख़ाली ही आ रही थी। श्रीरामपुर स्टेशन से किसी गाँव के ज़मींदार के दामाद को ससुराल पहुँचा कर वापस जा रही है।

दिवाकर ने गाड़ी को रुकवाया। गाड़ीवान ने डबल इनाम पाने की आशा से उनकी बाइसिकिलों को छत पर रख कर उन दोनों को गाड़ी में बिठा लिया। किसान और ग्वाले को इनाम दिया गया। अब श्रीरामपुर की ओर गाड़ी बड़ी तेज़ी से चली।

स्टेशन पर घोड़ा-गाड़ी के पहुँचते ही कलकत्ते जाने वाली पैसिंजर ट्रेन भी आ गई। दिवाकर गाड़ीवान को इनाम दे कर, टिकट ले, प्रभा के साथ सेकन्ड क्लास की गाड़ी में जा बैठे।

गाड़ी खुल गई। दिवाकर ने प्रभा से कहा—आज तुमको बड़ा कष्ट हुआ। खाना-पीना तो आज ख़ूब हुआ है न! तुम्हारा मुँह एक दम सूख गया है।

प्रभा ने हँस कर कहा—बड़ों की बात न मानने का—।

दिवाकर—यह बात तो कई दिन से सुन रहा हूँ। मेरी बात का जवाब दो। अगर भूख ज़्यादा लगी हो तो कुछ खाने की चीज़ निकालूँ।

प्रभा—भूख लगने ही से क्या होगा? अभी कैसे खाऊँगी? माँ ने चलते समय कह दिया है कि तेल-हल्दी के पहले कुछ खाना नहीं।

दिवाकर—वह नियम तो एक दफ़े भङ्ग हो चुका।

प्रभा ने अचम्भे में आकर पूछा—कब?

दिवाकर—मटर-मसूर के खेत में।

प्रभा—तुमने खाते समय मुझे याद क्यों न दिला दिया?

दिवाकर—उलटा चोर कोतवाल को डाँटे। मुझ को ही दोष देती हो? तुम ने तो मुझे भी खिला कर मेरा नियम भङ्ग कर दिया है।

प्रभा—तुम्हारा दोष नहीं तो किसका दोष है?

दिवाकर—वाह, तुम्हारा दोष भी मैं अपना ही समझ लूँ? अभी विवाह कहाँ हुआ है!

प्रभा ने कृत्रिम रोष का भाव दिखा कर कहा—मुझ से क्या कभी कोई दोष हो सकता है? सब दोष तुम्हारा है।

यह झूठा अपवाद दिवाकर को अत्यन्त असह्य हो उठा। उन्होंने प्रभा को दण्ड देने के लिए, गाड़ी को जन-शून्य देख, उसके मुख को अपने वक्षःस्थल के समीप खींच लिया।

पं० रामप्रसाद वाजपेयी के प्रबन्ध से कृष्ण प्रेस, प्रयाग में छपी।

